C. No. ~~1684~~ 1208

UNIVERSITY OF MYSORE

ORIENTAL LIBRARY PUBLICATIONS

SANSKRIT SERIES No. 58

# अलङ्कारमणिहारः

श्रीमद्भिः श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालसंयमीन्द्रैः प्रणीतः

द्वितीयो भागः

# THE ALANKARA-MANIHARA

BY

Sri Krishna-Brahmatantra Parakala Swamin

PART II

EDITED BY

R. SHAMA SASTRY, B.A., M.R.A.S.

*Curator, Government Oriental Library, Mysore, Periodical Lecturer to the Post-Graduates' classes of the Calcutta University, and B. B. R. A. S Campbell Memorial Medalist*

1/2.

MYSORE

THE GOVERNMENT BRANCH PRESS

1921

015:9xM50,1 F1.2

Price Rs. 3-8-0

015:gxM52,1 1684
F1.2
Krishna-Brahmalāntra
Alankara-manihara.

015:9xM52,1
F1.2

1684

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

*****

Please return this volume on or before the date last stamped.
Overdue volume will be charged ten paise per day.

| | | |
|---|---|---|
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |
| | | |

UNIVERSITY OF MYSORE

ORIENTAL LIBRARY PUBLICATIONS

SANSKRIT SERIES No. 58

# अलङ्कारमणिहारः

श्रीमद्भिः श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालसंयमीन्द्रैः प्रणीतः

द्वितीयो भागः.

# THE ALANKARA-MANIHARA

BY

Sri Krishna-Brahmatantra Parakala Swamin

PART II

EDITED BY

R. SHAMA SASTRY, B.A., M.R.A.S.

*Curator, Government Oriental Library, Mysore, Periodical Lecturer to the Post-Graduates' classes of the Calcutta University, and B. B. R. A. S Campbell Memorial Medalist.*

MYSORE

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS

1921

015:gx M50,1
F1.2
1208

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc. No. 1684

श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य सिंहासन
ज्ञानमंदिरम्
जंगमवाड़ी मठ काशी

# विषयानुक्रमणिका.

| विषयाः. | | पुटसङ्ख्या. |
|---|---|---|
| 26. | परिकरालंकारः .... .... .... | 1 |
| | विषयविचारः .... .... .... | 4 |
| 27. | परिकराङ्कुरालंकारः .... .... .... | 5 |
| 28. | श्लेषालंकारः .... .... | 10 |
| | प्रकृतानेकविषयः श्लेषः .... | 10—22 |
| | अप्रकृतानेकविषयः श्लेषः .... | 22—25 |
| | प्रस्तुताप्रस्तुतयोः श्लेषः .... | 25—114 |
| | सभङ्गाभङ्गभेदेन श्लेषनिरूपणम् .... .... | 114 |
| | वर्णश्लेषः .... .... .... | 115 |
| | पदश्लेषः .... .... .... | 119 |
| | लिङ्गश्लेषः .... .... .... | 120 |
| | भाषाश्लेषः .... .... .... | 127 |
| | विभक्तिश्लेषः .... .... .... | 129 |
| | प्रकृतिश्लेषः .... .... .... | 143 |
| | प्रत्ययश्लेषः .... .... .... | 155 |
| | वचनश्लेषः .... .... .... | 159 |
| | सभङ्गाभङ्गश्लेषयोरलंकारत्वसमर्थनम् .... | 167 |
| | मतान्तरेण श्लेषनिरूपणम् .... .... | 168 |
| | विचारः .... .... .... | 176 |
| 29. | अप्रस्तुतप्रशंसालंकारः .... .... | 183 |
| | अप्रस्तुतवर्णनेन प्रस्तुतावगतौ संबन्धः .... | 183 |
| | मतान्तरेणाप्रस्तुतप्रशंसा .... .... | 222 |

| विषयाः | | पुटसङ्ख्या. |
|---|---|---|
| 30. | प्रस्तुताङ्कुरालंकारः .... .... .... | 226 |
| | विचारः .... .... .... | 229 |
| 31. | पर्यायोक्तालंकारः .... .... .... | 234 |
| | द्वितीयपर्यायोक्तम् .... .. .... | 242 |
| 32. | व्याजस्तुत्यलंकारः .... .... .... | 243 |
| | अस्यालंकारान्तरसंकीर्णत्वम् ... .... | 245 |
| | अस्यैव लक्षणान्तरम् .... .. | 248 |
| 33. | व्याजनिन्दालंकारः .... .... .... | 250 |
| 34. | आक्षेपालंकारः .... ... .... | 254 |
| | आक्षेपप्रकारान्तरम् .... .... .... | 262 |
| 35. | विरोधोलंकारः .... .... .... | 268 |
| | विरोधभेदाः .... .... .... | 268 |
| | जातेर्जातिगुणक्रियाद्रव्यैर्विरोधः .... .... | 269 |
| | गुणस्य गुणक्रियाद्रव्यैर्विरोधः .... .... | 271 |
| | क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां विरोधः .... .... | 274 |
| | द्रव्यस्य द्रव्येण विरोधः .... ... | 276 |
| | विरोधाभासोदाहरणानि .... .... | 278 |
| | विचारः .... .... .... | 289 |
| 36. | विभावनालंकारः .... .... .... | 291 |
| | द्वितीया विभावना .... .... .... | 294 |
| | तृतीया ,, .... .... .... | 295 |
| | चतुर्थी ,, .... .... .... | 300 |
| | पञ्चमी ,, .... .... .... | 303 |
| 37. | विशेषोक्त्यलंकारः .... .... .... | 311 |
| 38. | असंभवालंकारः .... .... .... | 320 |

श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य ज्ञानमंदिर जंगमवाडी मठ काशी




| | विषयाः. | पुटसङ्ख्या. |
|---|---|---|
| 39. | असंगत्यलंकारः .... .... .... | 322 |
| | अत्राक्षेपस्य समाधानम् .... .... | 329 |
| | द्वितीयासंगतिः .... .... .... | 330 |
| | तृतीयासंगतिः .... ... .... | 334 |
| | विचारः .... .... .... | 339 |
| 40. | विषमालंकारः .... .... .... | 340 |
| | द्वितीयविषमम् .... .... .... | 343 |
| | तृतीयविषमम् .... .... .... | 353 |
| 41. | समालंकारः .... .... .... | 436 |
| | द्वितीयसमम् .... .... .... | 453 |
| | तृतीयसमम् .... .... .... | 457 |
| 42. | विचित्रालंकारः .... .... .... | 469 |
| 43. | अधिकालंकारः .... .... .... | 472 |
| | द्वितीयाधिकम् .... .... .... | 475 |
| 44. | अल्पालंकारः .... .... .... | 476 |
| 45. | अन्योन्यालंकारः .... .... .... | 479 |
| 46. | विशेषालंकारः .... .... .... | 480 |
| | द्वितीयविशेषः .... .... .... | 482 |
| | तृतीयविशेषः .... .... .... | 483 |
| 47. | व्याघातालंकारः .... .... .... | 486 |
| | द्वितीयव्याघातः .... .... .... | 489 |
| 48. | कारणमालालंकारः .... .... .... | 491 |
| 49. | एकावल्यलंकारः .... .... .... | 496 |
| 50. | मालादीपकालंकारः .... .... .... | 499 |

ज्ञानमंदिरम्
जंगमवाड़ी मठ काशी

## अशुद्धशोधनम्

| पुटे | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| 3 | 9 | स्तृभ्यः | स्तुभ्यः |
| 6 | 9 | वाच्याप | वाच्योप |
| 8 | 1 | घतनमः | घनतमः |
| 10 | 16 | तस्मित् | तस्मिन् |
| 11 | 6 | रङ्ख | रङ्ग |
| 12 | 16 | भगत्पक्ष | भगवत्पक्ष |
| 13 | 5 | भगद्दिव्या | भगवद्दिव्या |
| 13 | 22 | भगत्पाश्च | भगवत्पाश्च |
| 17 | 8 | कम्मिता | कम्पिता |
| 19 | 5 | भौमा | भौमो |
| 19 | 16 | रद्दितः | रहितः |
| 20 | 4 | ब्रह्या | ब्रह्मा |
| 20 | 24 | र्यप्रि | यप्रि |
| 21 | 24 | त प्रिय | ते प्रिय |
| 21 | 25 | विधुर | विधुर |
| 25 | 16 | मञ्जृ | मञ्जु |
| 25 | 20 | द्यृक्तेः | द्युक्तेः |
| 25 | 23 | घणी | घृणी |
| 26 | 1 | द्यृक्तेः | द्युक्तेः |
| 27 | 11 | सजात | संजात |
| ” | ” | ‘तद’ | ‘तद- |

| पुटे. | पङ्क्तौ. | अशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|---|---|---|---|
| 28 | 11 | माधगत | मधिगत |
| 30 | 7 | दुद्गता | दुद्गता |
| 34 | 10 | श्रित | श्रितः |
| 36 | 2 | विघ्न | विघ्नः |
| 36 | 4 | णयुण | णगुण |
| 36 | 14 | पर्युदस्तत्वा | पर्युदस्तत्वात् |
| 38 | 22 | ब्रह्माणि | ब्रह्मणि |
| 38 | 18 | विद्या | विद्या |
| 41 | 9 | जश्च | जश्चे |
| 42 | 16 | श्लेष | श्लेषः |
| 44 | 2 | एवं विध | एवंविध |
| 44 | 11 | विभु | विभु |
| 46 | 5 | प्रकृतयाः | प्रकृतयोः |
| 47 | 16 | डप | उप |
| 47 | 24 | परेणभवता | परेण भवता |
| 49 | 5 | त्यासर्वै | त्या सर्वै |
| 52 | 3 | इशः | ईशः |
| 52 | 4 | अस्मिस्पक्षे | अस्मिन्पक्षे |
| 52 | 8 | सर्रे | सर्वे |
| 52 | 22 | दखिल हेय | दखिलहेय |
| 54 | 10 | "अन्तिबाढ | "अन्तिकबाढ |
| 54 | 19 | " पत् | " पद् |
| 56 | 3 | भाष्यऽपि | भाष्येऽपि |
| 59 | 23 | ब्रह्म | ब्रह्म |

| पुटे. | पङ्क्तौ. | अशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|---|---|---|---|
| 67 | 17 | चेत | चेतः |
| 68 | 14 | ल्यप | ल्यप् |
| 69 | 8 | रत्र | रत्न |
| 69 | 13 | कल्पति | कल्पेति |
| 70 | 14 | हृस्व | ह्रस्व |
| 70 | 18 | चल | चेल |
| 72 | 4 | शब्दा | शब्दो |
| 73 | 20 | भवात | भवति |
| 76 | 19 | निश्चय | निश्चये |
| 78 | 7 | वेतृणां | वेत्तृणां |
| 79 | 21 | ,, | ,, |
| 82 | 19 | मुपलण | मुपलक्षण |
| 84 | 10 | कुशा | कुशो |
| 86 | 17 | प्रार्थनाप | प्रार्थनोप |
| 86 | 23 | दैपु | दैप् |
| 87 | 10 | वैलक्षण्य | वैलक्षण्यं |
| 125 | 15 | कल्यण | कल्याण |
| 125 | 18 | पुर्व | पूर्व |
| 136 | 23 | पगुण | प्रगुण |
| 142 | 18 | वश्चैति | वश्चेति |
| 144 | 21 | ममूह | समूह |
| 148 | 13 | तौदादिक | तौदादिकः |
| 153 | 1 | षुरा | पुरा |
| 183 | 1 | सरः | सरः (२९) |

| पुटे | पङ्क्तौ. | अशुद्धम्. | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| 194 | 22 | रमणी सर | रमणीसर |
| 216 | 1 | शुभ्र: | शुभ्रः |
| 226 | 8 | स्मित् | स्मिन् |
| 228 | 15 | श्लिष्टोवहसे | श्लिष्टो वहसे |
| 229 | 5 | प्रस्तुत | प्रत्यु- |
| 229 | 11 | प्रापृषि | प्रावृषि |
| 234 | 5 | सरः | सरः (३१) |
| 241 | 12 | गम्यत्वे ॥ | गम्यत्वे |
| 243 | 14 | सरः | सरः (३२) |
| 244 | 11 | रमेश । | रमेश |
| 255 | 7 | स्वरै | स्वैर |
| 277 | 22 | सामान्यता | सामान्यतो |
| 305 | 18 | दुर्लभः | दुर्वलः |
| 310 | 15 | प्रकारातू | प्रकारात् |
| 319 | 6 | कौभार | कौमार |
| 328 | 18 | संभवातू | संभवात |
| 339 | 13 | निन्धनात् | निबन्धनात् |
| 362 | 7 | निस्सेजस्क | निस्तेजस्क |
| 364 | 13 | पुंस्त्व | पुंस्त्वं |
| 367 | 7 | त्वद्नति | त्वद्गति |
| 389 | 2 | शलूकं | शालूकं |
| 462 | 12 | त्वद्वहु | त्वद्वाहु |
| 465 | 22 | लुभे | लेभे |

श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य सिंहासन ज्ञानमंदिरम् जंगमवाड़ी मठ काशी

श्रीः

# अलंकारमणिहारे द्वितीयभागप्रारम्भः.

## अथ परिकरालंकारसरः (२६)

### साभिप्राये परिकरोऽलंकारस्स्याद्विशेषणे ।

अत्रालंकार इत्युक्तिः दोषाभावेनैव चारितार्थ्यमिति शङ्कानिरासाय । तच्चाग्रे दर्शयिष्यते । साभिप्राये प्रकृतार्थोपपादकार्थविषयकाभिप्रायपूर्वके तथाभूतार्थव्यञ्जके इति यावत् । तथाच प्रकृतार्थोपपादकार्थव्यञ्जकविशेषणत्वं लक्षणमिति ध्येयम् । ध्वनावतिप्रसङ्गनिरासाय प्रकृतार्थोपपादकेति । हेत्वलंकारवारणाय बोधकत्वमपहाय व्यञ्जकत्वनिवेशः । वक्ष्यमाणपरिकराङ्कुरालंकारवारणाय विशेषणेति । तत्र तु विशेष्यं तथेति नातिप्रसङ्गः ॥

यथा—

**धुतमपि तव चरणरुचा नतताश्रयणाद्रमे महारजनम् । एत्य महारजतत्वं विद्युद्वर्णे तवैति सावर्ण्यम् ॥ ८०३ ॥**

विद्युद्वर्णे! हे रमे! महारजनं कुसुम्भः 'स्यान्महारजनं क्लीबं कुसुम्भः' इत्यमरः । तव चरणरुचा धुतमपि नतताश्रयणात् नम्रतावलम्बनात्—

सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः।
जानन् विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम्॥
एवमेव यदा विद्वान्मन्यतेऽतिबलं रिपुम्।
संश्रयेद्वैतसीं वृत्तिमेतत्प्रज्ञानलक्षणम्॥

इति भारताशुक्तरीत्या वैतसवृत्त्याश्रयणादिति भावः। पक्षे—महारजनमितिपदं नतताश्रयणात् नकारस्य तकारत्वाश्रयणात् नकारमपनीय तत्र तकारपठनादिति भावः। महारजतत्वं सुवर्णत्वं 'महारजतकाञ्चने' इत्यमरः। महारजतशब्दत्वमिति च। एत्य तव सावर्ण्यं एति। अत्र विशुद्धवर्णे इति विशेषणं महारजनस्य उपपादितप्रकारेण महारजततावाप्तिपूर्वकसावर्ण्यलाभार्हताभिप्रायगर्भम्॥

यथावा—

आकालिकसुखदायास्तोकानेकार्तिवर्तनीकाय।
लोकाय वराकाय श्रीकान्त ब्रह्मणोऽपि न स्पृहये॥

आकालिकं आशुविनाशि यत् सुखं तद्ददातीति तथोक्ताय समानकालावाद्यन्तौ यस्येति विग्रहः 'आकालिकडाद्यन्तवचने' इत्याशुविनाशिन्यर्थे समानकालशब्दाट्ठक्। समानकालशब्दस्याकालादेशः 'आकालाट्ठंश्च' इति ठन्वा। अस्तोकाः अनेका आर्तिवर्तन्यः पीडामार्गाः यस्मिंस्तथोक्ताय। अन्यत्सुगमम्. अत्रानेकानि लोकस्य विशेषणान्यतिहेयताभिप्रायगर्भाणि॥

यथावा—

अरिवर्गलुलितहृदयं दुरितच्छुरितं दुरन्तविपदुदयम्। करिवरद कृपासिन्धो त्वरितं मामुद्धरेश नतबन्धो॥८०५॥

अत्रानेकान्यहमर्थविशेषणान्यतिदीनत्वेन दयनीयत्वाभिप्रायगर्भितानि। अनेकानि च भगवद्विशेषणानि भक्तवत्सलतया तदुद्धरणावश्यकताभिप्रायगर्भितानि ॥

यथावा—

नाचकथं रामकथां नाररचं भारतं च भूरितरम् । नाचकलं भागवतं नाथ कथं तावकस्तवस्येशे ॥८०६॥

कथरचकलास्त्रयो धातवश्चुराद्यन्तर्गणे कथादावदन्तेषु पठिताः । तेभ्यस्स्वार्थणिजन्तेभ्यः कर्तरि लुङि 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि णेरग्लोपित्वात् 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इत्यत्रानग्लोपे इति पर्युदासात्सन्वद्भावाभावेन अभ्यासस्य 'सन्यतः' इति विहित इकारः 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घश्च न। ईशे इति ईशधातोर्लडुत्तमैकवचनम् । स्तवस्येत्यत्र 'अधीगर्थदयेशाम्' इति कर्मणश्शेषत्वविवक्षया षष्ठी । अत्र नाचकथमित्यादीनि विशेषणानि स्वस्मिन् प्राचेतसपाराशर्यसूतासाधारणकार्यनिषेधमुखेन नाहं प्राचेतस इत्याद्याकूतगर्भितानि ॥

यथावा—

नोदायिषि ज्वलनतो नोदाहार्षीश्च मत्कृते गीताम् । कोऽसाविति मम दयसे व्यासान्नाजनिषि चाहमब्जाक्ष ॥८०७॥

अत्रज्वलनतो नोदायिषीत्यादीनि विशेषणानि स्वस्मिन् द्रौपदीधनञ्जयशुकासाधारणकार्यनिषेधमुखेन नाहं द्रौपदीत्याद्याभिप्रायगर्भाणि । अत्राद्ये उदाहरणे एकं विशेषणं, समनन्तरोदाहर-

णयोः प्रत्येकं बहूनि विशेषणानि पदार्थरूपाणि एकाभिप्राय-गर्भाणि, अन्तिमोदाहरणयोः वाक्यार्थरूपाणि भिन्नाभिप्रायगर्भाणि चेति भिदा। एतेषु व्यङ्ग्यार्थसद्भावेऽपि न ध्वनिव्यपदेशः। सुवर्णस्य रमासावर्ण्यप्राप्तौ चतुर्मुखलोकस्यास्पृहणीयतायां भगवत्तद्भक्तयोरवश्योद्धर्तृतोद्धरणीयत्वयोः स्वस्मिन् दयाकरणकारणाभावे च वाच्य एवोपस्कारकत्वात्। अतएव व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यपरिकरत्वात् परिकर इति नाम अस्यालंकारस्य॥

ननु—निष्प्रयोजनविशेषणोपादाने अपुष्टार्थदोषस्य सर्वसंप्रतिपन्नतया सप्रयोजनविशेषणं दोषाभावमात्रं कष्टत्वाद्यभाववद्भवितुमर्हति न त्वलंकार इति। अत्र प्राञ्चः—एकधर्मिनिष्ठतया बहूनां साभिप्रायविशेषणानामुपादाने विच्छित्तिविशेषोऽनुभवारूढतया दुरपलप इत्यलंकारमध्ये परिगणित इति॥

अत्र दीक्षिताः—अनेकविशेषणोपन्यास एव परिकर इति न नियमः। श्लेषयमकादावपुष्टार्थस्य दोषत्वाभावात्तत्रैकस्य विशेषणस्य साभिप्रायत्वेऽप्यलंकारता दुर्निवारा। एवंच 'सुधांशुकलितोत्तंसः' इत्यत्रापि तस्यात्मलाभो न निरुध्यते। अपिच—एकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकार इति सर्वसम्मतं, तद्वदेकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्यालंकारत्वं युक्तमेवेत्याहुः॥

अन्ये तु—श्लेषाद्यतिरिक्तस्थले साभिप्रायविशेषणोपादानेन विच्छित्तिविशेषस्वीकारे तस्यालंकारत्वं दुर्वारं, अन्यथा च श्लेषादिस्थलेऽपि विच्छित्तिविशेषो नास्तीत्यपि वक्तुं शक्यम्। यदि च तत्रानुभवः प्रमाणमित्युच्यते तदाऽन्यत्रापि तत्तुल्यमिति न पृथगलंकारतेति दीक्षितमतं दूषयित्वा सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वमलंकारत्वं, चमत्कारापकर्षकाभावमात्रत्वं दोषाभावत्वं, तयोश्च

क्वचिदेकत्र समावेशेऽपि नैकेनैकस्यान्यथासिद्धिः उपधेयसंकरेऽप्युपाधेरसंकरात् । यथा ब्राह्मणस्य मूर्खत्वं दोषः विद्या तु दोषाभावो भवति गुणश्च तद्वदिहाप्युपपत्तिः । न च दोषाभावतया प्राप्तस्यापि परिकरस्य किमित्यलंकारेषु गणनागौरवमिति वाच्यम् । उभयात्मकत्वेन दोषान्तरवैलक्षण्यज्ञापनार्थतया तदुपपत्तेः । यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदतया संगृहीताऽपि समासोक्तिरलंकारगणनायां पुनर्गण्यते, यथा वा प्रासादवासिषु गणितोऽप्युभयवासी भूवासिगणनायां पुनर्गण्यते तथेहापीति न कश्चिद्दोषः । अन्यथा काव्यलिङ्गमप्यलंकारो न स्यात् । निर्हेतुरूपदोषाभावात्मकत्वादिति प्राहुः ॥

इत्यलंकारमणिहारे परिकरालंकारसरः षड्विंशः.

## अथ परिकराङ्कुरसरः. (२७)

### विशेष्यं यदि साकूतं भवेत्परिकराङ्कुरः ।

विशेष्यस्य साभिप्रायत्वे परिकराङ्कुरालंकारः ॥

यथा—

**धनुषि त्रिनयनकरजुषि पत्रीभूय त्रिविक्रम पुरा त्वम् । त्रीणि पुराण्यसुराणां सुदुराधर्षाणि भस्मसादकृथाः ॥८०८॥**

त्रिनयनशब्दः क्षुभ्नादिगणे पठितः । 'क्षुभ्नादिषु च' इति निषेधात् । 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वं न । अत्र त्रयो वि-

क्रमा यस्येति व्युत्पत्त्या योगबलात्त्रिपुराभिभवपटीयस्त्वमभिव्यञ्जयन्त्रिविक्रमेति विशेष्यं वाच्योपस्कारकतां प्रतिपद्यते ॥

यथावा—

बलिसुतबाहादशशतविदलनकृत्को विना सहस्रारम् । जलरुहकुलदलदशशतविदलनकृत्कोऽन्तरा सहस्रांशुम् ॥ ८०९ ॥

अत्र प्रधानवाक्यार्थौ दृष्टान्तालंकाररूपः । तत्र बिम्बप्रतिबिम्बरूपयोर्वाक्यार्थयोर्विशेष्यभूतौ सहस्रारसहस्रांशुशब्दौ बाहादलसहस्रविदलनधुरीणतां व्यञ्जयन्तौ वाच्योपस्कारकौ ॥

यथावा—

एष नवनीतचोरो मूषति नेत्रं मम स्वहृन्मध्येऽमुम् । सिनुयां बन्धं कथमिव धुनुयाद्दामोदरोऽयमीक्षेयाहम् ॥ ८१० ॥

एष नवनीतचोरः नन्दनन्दनः मम नेत्रं नयनं मूषति 'रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्' इत्युक्तरीत्याऽपहरति । 'मूष स्तेये' भौवादिकः । अंशुकमपहरतीत्यपि गम्यते । 'नेत्रं वस्त्रेऽक्षिण' इति रत्नमाला । अमुं एवं नेत्रहरं स्वहृन्मध्ये स्वमनोऽन्तरे सिनुयां ध्यायेयमिति यावत् । पक्षे स्वहृतां परस्वापहारिणां मध्ये सिनुयां अस्यापि चोरत्वादिति भावः । अयं एवं बन्धनं प्रापितः दामोदरः बन्धं मम भवबन्धं कथमिव धुनुयात् अहं ईक्षेय मामकभवबन्धविमोचनक्रममुष्य कीदृगिति परीक्षेयेति भावः । अथवा—स्वयमेव बद्धः कथं मम बन्धमप

नयेत् 'वद्धस्स्वयं किमु विमोचयिता बतान्यम्' इत्युक्तेरिति भावः। पक्षे-मत्कृतस्वहृन्मध्यवन्धविश्लथनस्यायं नेशीतेति भावः। अत्र नवनीतचोर इति विशेष्यं चौर्यनिष्णाततताकूतगर्भं सन्नेत्र-मूषणरूपवाच्यार्थोपस्कारकम्। दामोदर इति विशेष्यं बन्ध विश्लथनानीशताभिप्रायगर्भं सत्कथंकारं बन्धं धुनुयादिति वा-च्योपस्कारकतामश्नुते। अत्र विशेष्यद्वयं भिन्नाभिप्रायकम्॥

क्वचित्तु योगमनपेक्ष्य प्रसिद्धिबलादेव व्यञ्जकं भवति वि-शेष्यम्। यथोक्तमेकावळ्यां—'क्वचित्पुनः प्रसिद्धत्वाद्विशेष्यम-तथाभूतं प्रयुक्तमपि तथाभूतमभिप्रायमभिव्यनक्ति' इति॥

यथा—

न त्रातुं सुत्रामा सत्रारिर्विधिरपीश्वरः खलु
माम्। भवगहनगुहाशयितं नियतं मुचुकुन्दवरद
एवेष्टे॥ ८११॥

अत्र मुचुकुन्दवरद इति विशेष्यं गुहान्तरानिद्राणजनत्रा-णधुरीणतामभिव्यञ्जयति॥

यथा वा—

दूरीकृतसद्दर्शनमूरीकृतमलिनिमाऽहिशिखरी-
न्दो। दहरगुहाघनतम इह न हरसि किमिमां प्र-
विश्य चक्रधर॥ ८१२॥

हे चक्रधर! दूरीकृतं सतां ब्रह्मविदां दर्शनं येन तत्तथो-क्तम्। पक्षे सतां नक्षत्राणां दर्शनं येम तत् गुहान्तर्गतस्य घन-तमसो नक्षत्रनिर्वर्णनासंभवादिति भावः। ऊरीकृतः मलिनिमा

पाप्मा नैल्यं च येन तत्तथोक्तं, दहरगुहायाः घतनमः तत्र वि-
द्यमानस्सान्द्रस्तमोगुण एव गाढतमिस्रं मेघावृतिप्रयुक्तं तिमिरं वा। इमां दहरगुहां प्रविश्य किं न हरसि, न हरसि किमिति वा योजना। केन हेतुना न हरसि वा न जानीम इति प्राथमिकयोजनायामभिप्रायः, हरस्येवेति द्वितीययोजनायाम्। अत्र चक्रधरेति विशेष्यं चक्रस्य भास्करकोटिभास्वरतया तद्धारिणो भगवतः हृदयगुहान्तर्गतघनतमोनिर्बर्हणसौकर्यमभिप्रैति॥

यथा वा—

दूरोत्सारितदुस्सहदुरन्तदुर्वासनं विधायैव। व-
नमालिन्नामोदय ननु मानसमानतस्य मम॥८१३

अत्र वनमालिन्निति विशेष्यं दुर्वासनादूरोत्सारणपूर्वकामोदनोपपत्तिरूपमभिप्रायमाभिव्यञ्जयद्वाच्यस्योपस्कुरुते॥

यथा वा—

राम इति नाम यत्तव तामरसेक्षण सहस्रना-
मसदृक्षम्। को महिमानं गदितुं नामास्य पटु-
स्तमन्तरेणानन्तम्॥ ८१४॥

अस्य महिमानं गदितुं को नाम पटुरिति योजना। 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' इति तुमुन्। अत्रानन्तमिति विशेष्यं सहस्रशीर्षत्वमभिप्रयत्सत् 'सहस्रनामतत्तुल्यं रामनाम' इति श्रीविष्णुसहस्रनामसमानवैभवरामनाममहिमवर्णनपटुतारूपवाच्यार्थौन्मुख्यमुपैति॥

यथा वा –

तव नामसहस्रस्य स्तवनाय रमे स एक ए-
वालम्। भुवनाधीश्वरि पुरुषः पवनाशनपरिषद-
ग्रणीरथवा ॥

स पुरुषः 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इति प्रथितः परमः पुमान् एक एव तव स्तवनाय अलं समर्थः। अथवा पवनाशनपरिषदग्रणीः भुजगकुलधौरेयश्शेषः अलमिति योजना। अत्र पुरुषः पवनाशनपरिषदग्रणीरिति विशेष्यद्वयं सहस्रशीर्षत्वाभिप्रायगर्भितं सत् लक्ष्मीसहस्रनामस्तवनसमर्थतारूपवाच्यार्थपरिकरतां प्रतिपद्यते। पूर्वपूदाहरणेषु चतुर्षु एकमेव विशेष्यं साभिप्रायं, इह तु विशेष्यद्वयं तदप्येकाभिप्रायकम् ॥

यथा वा—

न हि तादृश्यभिमन्यौ विहिता भवताऽऽर्ति-
भाजि शतमन्यौ। द्विरदे यादृक्करुणा वरदेह वदा-
मि किं भवन्तमहम् ॥८१६॥

अत्र अभिमन्यौ शतमन्यौ इति विशेष्यद्वयं भागिनेयत्वेन भ्रातृत्वेन तत्रापि योगमहिम्ना अतिवेलदैन्यवत्त्वेन चावश्यादरणीयत्वं, द्विरदे इति विशेष्यं वन्यत्वेनाननुबन्धितया उपेक्षणीयत्वं, वरदेति विशेष्यं तु अविवेचितस्वपरवरदानेन मुग्धतमत्वं चाभिव्यञ्जयतीति चत्वारि विशेष्याणि भिन्नाभिप्रायगर्भाणीति पूर्वस्माद्विशेषः। अनुबन्ध्यपेक्षया अननुबन्धिन्येव त्वया परिपूर्णा कृपा व्यधीयतेति इह वदामि किं भवन्तमहमिति वाक्येनोपालम्भो द्योतितः ॥

अत्रेदं बोद्धव्यं—परिकराङ्कुरो नालंकारान्तरं भवितुमर्हति साभिप्रायपदाविन्यासः परिकर इति तं लक्षयित्वा विशेषणविशेष्यपदत्वाभ्यां तस्य द्वैविध्याभिवर्णनेऽस्य तदवान्तरभेदत्वसंभवात्। विच्छित्तिवैलक्षण्याधीनं ह्यलंकारवैलक्षण्यं, न ह्येकवाक्यगतपदसाभिप्रायत्वनिबन्धने तदस्तीति। अयं चालंकार एकावळीकारादिभिर्लक्षितः। प्राञ्चस्तु प्रकाशकारादयो नालक्षयन्नमुम्॥

इत्यलंकारमणिहारे परिकराङ्कुरसरस्सप्तविंशः.

## अथ श्लेषसरः (२८).

**वर्ण्यावर्ण्योभयालम्बी श्लेषोऽनेकार्थसंश्रयः।**

अनेकार्थशब्दाविन्यासश्श्लेषः। स च त्रिविधः—प्रकृतविषयः, अप्रकृतविषयः, प्रकृताप्रकृतविषयश्चेति। त्रिविधोऽप्ययं सभङ्गाभङ्गभेदेन पुनस्त्रिविध इति षड्विधः। तत्राद्यः प्रकारो यथा—

**अहिगिरिपतिहृदयङ्गमवृत्तिरुदन्वत्सुताधिभूर्जगताम्। शुभकृदलं नः कुरुतां परितान्तानां श्रियं भवे चरताम्॥ ८१७॥**

अहिगिरिपतिः शेषनामाद्रिवरः तस्मिन् हृदयंगमा हृद्या वृत्तिः स्थितिर्यस्य स तथोक्त इति भगवत्पक्षे। श्रीपक्षे तु अहिगिरिपतेः वेंकटाद्रिनेतुः श्रीनिवासस्य हृदयंगमा वक्षोऽधिगता वृत्तिः वर्तनं यस्यास्सेति। जगतां शुभकृत्। उदन्वत्सुतायाः

श्रियः अधिभूः नायकः, इदं भगवत्पक्षे विशेष्यम् । अन्यत्र शुभकृत् कल्याणकरी । जगतां अधिभूरिति योजना । भुवनानामधीश्वरीत्यर्थः । उदन्वत्सुता सिन्धुनन्दिनी श्रीः, इदं विशेष्यम् । अन्यत्सुगमम् ॥

यथावा --

मदीये रामेश्वरविजये रङ्गराजविलासे च चम्पूप्रबन्धे—

**हृदयेहिराजभासुरमश्नमुदारं सदा गिरां प्राप्त्यै । कलयेहितं ददानं धाम पुराणं तुरङ्गराजाख्यम् ॥ ८१८ ॥**

अहिराज एव भासुरमश्नो यस्य तं उदारं वदान्यं हितं श्रेयः ददानं, उदारमित्येतत् हितविशेषणं वा, निश्श्रेयसमिति तदर्थः । रङ्गराजाख्यं पुराणं धाम तुशब्दोऽवधारणे 'स्युरेवं तु पुनर्वै वेत्यवधारणवाचकाः' इत्यमरः । धामैवेत्यर्थः । सदा गिरां प्राप्त्यै हृदये चित्ते कलये ध्यायामि । अन्यत्र हृदये इत्यत्र हृत् अये इति च्छेदः । हीति भिन्नं पदं प्रसिद्ध्यर्थकम् । अये हृत् ! हे हृदय! राजभासुरं चन्द्रबिम्बे प्रकाशमानं चन्द्रवद्विशदमिति वा । अश्न मुदा अरं इति छेदः । कलया अल्पकालेनैव ईहितं ईप्सितं ददानं तुरङ्गराजाख्यं पुराणं धाम श्रीहयग्रीवमित्यर्थः । सदा गिरां प्राप्त्यै मुदा अश्न इति योजना । आराधयेत्यर्थः । अश्नेर्लोण्मध्यमैकवचनम् । अनयोरुदाहरणयोस्स्तव्यत्वेन प्रकृतयोश्श्रीश्रीनिवासयोः श्रीरङ्गराजहयग्रीवयोश्च श्लेषः । स च प्रथमे उदाहरणे अभङ्गः द्वितीये सभङ्ग इति ध्येयम् । एवं वक्ष्यमाणोदाहरणेषु यथासंभवं द्रष्टव्यम् । वक्तव्यान्तरं तूपरिष्टाद्वक्ष्यते ॥

यथावा—

प्रथिमहितं प्रोद्यद्घनमित्रद्योतं महायुधं हृद-
ये। सारसनाभं कलये सुदर्शनं साधुचक्रराजं तम् ॥ ८१९ ॥

अत्र भगवतः सुदर्शनस्य च प्रकृतयोरेव श्लेषः। तथाहि, भगवत्पक्षे—प्रथिम्ने पृथुत्वाय आश्रितप्रख्यापनायेति यावत्। हितं 'चतुर्थी तदर्थ' इत्यादिना समासः। प्रथिम्ना प्रख्यातत्वेन हितमिति वा। सुदर्शनपक्षे प्रथिः नेमिः तेन महितं 'नेमिस्स्त्री स्यात्प्रथिः पुमान्' इत्यमरः। प्रोद्यन् प्रावृडारम्भे विजृम्भमाणः घनः मेघः तस्य मित्रं सुहृत् द्योतः प्रकाशो यस्य तं प्रावृषेण्यघनाघनश्यामलमित्यर्थः। पक्षे—प्रोद्यन् उदयमानः घनस्सान्द्रः अविकलप्रकाश इति यावत्। यः मित्रः भानुः तस्य द्योत इव द्योतो यस्य तं उद्यद्भानुनिभप्रभमित्यर्थः। 'सुदर्शनं भास्करकोटितुल्यम्' इत्युक्तेः। महायुधं महान्ति आयुधानि चक्रादीनि यस्य तम्। पक्षे—महती युत् युद्धं यस्य तं 'समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः। यद्वा—भगवत्पक्ष एव महती युत् यस्येति। सुदर्शनपक्षे तु महान्ति आयुधानि 'शङ्खं चक्रं सचापं परशुमसिमिषुं शूलपाशाङ्कुशाग्नीन् बिभ्राणं वज्रखेटं हलमुसलगदाकुन्तम्' इत्युक्तरीत्या बह्वायुधधारिणमित्यर्थः। सारसं पद्मं नाभौ यस्य तम्। गड्वादेराकृतिगणत्वात्सप्तम्याः परनिपातः। भगवत्पक्षे इदं विशेष्यम्। पक्षे—अरैः परितोऽर्पिताभिश्शलाकाभिस्सह वर्तत इति सारः 'स्फुरत्सहस्रारशिखातितीव्रम्' इत्याद्युक्तेः 'अरं शीघ्रे च चक्राङ्गे' इति मेदिनी। नाभ्या मध्यरन्ध्रेण सह वर्तत इति सनाभः 'अच्प्रत्यन्वव' इत्यत्र

अजिति योगविभागादच् । उभयत्र सहपूर्वपदबहुव्रीहिः । सारश्चासौ सनाभश्चेति विशेषणोभयपदकर्मधारयः । तं तथोक्तम् । सुदर्शनं कल्याणालोकनम् । साधूनां सतां चक्रस्य वृन्दस्य राजा तं तथोक्तं सारसनाभं कलये इति भगवत्पक्षे योजना । सुदर्शनपक्षे तु—चक्रराजं चक्राणां राजानं सुदर्शनं तन्नामानं भगद्दिव्यायुधं, इदमेव विशेष्यम् । साधु यथा स्यात्तथा कलये इति योजना । सुदर्शनशब्दः पुंस्यप्यनुशिष्टः 'सुदर्शनोऽस्त्रियां चक्रे' इति नामानिधाने । 'सुदर्शनो हरेश्चक्रे मेरुजम्बूद्रुमे पुमान्, अथ सुदर्शनः । विष्णोश्चक्रे' इति मेदिन्यभिधानचिन्तामण्योस्तु पुंस्येव । तेन 'नामलिङ्गानुशासने 'चक्रं सुदर्शनम्' इति क्लीबतया पाठसद्भावेऽपि न विरोधः । वस्तुतस्तु तत्रापि पुंलिङ्गपाठ एवादृतोऽमरसुधादौ । प्रयुक्तश्च माघेन—'बन्धुरेष जगतां सुदर्शनः' इति । यद्यप्यत्र प्रथिमहितमित्यादिविशेषणविशिष्टस्य सुदर्शनमित्यस्य द्वितीयैकवचनान्ततया तत्र पुंनपुंसकयोरैकरूप्यान्न पुंलिङ्गतोपपत्तिरपेक्षिता । तथाऽपि महायुधमिति विशेषणे महती युत् यस्येति विग्रहे तयोः रूपभेदोऽवश्यंभावीत्यपेक्षितैव सा प्रदर्शितेति विभावनीयम् ॥

यथावा—

**हरिमुखमरुदभिसंस्तवभवनिनदध्वस्तदनुतनुजदर्पः । पञ्चजनाधारोऽव्याद्भगवान् राजन्महादरः कोऽपि ॥ ८२० ॥**

अत्र भगवत्पाञ्चजन्ययोः प्रस्तुतयोरेव श्लेषः । तथाहि—हरिमुखा इन्द्राद्याः ये मरुतः देवाः 'मरुतौ पवनामरौ' इत्य

मरः । तेषां अभितः संस्तवात् समीचीनस्तुतेः भवः जातः यो निनदः तेन ध्वस्तः दनुतनुजदर्पः दानवगर्वः यस्य स तथोक्तः । पक्षे—हरेः भगवतः मुखमरुतः वदनानिलस्य अभिसंस्तवः अभितः परिचयः 'संस्तवस्स्यात्परिचयः' इत्यनुशासनात् । तद्भवेन निनदेन ध्वस्तदनुतनुजदर्पः । उक्तोऽर्थः । अनेन 'विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता' इत्येतत्प्रत्यभिज्ञाप्यते । पञ्चजनानां मनुजानां 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' इत्यमरः । पञ्चभिर्भूतैर्जन्यन्त इति पञ्चजनाः 'जनी प्रादुर्भावे' घञ् । 'जनिवध्योश्च' इति न वृद्धिः । आधारः आश्रयः । यद्वा—पञ्चजनानां इन्द्रियाणां आधारः आश्रयः 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इति श्रुतेः । पक्षे पञ्चजनो नाम दैत्यः स आधारो यस्य सः तदाधारत्वादेवास्य पाञ्चजन्यशब्दवाच्यता । यथोक्तं श्रीमति भागवते—

नाहार्षं तमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् ।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः ॥

इत्युपक्रम्य,

तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमाविशत् ।

इति । अत एव हि 'गम्भीराञ्ञ्यः' इति सूत्रस्थात् 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकात् भवार्थे ञ्येन निष्पादितः पाञ्चजन्यशब्दो भाष्यकृता । राजन् प्रकाशमानः महान् आदरो यस्य सः । कोऽपि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतमहामहिमा । भगवान् अव्यात् । पक्षे—भगवानिति विशेषणम् । कोऽपि लोकविलक्षणः राजत् महः तेजः यस्य स राजन्महाः दरः शङ्खः अव्यात् इति ॥

यथा वा—

**रुचिराङ्गदां भुजङ्गमपुङ्गवगिरिपतिकरग्रहोल्लसिताम् । विधुतालसदनुजातां साधुश्रियमाश्रये शरणम् ॥ ८२१ ॥**

अत्र स्तोतव्यत्वेन प्रस्तुतयोर्लक्ष्मीगदयोः श्लेषः । तथाहि—भुजङ्गमपुङ्गवगिरिपतेः श्रीनिवासस्य करग्रहेण पाणिग्रहेण परिणयेनेत्यर्थः । पक्षे हस्तादानेन उल्लसितां उल्लासशालिनीं भासमानां च । विधोर्भावः विधुता तया चन्द्रतया लसन् अनुजातः अनुजन्मा यस्यास्तां चन्द्रसोदरामित्यर्थः । पक्षे विधुताः निर्धूताः अत एव अलसाः मन्दाः दनुजाताः दानवाः यया तां तथोक्ताम् । रुचिरे अङ्गदे केयूरे यस्यास्तां श्रियं लक्ष्मीं साधु पुष्कलाङ्गं यथा स्यात्तथा शरणं उपायं—

उपाये गृहरक्षित्रोश्शब्दश्शरणमित्ययम् ।
वर्तते सांप्रतं चैष उपायार्थैकवाचकः ॥

इत्यहिर्बुध्न्यसंहितोक्तेः । आश्रये भगवच्चरणारविन्दशरणवरणपुरुषकारत्वेन प्रपन्नोऽस्मीत्यर्थः । पक्षे—साधुश्रियमित्येतत्समस्तं गदाविशेषणम् । साध्वी श्रीर्यस्यास्तां रुचिरामिति व्यस्तं पदम् । रमणीयां गदां कौमोदकीं, अस्मिन् पक्षे 'वा पदान्तस्य' इत्यनुस्वारस्य वैकल्पिकः परसवर्णः । शरणं श्रये इति ॥

यथा वा—

**सन्नन्दकमसितोज्ज्वलमोजश्श्रीमत्त्सरूपधेयाङ्गम् । ध्यायामो बलिदैत्यध्वंसनदक्षिणमहाशयाकलितम् ॥ ८२२ ॥**

अत्र भगवन्नन्दकयोः प्रकृतयोश्श्लेषः । भगवत्पक्षे–सन्नन्दकं असितोज्ज्वलं ओजः श्रीमत् सरूपधेयाङ्गं इति पञ्चपदानि । श्रीमत् लक्ष्मीनित्ययोगवत् । रूपमेव रूपधेयं 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति स्वार्थिको धेयप्रत्ययः । तेन सह वर्तत इति सरूपधेयं दिव्यरूपमित्यर्थः । तादृशं अङ्गं विग्रहः यस्य तत्तथोक्तम् । बलेः तन्नाम्नः दैत्यस्य ध्वंसने ऐन्द्रपदाक्रंशने दक्षिणा दक्षा 'दक्षिणस्तु परच्छन्दानुवर्तिनि । दक्षेऽपसव्ये सरळे' इत्यभिधानचिन्तामणिः । महती आशा तृष्णा तया कलितम् । असितं च तत् उज्ज्वलं च असितोज्ज्वलम् । सतां नन्दकं सन्नन्दकं आनन्ददमित्यर्थः । ओजः इदं विशेष्यं 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति श्रुतं परं ब्रह्मेत्यर्थः । ध्यायाम इति । नन्दकपक्षे तु—सन्नन्दकं असितोज्ज्वलं ओजश्श्रीमत् त्सरूपधेयाङ्गं इति पदचतुष्टयम् । ओजसः श्रीः संपत् अस्यास्तीत्योजश्श्रीमत् । त्सरौ मुष्टौ उपधेयं निधेयं अङ्गं यस्य तं तथोक्तम् । प्राथमिकपक्षे श्रीमत्त्सरु इत्यत्र तकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वम् । 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः । खड्गस्य त्सर्वाधारकत्वात्तथोक्तिः । बलिनां दैत्यानां ध्वंसनः ध्वंसकः भगवान् तस्य दक्षिणः वामेतरः यो महान् शयः पाणिः तेन आकलितं दैत्यादिदक्षिणपाणिपरिगृहीतमित्यर्थः । असेर्भावः असिता तया उज्ज्वलम् । संश्चासौ नन्दकश्च सन्नन्दकः तं, इदं विशेष्यम् । नन्दकाख्यं खड्गं ध्यायाम इति ॥

यथा वा—

समुपनतेषु प्रवणं विधूनितज्यानिघृष्टपरकोटि।
वस्तु महाशार्ङ्गं चिरमस्तु मम श्रेयसे किमपि ॥

अत्र शार्ङ्गिशार्ङ्गयोः प्रकृतयोरेव श्लेषः। तथाहि--समुपनतेषु शरणागतेषु प्रवणं अधीनमिति यावत्। विधूनिता निरस्ता ज्यानिः ग्लानिः येन तत् इति व्यस्तं पदम्। प्रशमितनिखिललोकम्लानीत्यर्थः। घृष्टाः पिष्टाः परेषां अरीणां कोटयो येन तत् ध्वंसितानन्तविपक्षमित्यर्थः। महत् शार्ङ्गं यस्य तत् इति भगवत्पक्षे। शार्ङ्गपक्षे तु—समुपनताः संहिताः इषवः सायकाः यस्मिंस्तत्। तत्र हेतुः प्रवणमिति। नम्रमित्यर्थः। तत्रापि हेतुमाह—विधूनितेति। विधूनिता कम्पिता या ज्या मौर्वी तया निघृष्टा घट्टितेति यावत्। परा तदाश्रयकोट्यपेक्षया अन्या कोटिः अग्रं यस्य तत्। महच्च तत् शार्ङ्गं च। किमपि वस्तु भगवद्रूपं तच्चापरूपं च वस्तु चिरं मम श्रेयसे अस्तु। इयं 'प्रथिमहितम्' इत्यादिपञ्चश्लोकी ममैव श्लिष्टपञ्चायुधीयस्तुतौ निबद्धा॥

यथा वा—

अधिरूढसुगुणकोटि क्षिप्तमहापत्त्रिभुवनविख्यातम्। अच्युतशुभकरधामप्रेङ्खच्छार्ङ्गं महामहो जयतात्॥ ८२४॥

अत्रापि शार्ङ्गिशार्ङ्गयोरेव प्रकृतयोश्श्लेषः। तथाहि—अधिकं रूढाः प्रादुर्भूताः प्रकाशमाना इत्यर्थः। सुगुणानां कल्याणगुणानां कोटयो यस्य तत्तथोक्तम्। पक्षे—अधिरूढः आरूढः सुगुणः शोभना मौर्वी यस्यां सा तथोक्ता कोटिः अटनिः यस्य तदिति बहुव्रीहिगर्भबहुव्रीहिः। अधिज्याटनीत्यर्थः। क्षिप्ताः निरस्ताः महत्यः आपदः जगद्विपदः येन तत् क्षिप्तमहापत्। त्रिभुवने विख्यातम्। पक्षे—क्षिप्ताः प्रेरिताः महान्तः पत्त्रिणो बाणाः येन तत् क्षिप्त-

महापत्रि । भुवनेषु विख्यातम् । अच्युतं शुभकरं च धाम तेजः प्रभावो वा यस्य तत्तथोक्तम् । प्रेङ्खत् प्रोच्चलत् शार्ङ्गं यस्य तत्तथोक्तम् । महामहः दिव्यं तेजः 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति श्रुतं परं ब्रह्म । इदं विशेष्यम् । पक्षे अच्युतस्य भगवतः शुभः कल्याणः यः करः हस्तः स एव धाम स्थानं तस्मिन् प्रेङ्खत् महत् महो यस्य तत्तथोक्तं शार्ङ्गं; इदं कर्तृ, जयतात् ॥

यथावा—

स जयतु सरसिजनयनस्सनातनीं गां सुरारिणाऽपहृताम् । उद्धर्तुमाविरासीन्महावराहस्त्वरान्वितो यः प्राक् ॥ ८२५ ॥

अत्र स्तव्यत्वेन प्रस्तुतयोर्महावराहश्रीहयग्रीवयोः श्लेषः । तथाहि—सुरारिणा हिरण्याक्षेण । पक्षे मधुनाम्ना कैटभद्वितीयेन दैत्येन अपहृतां सनातनीं गां भुवं श्रुतिरूपां वाचं च । उद्धर्तुं यः प्राक् त्वरान्वितः ससंभ्रमः महावराहस्सन् । पक्षे महावराहः तु अरान्वित इति छेदः । तुशब्दोऽवधारणे । उद्धर्तुमित्यत्रान्वेतव्यः । उद्धर्तुमेवेत्यर्थः । अरान्वितः रेफानन्वितः महावराहः महावाहः हयग्रीवस्सन्नित्यर्थः । महावराहशब्दे रेफरूपव्यञ्जनमात्रोत्सारणे अवशिष्टस्य आकारस्य वकारोत्तराकारस्य च सवर्णदीर्घे महावाह इति निष्पत्तेरिति भावः । आविरासीत् । सः सरसिजनयनः जयतु । सरसिजनयन इत्यनेन 'महावराहस्फुटपद्मलोचनः' इत्येतत्प्रत्यभिज्ञाप्यते ॥

यथावा—

वरमनघतरमधीशः पुराददे हन्त यस्सदामो-

दरतः । हृदयेद्वितीयवर्णो गुहाशयो वसतु मे स मुचुकुन्दोऽयम् ॥ ८२६ ॥

अत्र प्रस्तुतयोर्मुचुकुन्दमुकुन्दयोश्श्लेषः । सः मान्धातृतनयतया सैनापत्येन देवपरित्रातृतया च प्रथितः यः अधीशः अधिराजः सार्वभौमो मुचुकुन्द इत्यर्थः । पुरा कालयवनविद्रावणावसरे । दामोदरतः आद्यादित्वात्पञ्चम्यास्तसिः । भगवतः श्रीकृष्णात् अनघतरं वरं आददे स्वीकृतवान् । गुहाशयः गिरिगह्वरशायी द्वितीयो वर्णो यस्य सः द्वितीयवर्णः क्षत्रवर्णजन्मा सोऽयं मुचुकुन्दः । पक्षे—सदामोदरत इति समस्तं पदं प्रथमैकवचनान्तम् । सतां आमोदे प्रहर्षणे रतः आसक्तः यः भगवान् । पुरा अधशिः । अधीशशब्दोऽयं षष्ठ्येकवचनान्तः । अधिराजस्य तस्यैव मुचुकुन्दस्येत्यर्थः । संबन्धसामान्ये षष्ठी । अनघतरं वरं ददे इति छेदः । दत्तवान् । गुहाशयः सकलचेतनहृदयगुहानिविष्टः 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं' इत्यादिश्रुतेः । अद्वितीयवर्ण इति छेदः । सोऽयं अद्वितीयवर्णः द्वितीयवर्णरहितः मुचुकुन्दः मुकुन्द इत्यर्थः । शब्दार्थयोस्तादात्म्यात् । मे मम हृदये वसतु ध्यानपथाध्वनीनो भवत्वित्यर्थः । मुचुकुन्दस्याप्रकृतत्वाभिसन्धौ त्विदं प्रकृताप्रकृतश्लेषस्योदाहरणं भविष्यतीत्यनुसन्धेयम् ॥

यथावा—

प्राग्भवपावकविद्धं जहतो ब्रह्माणमप्यभद्रममी । गोविन्द नन्दनन्दनजयन्त्युपात्तव्रताः प्रियतमास्ते ॥ ८२७ ॥

अत्राम्बरीषादिवद्भगवदेकनिष्ठानां श्रीजयन्तीव्रतानुष्ठातॄणां च प्रस्तुतानामेव श्लेषः। तथाहि—हे नन्दनंदन! गोविन्द! इदं वक्ष्यमाणार्थोपस्काराय। भवपावकेन संसारानलेन विद्धं बाधितं अत एव अभद्रं अमङ्गळं ब्रह्माणं चतुर्मुखमपि प्राक् पुरस्तात् जहतः ध्यानानुपकारकत्वात्त्यजन्तः। चतुर्मुखस्यैवादौ त्यागे ततोऽन्यवरदैवतत्यागः किंपुनर्न्यायसिद्धः। यद्वा—प्राक्छब्दो भवशब्दाविशेषणतया समस्तः। प्राग्भवः अनादिसंसारः पावक इव तेन विद्धं, अन्यत्तुल्यम्। अत्र—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः॥
अविद्यान्तर्गतास्सर्वे ते हि संसारगोचराः।
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः॥

इति, 'आविरिञ्चादमङ्गळम्' इत्यादिप्रमाणानि चानुसंहितानि। अमी उपात्तव्रताः उपात्तं व्रतं—

स त्वं प्रहर वा मा वा मयि वज्रं पुरन्दर।
नाहमुत्सृज्य गोविन्दमन्यमाराधयामि भोः॥

इत्यादिकमम्बरीषोक्तप्रकारकं व्रतं यैस्ते 'नियमो व्रतमस्त्री तच्चोपवासादिपुण्यकम्' इत्यमरः। उदाहृतप्रमाणाभिसंधिनैव मूले गोविन्देति संबोधनम्। इदमेव पीताम्बरसागराम्बरादिवद्विशेष्यम्। सूत्रितं हि वामनेन—'विशेषणप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ' इति। ते तव प्रियतमास्सन्तो जयन्ति। प्रियतमा इत्यनेन 'यमेवैष वृणुते' इति श्रुत्युक्तपरमात्मवरणीयताहेतूक्तिः 'प्रियतम एव हि वरणीयो भवति यस्यायं निरतिशयीप्रयस्स एवास्य प्रियतमो भवति' इति हि लघुसिद्धान्ते

प्रकृतश्रुतिभाष्यम्। अन्यत्र ब्राह्मणं रोहिणीनक्षत्रं 'रोहिणीनक्षत्रं प्रजापतिर्देवता' इति रोहिण्याः प्रजापतिदेवताकत्वश्रवणात्, 'विधाता रोहिणीश्वरः' इति स्मरणाच्च। अभद्रमपि भद्रा सप्तमी 'नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा स्युस्तिथयः क्रमात्' इति प्रतिपदादीनां पञ्चपञ्चानां तिथीनां क्रमेण संज्ञाविधानात्। अविद्यमाना भद्रा यस्य तं सप्तम्यविद्धमपीत्यर्थः। इदमपरित्यागकारणम्। प्राग्भवपावकविद्धं प्राग्भवेन पूर्वस्थितेन पावकेन कृत्तिका नक्षत्रेण 'कृत्तिकानक्षत्रमग्निर्देवता' इति तस्याग्निदेवताकत्वश्रवणात्। 'आग्नेयी कृत्तिका प्रोक्ता' इत्युक्तेश्च। विद्धं वेधं प्रापितं, इदमग्राह्यताहेतुः। जहतः त्यजन्तः।

जयन्ती द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा विद्धेति संज्ञिता।
शुद्धा तु द्विविधा प्रोक्ता विद्धा चैव चतुर्विधा॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सप्तमीं कृत्तिकामपि।
कलामात्रामपि त्यक्त्वा परतो व्रतमाचरेत्॥

इत्यादिवचनैः सप्तम्या अष्टमीरोहिण्योः कृत्तिकाया अष्टमीरोहिण्योश्चेत्येवंरूपचतुर्विधवेधस्य त्याज्यताया आकरेषु निर्णीतत्वात्। अमी जयन्त्युपात्तव्रता इति समस्तं पदम्। जयन्त्याम्

श्रावणस्य तु मासस्य कृष्णाष्टम्यां नराधिप।
रोहिणी यदि लभ्येत सा जयन्तीति कीर्तिता॥
प्राजापत्यं मुहूर्तार्धे नवम्यां यदि वा न वा।
मृगेण केवलेनापि सा जयन्तीति कीर्तिता॥

इत्याद्युक्तलक्षणायां तिथौ उपात्तं गृहीतं व्रतं उपवासादिनियमो यैस्ते तथोक्ताः जनाः त प्रियतमाः उपपादितचतुर्विधवेधविधुरजयन्तीव्रतविधातारस्तवातिवेलप्रिया भवन्तीत्यर्थः। अत्र–

शुद्धाष्टमीं विना वाऽपि शुद्धमृक्षमथापि वा ।
मृगेण च नवम्यां वा दशम्यां वाऽपि वैष्णवः ॥
पूर्वं तु सप्तमीयुक्ता त्वपरे कृत्तिका युता ।
दिनद्वयं परित्यज्य तदन्ये वासरे चरेत् ॥

इत्यादिवचनसहस्रमनुसन्धेयम् । एवं केवलप्रकृतानेकविषयः श्लेष उदाहृतः ॥

अप्रकृतानेकविषयो यथा—

**सुमहाबिलविलसत्तमविशदगुणा सन्ततोत्तमस्फुरणा । तारावळी वृषाचलधौरेयनखाळिकृततिरस्करणा ॥ ८२८ ॥**

सुमहाः शोभनदीप्तिः बिलेषु रन्ध्रेषु विलसत्तमः विशदः स्वच्छः गुणः तन्तुः यस्यास्सा । अन्यत्र सुष्ठु महाबिले व्योम्नि "मेघद्वारं महाबिलम्' इत्यमरशेषः । विलसत्तमः अतिमात्रं प्रकाशमानः विशदगुणः धावळ्यं यस्यास्सा तथोक्ता । संततं उत्तमं स्फुरणं चाकचक्यं यस्यास्सा तथोक्ता । इतरत्र उत्कृष्टं तमसि स्फुरणं प्रकाशो यस्यास्सा । तमस्स्फुरणेत्यत्र तमश्शब्दविसर्गस्य 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपः' इति लोपे पक्षद्वयेऽपि वर्णानुपूर्व्यास्साम्यं वेदितव्यम् । तारावळी मुक्ताहारः नक्षत्रपङ्क्तिश्च ।

तारोवानरभिन्मुक्ताविशुद्धौ शुद्धमौक्तिके ।
नानक्षत्रेऽक्षिमध्ये च न नारूप्ये नपुंसकम् ॥

इत्युभयत्रापि मेदिनी । अन्यत्सुगमम् । अत्र भगवन्नखावळ्या उपमानत्वेनाप्रकृतयोर्मुक्ताहारतारकावळ्योश्श्लेषः ॥

यथा वा –

दिवियुक्तस्थितिमुज्ज्वलविग्रहधाम्नैव मुदिरमुच्चापम्। व्यजयत यः किल स पुमान्विजयाय मभास्तु भुजगगिरिनेता ॥ ८२९ ॥

दिवि व्योम्नि युक्तस्थितिं युक्ता वर्षकरणकजगदानन्दनानुरूपा स्थितिः अवस्थानं यस्य तम्। तत्र हेतुमाह— उच्चेति। उच्चाः निर्भराः आपः यस्य तम्। 'ऋक्पूरप्' इत्यादिना समासान्तोऽप्रत्ययः। प्रावृषेण्यमिति भावः। मुदिरं जीमूतं 'घनजीमूतमुदिरजलमुग्धूमयोनयः' इत्यमरः। उज्ज्वलस्य विग्रहस्य दिव्यवपुषः धाम्नैव तेजसैव यः व्यजयत। पक्षे उच्चापं उद्धृतधन्वानम्। दिवियुक्तस्थितिं दिना दिवर्णेन वियुक्ता विघटिता स्थितिः यस्य तं मुदिरं मुरामित्यर्थः। मुदिरशब्दे दिवर्णलोपे मुर इति निष्पत्तेः। शब्दार्थयोस्तादात्म्यमिह शरणम्। विग्रहधाम्ना समरप्रभावेण व्यजयत तिरस्कुरुते स्म। इहाप्रकृतयोर्मुदिरमुरयोः श्लेषः ॥

यथावा—

त्वदवेक्षणतोमर्त्यः प्रसाधितस्वस्थिरस्सुधान्यादः। अखिलाम्ब दानवारात्याख्यातो विन्दते बुधेड्यत्वम् ॥ ८३० ॥

हे अखिलाम्ब! मर्त्यः मानवः। अमर्त्य इति च छेदः। देव इत्यर्थः। त्वदवेक्षणतः त्वत्कटाक्षात् प्रसाधितस्वस्थिरः प्रसाधिते प्रकर्षेण वशीकृते स्वं धनं स्थिरा भूश्च येन स तथोक्तः। अमर्त्यपक्षे—प्रसाधितस्वः प्रसाधितं अलंकृतं स्वः स्वर्गो

येन स तथोक्तः। रेफान्ताव्ययोत्तरपदो बहुव्रीहिः। स्थिरः चिरकालावस्थायी। शोभनानि च तानि धान्यनि च सुधान्यानि तान्यत्तीति सुधान्यादः सुमृष्टव्रीहितण्डुलाद्यन्नभोजीति यावत्। अन्यत्र सुधा अमृतं न्यादः आहारः यस्य स तथोक्तः 'नौ ण च' इत्यदेर्निपूर्वकात् णप्रत्ययः। 'जेमनं लेप आहारो निघसो न्याद इत्यपि' इत्यमरः। दानवारा दानोदकेन अत्याख्यातः अतिशयेन समन्तात्प्रथितः अत एव बुधेड्यत्वं विन्दते। महोदारसार्वभौमतया विद्वदभिनन्दनीयतां लभत इति भावः। इतरत्र दानवारातिः वृत्रमुखदैत्यध्वंसीति आख्यातः प्रसिद्धया, आद्यादित्वात्तृतीयायास्तसिः। आख्यात इति प्रथमान्तं वा पदम्। बुधैः देवैः ईड्यत्वं विन्दते देवाधिराजत्वं भजत इत्यर्थः। अत्र जगज्जननीकटाक्षितयोर्मर्त्यामर्त्ययोरप्रकृतयोश्श्लेषः॥

यथावा—

कलितो भगवन् भवता मित्राणामधिभुवाञ्छितो विभवः। दानान्विता विरचिता वदान्यताऽपि च पृदाकुशिखरिमणे ॥ ८३१ ॥

हे भगवन्! भवता अधिभु भुवि विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। मित्राणां सुहृदां वाञ्छितः काङ्क्षितः विभवः कलितः कृतः। दानेन वितरणेन अन्विता वदान्यता वल्गुवचनताऽपि च 'वदान्यो वल्गुवागपि' इत्यमरः। विरचिता 'दत्वा च मधुरं वदेत्' इति हि धर्मविदः। सुहृदस्त्वया विभववन्तस्तदनुगुणदानप्रियवचनाश्च कृता इति निर्गळितोऽर्थः। पक्षे—अमित्राणामिति छेदः। वैरिणां अधिभुवां प्रभूणां 'अधिभूर्नायको नेता' इत्यमरः। विभवः कलितः युद्धेन, आद्यादित्वात्तसिः। 'संप्रहाराभिसंपातक-

लिसंस्फोटसंयुगाः' इति युद्धपर्यायेष्वमरः। छितः छिन्नः छायते स्मेतिच्छितः 'छो छेदने' इति दैवादिकाद्धातोः कर्माणि क्तः 'शाच्छोऽन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिकमित्वम्। 'कृत्तं दातं दितं छितं वृक्णम्' इत्यमरः। अपिच दानान्विता दा इति वर्णेन नान्विता अयुक्ता विरहितेत्यर्थः। नशब्देन समासः। वदान्यता वन्यतेत्यर्थः। विरचिता। वैरिणो न केवलमपाचिताविभवा एव कृताः, किंतु वन्यवृत्तयोऽपीत्याभिप्रायः। अत्र भगवदीययोर्मित्रामित्रयोरप्रस्तुतयोश्श्लेषः। द्वयोरपि प्रस्तुतत्वाभिसन्धौ प्रकृतानेकाविषयश्लेषस्यैवोदाहरणं भवेत्। एवं पूर्वोदाहरणेऽपि द्रष्टव्यम्॥

प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्यथा—

**यो वहति मञ्जुलक्ष्माच्छायामसितां घृणिप्रतीतात्मा। वृषभागं तुङ्गमयन्नयं हरिः प्रथयते श्रियं हृद्याम्॥ ८३२॥**

अत्र भगवच्चन्द्रमसोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोः श्लेषः। तथाहि—मञ्जु मनोहरं लक्ष्म श्रीवत्सचिह्नं असाधारणं शङ्खचक्रादिचिह्नं वा यस्य स तथोक्तः। अनेन परत्वं सूचितम्।

तमसः परमो धाता शङ्खचक्रगदाधरः।
श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यश्शाश्वतो ध्रुवः॥

इत्याद्युक्तेः। असितां श्यामलां छायां कान्तिं वहति। अयं हरिः भगवान् घृणिप्रतीतात्मा घृणा अस्यास्तीति घृणी दयावान्। व्रीह्यादित्वान्मत्वर्थीय इनिः। 'जुगुप्साकरुणे घृणे' इत्यमरः। घणीति प्रतीतात्मा प्रख्यातस्वभावः। 'घृणी सत्यपराक्रमः'

इत्याद्युक्तेः। घृणिषु प्रतीतात्मेति वा परमकारुणिक इत्यर्थः। घृणीति विश्वासविषयस्वभाव इति वा। प्रतिपूर्वकस्य इणो विश्वासार्थकत्वात्। घृणी चासौ प्रतीतात्मा चेति विशेषणो-भयपदकर्मधारयो वा। अस्मिन् पक्षे प्रतीतो हृष्ट इत्यर्थः। 'ख्याते हृष्टे प्रतीतः' इत्यमरः। महादयालुतया लीलाविभूति-स्थानुज्जीवयितुं प्रहृष्टमना इति भावः। अनेन सौलभ्यहेतुभूतकृ-पाशालितोक्तिः। अत एव तुङ्गं वृषभागं वृषभाद्रिं अयन् प्राप्नु-वन् अनेन सौलभ्योक्तिः। श्रियं लक्ष्मीं हृद्यां वक्षस्स्थां प्रथ-यते स्वस्य श्रीनिवासत्वं प्रदर्शयतीति भावः। अनेन सौल-भ्येऽपि परत्वाप्रहाणं दर्शितम्। पक्षे—घृणिभिः किरणैः प्रती-तात्मा प्रख्यातस्वरूपः यः असितां नीलां मञ्जुलक्ष्माच्छायां क्ष्मायाः भूमेः छाया मञ्जुला च सा क्ष्माच्छाया च तां, शशशब्दाभिलपनीयं भूप्रतिबिम्बमित्यर्थः। वहति 'लोकच्छा-यामयं लक्ष्म तवाङ्के शशसन्निभम्' इति हरिवंशोक्तेः 'तवाङ्के' इत्यपि पाठः। 'भूच्छायमैच्छन्परे' इत्यर्वाचीनोक्तेश्च। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः। अयं हरिः च-न्द्रमाः 'हरिर्यमार्काश्वाग्नीन्दुविष्णिवन्द्रांशुशुकेषु ना' इति रत्न-माला। तुङ्गं उच्चं वृषभागं वृषस्य वृषभराशेः भागं तृतीयांश-मिति यावत्। तस्यैव तत्परमोच्चस्थानत्वात्। यथोच्यते वरा-हमिहिराचार्येण—

अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा झषवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः।
दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशैस्त्रिनवकविंशतिभिश्च तेऽस्त-
नीचाः॥

इति। अयन् सन् हृद्यां हृदयप्रियां श्रियं दीप्तिं प्रथयते दीप्तो भवतीत्यर्थः। यद्वा—स्वलग्नजन्मनां शुभसंपदं वितनोतीत्यर्थः।

'स्वोच्चे प्रदीप्तः' इति, 'दीप्तः पूर्णं विधत्ते शुभम्' इति च माधवीयोक्तेः ॥

यथावा—

गौरवितासश्रीरनवरतं हृद्याहिता सुहृल्लेखा ।
येन स वृषाचलाहितधामा देवाधिनायको जयति ॥

अत्र प्रकृताप्रकृतयोर्भगवन्मघवतोश्श्लेषः । तथाहि—येन भगवता हृदयं लिखतीति हृल्लेखा शोभना हृल्लेखा सुहृल्लेखा अतिमात्रहृदयंगमेत्यर्थः । 'हृदयस्य हृल्लेख' इत्यादिना हृदयशब्दस्य हृदादेशः । 'हृदयग्राहि हृद्यं च हृल्लेखं हृदयप्रियम्' इति रत्नकोशः । अत एव अनवरतं हृदि वक्षसि आहिता निहिता अत एव गौरविता संजातगौरवा । तारकादिषु गौरवशब्दस्य पाठात् 'तदस्य संजातम्' इत्यर्थे इतच् । यद्वा—गौरववती कृता गौरवितापयन्ताद्गौरववच्छब्दात् निष्ठायां णाविष्ठवद्भावेन 'विन्मतोः' इति मतुपो लुक् । अत एव आस दिदीपे । 'अस दीप्तौ' इति धातोर्लिट्प्रथमैकवचनम् । पक्षे - गौः अविता सश्रीः इति छेदः । येन मघवता सश्रीः सलक्ष्मीका हृद्या हृदयप्रिया हिता पथ्या 'हितं पथ्ये गते धृते' इति मेदिनी । सुहृदो लेखाः देवाः यस्यां सा 'लेखा अदितिनन्दनाः' इत्यमरः । गौः द्यौः स्वर्ग इत्यर्थः । 'गौस्स्वर्गे च बलीवर्दे' इति मेदिनी । अनवरतं अविता रक्षिता । वृषाद्रौ अहितं न्यस्तं धाम स्थानं दिव्यमङ्गळविग्रहो वा यस्य सः 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । सः देवाधिनायकः भगवान् । पक्षे—सः वृषा अचलाहितधामेति छेदः । अचलानां शैलानां अहितं धाम तेजः प्रभावो वा यस्य सः गोत्रभिदित्यर्थः । देवानां अधिनायकः सः वृषा मघवा जयतीति ॥

यथावा—

कृष्णघनाभिवितीर्णस्वात्यमलरसैकसमधिगत-सत्ताः । मुक्ताख्यास्सन्मणयो विलसच्छुक्त्यागतादृगानन्दाः ॥८३४॥

अत्र प्रकृतानां ब्रह्मविदामप्रकृतानां मुक्ताफलानां च श्लेषः। तथाहि—कृष्णेन भगवता घनं सान्द्रं यथा स्यात्तथा अभिवितीर्णः प्रदत्तः स्वस्मिन् स्वविषये यः अत्यमलः विजातीयरसासंवलित-तया स्वच्छः रसः अनुरागः स्नेहापरपर्यायः तत्पूर्वकानुध्यानं भक्तिरिति यावत् 'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' इति ह्युच्यते । तेनैव समधिगता सम्यक्प्राप्ता सत्ता स्वरूपधारणं येषां ते रसैकसमधिगतसत्ताः 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुप-यान्ति ते' इत्युक्तप्रक्रियया भगवद्दत्तेनोक्तविधानुध्यानेनैव स्वदेहधारणादिकं कुर्वन्त इति भावः । सन्मणयः ब्रह्मविदग्रेसराः मुक्ताः प्रकृतिबन्धवियुक्ताः इत्याख्या येषां ते तथोक्तास्सन्तः विलसन् शुचः शोकस्य त्यागो येषां ते विलसच्छुक्त्यागाः 'अपहतपाप्मा' इति प्रजापतिवाक्ये 'विशोकः' इति श्रवणात् । तादृक् 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति वाङ्मनसापरिच्छेद्यतया श्रुतः आनन्दो येषां ते तादृगानन्दाः विलसच्छुक्त्यागाश्च ते तादृगानन्दाश्चेति विशेषणोभयपदकर्मधारयः । शोकोपलक्षितहेयगुणदवीयांसः परिपूर्णब्रह्मानुभवानन्दं विन्दन्त इत्यर्थः ॥

अन्यत्र—कृष्णघनेन नीलाम्बुदेन अभिवितीर्णः यः स्वात्यमलरसः स्वातीरविसंचारकालिकानिर्मलसलिलबिन्दुः—

नद्यां तत्र स्वातिगेऽर्के शुक्तिस्था वृष्टिबिन्दवः ।
षड्भिर्मासैर्घनीभूता जायन्ते शुद्धमौक्तिकाः ॥

इत्युक्तेः । तेनैव समधिगता सत्ता स्वरूपस्थितिः येषां ते तथोक्ताः । अत एव मुक्ताख्याः मुक्ताभिधानाः सन्मणयः प्रशस्तरत्नानि । विलसन्ती या शुक्तिः मुक्तास्फोटः तस्याः आगताः ततो जाता इत्यर्थः । दृगानन्दाः दृशां ईक्षितृजनलोचनानां आनन्दाः हर्षहेतवो भवन्तीति ॥

यथावा—

**मुख्यविभुसहजसङ्गावुदग्रभूमाश्रितौ च सुमहान्तौ । हन्त विहङ्गभुजङ्गौ न क्वाप्यर्थे विरोधमुपयातौ ॥८३५॥**

अत्र गरुत्मदनन्तयोः प्रस्तुतयोः विहङ्गभुजङ्गशब्दयोरप्रस्तुतयोश्च श्लेषः । तथाहि—सुमहान्तौ विहङ्गभुजङ्गौ गरुडानन्तावित्यर्थः । मुख्यविभुसहजसङ्गौ मुख्ये न तु राजादिवद्गौणे विभौ स्वामिनि श्रीनिवासे सहजः स्वाभाविकः सङ्गः शेषशेषिभावरूपस्संबन्धः ययोस्तौ तथोक्तौ । अत एव उदग्रेण उच्छ्रितेन भूम्ना माहिम्ना आश्रितौ च । यद्वा—उदग्रा श्रेयसी भूः भूदेवी यस्यास्सा तथोक्ता या मा श्रीः तां श्रितौ 'द्वितीया श्रित' इत्यादिना समासः 'विष्णुपत्नीं महीम्' इत्यादिश्रुतौ 'लक्ष्मीप्रियसखीम्' इति भूदेव्या लक्ष्मीप्रियसखीत्वोक्तेरिह तद्वैशिष्ट्यमभिहितं श्रियः । यद्वा उदग्रे भूश्च मा चेत्येते भगवद्दिव्यमहिष्यौ श्रितावित्यर्थः । न केवलमेतौ भगवतश्शेषभूतावेव अपितु तत्प्रसादनतत्परयोस्तद्दिव्यमहिष्योरपीति भावः । क्वाप्यर्थे कैंकर्यादिरूपे कस्मिंश्चिदपि प्रयोजने विरोधं नोपयातौ । कस्यचित् भगवन्नित्येच्छाव्यवस्थितेषु तत्तत्कैंकर्यादिष्वन्यस्यानुष्ठानाभिसन्धेरनुदयात् नित्यानिर्दोषभगवदाश्रयणप्रभावाच्चेति भावः ॥

पक्षे—मुख्यौ यथासंख्यं आद्यौ विश्व भुश्च विभू इत्याकारकौ वर्णौ ययोस्तौ मुख्यविभू हश्च जश्च हजौ वर्णौ ताभ्यां सह वर्तेते इति सहजौ च 'वोपसर्जनस्य' इति सहशब्दस्य सभावः। ङ्गेन ङकारगकारसंयोगेन सह वर्तेते इति सङ्गौ च। एतेषां त्रयाणां विशेषणानां कर्मधारयः। मुख्यविभुसहजसङ्गौ। उदग्रभूमाश्रितौ उत् उत्कृष्टं यथा स्यात्तथा अग्रे भवतीत्यग्रभूः अवसाने विद्यमानः यः मः मकारः तेनाश्रितौ। यद्वा अग्रादुद्गता उदग्रा भूः पर्यवसानमित्यर्थः। तस्यां माश्रितौ मकाराश्रिताविल्यर्थः। ईदृशौ विहङ्गभुजङ्गौ विहङ्गभुजङ्गशब्दौ क्वापि क्वचिदपि लोके वेदे वेति भावः। अर्थे अभिधेये विरोधं अन्यार्थत्वं नोपयातौ विहङ्गभुजङ्गशब्दाभ्यां यावानर्थोऽभिधीयते विहङ्गमभुजङ्गमशब्दाभ्यामपि तावत एवार्थस्याभिधानादिति भावः। अस्मिन्पक्षे सुमहान्ताविल्यस्य सुमहाशब्दान्ते विद्यमानाविल्यर्थोऽप्युपस्कार्यः। सुमहाविहङ्गः सुमहाभुजङ्गः इति शब्दाविल्यर्थौ निष्पद्यते। विहायसि गच्छतीति विग्रहे 'गमेस्सुपि वाच्यः' इति खचि 'विहायसो विह इति वाच्यम्' इति विहादेशे 'खच्च डिद्वा वाच्यः' इति खचो वैकल्पिके डित्त्वे डित्त्वसामर्थ्याट्टिलोपे 'अरुर्द्विषत्' इति मुमागमे विहङ्गः विहङ्गमः इति रूपद्वयमभिन्नार्थकम्। एवं भुजैर्गच्छतीति विग्रहे गमेः खचो वैकल्पिके डित्त्वे टिलोपे मुमागमे च भुजङ्गः भुजङ्गम इति रूपद्वयं च॥

यथावा—

सामानाधिकरण्यादुत्तरपदतां गतेन ननु विष्णो। महतस्त्वया समासे सत्याकारेऽस्तमेति तान्तत्वम् ॥८३६॥

अत्र महनीयस्य ब्रह्मविदो महच्छब्दस्वरूपस्य च प्रकृताप्रकृतयोः श्लेषः । तथाहि—ननु विष्णो! उत्तरं सर्वोत्तमं पदं 'तद्विष्णोः' इति श्रुतं स्थानं यस्य स उत्तरपदः तस्य भावः तत्ता तां गतेन परमपदे निवसतेत्यर्थः । त्वया सामानाधिकरण्यात् एकाधिकरणकत्वात्, ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी । एकाधिकरण्यं प्राप्येत्यर्थः । समासे सम्यगवस्थाने सति संपूर्वकादासेर्घञ् । महतः महनीयस्य कस्याचिद्ब्रह्मविदः सत्याकारे सत्यः अनारोपितः स्वाभाविक इत्यर्थः । स चासावाकारः अपहतपाप्मत्वादिरूपः तस्मिन् सति प्रादुर्भवतीति यावत् । तान्तत्वं अशनायापिपासादिग्लानिः अस्तं अदर्शनं एति प्राप्नोति । तदतीतत्वश्रवणात्तस्य । त्वदनुग्रहेण परमे व्योम्नि त्वया सह वसतः प्रादुर्भूतगुणाष्टकस्य चेतनस्याशनायादिग्लानिर्न कदाऽप्युन्मिषेदिति भावः । अन्यत्र हे-विष्णो! इति विष्णुशब्दस्यैव संबोधनम् । सामानाधिकरण्यात् प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैकार्थवृत्तित्वरूपात् । यदाहुः—'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम्' इति । उत्तरपदतां समासचरमावयवतां समानाधिकरणोत्तरपदतामित्यर्थः । गतेन प्राप्तेन त्वया विष्णुशब्देन समासे सति महतः महच्छब्दस्य अलोऽन्त्यपरिभाषया अन्त्यस्य तकारस्येत्यर्थः । आकारे आत्वे सति भवति सतीत्यर्थः । सत्याकारे इत्यत्र सति आकारे इति छेदः । तान्तत्वं तकारान्तत्वं अस्तमेति न दृश्यते । आकारादेशेनापहृतत्वात् महाविष्णुरित्येव निष्पद्यते रूपं न तु महद्विष्णुरिति भावः । अत्र 'आन्महतस्समानाधिकरण' इति सूत्रार्थोऽनुसन्धेयः ॥

यथावा—

त्वां विदितवान् सदासंबुद्धौ विष्णो महर्षि-विहितगुणम् । त्वयि सुप्रत्ययलोपाद्विसर्जनीयो हि भवति दूरेसः ॥८३७॥

अत्र भगवतो विष्णोः विष्णुशब्दस्य च श्लेषः । तथाहि—हे विष्णो! महांश्चासौ ऋषिर्वेदः पराशरादिर्मुनिश्च 'ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्' इति मेदिनी । तेन विहिताः अनुशिष्टाः गुणाः सर्वकारणत्वसर्वज्ञत्वसर्वोत्तमत्वादयो यस्य तं तथोक्तम्। "स कारणं करणाधिपाधिपः । यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् । विष्णुः परमः,

विष्णोस्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ।
तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।
परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेशे ॥
समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ............................ .... ॥"

इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रख्यापितकल्याणगुणमित्यर्थः । सदा बुद्धौ मनसि विदितवान् ज्ञातवान् आसं सद्भावभागभवम् । 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इति श्रुतेः। अनेवंभूतस्तु असत्त्वाद्दूरतस्त्याज्य इत्याह—त्वयीति । दूरेस इत्यत्र दूरे अस इति छेदः । स न भवतीत्यसः अतथाविधः उक्तविधं त्वामविदितवानित्यर्थः। अत एव त्वयि विषये सुप्रत्ययस्य शोभनस्य ज्ञानस्य महाविश्वासस्य वा लोपात् दूरे विसर्जनीयः त्याज्यो भवति । हीति प्रसिद्धौ । ईदृशस्सतां बहिष्कार्य एवेति प्रसिद्धमेवेति भावः । अन्यत्र—हे विष्णो!

विष्णुशब्द! त्वां, अस्मिन्पक्षे सदा संबुद्धौ इति छेदः । संबुद्धौ 'एकवचनं संबुद्धिः' इति संकेतिते संबोधनप्रथमैकवचने परत इति शेषः । महार्षिणा पाणिनिना विहितः गुणः यस्य तं 'ह्रस्वस्य गुणः' इति सूत्रेण संबुद्धौ परतो गुणविधानादिति भावः । सदा विदितवान् आसम् । त्वयि विष्णौ इत्यत्रेति भावः । सुप्रत्ययस्य सु इत्याकारकप्रत्ययस्य लोपात् 'एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सूत्रेण संबुद्धिहलो लोपादित्यर्थः । सः सुप्रत्ययसकारस्य स इति षष्ठ्येकवचनम् । विसर्जनीयः 'ससजुषोरुः' इति रुत्वानन्तरभावी 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विहितो विसर्गः दूरे भवति हि । परमस्थानिनस्सकारस्यैव लोपे कानाम तत्स्थानिकरुत्वावलम्बिनी विसर्गकथेति भावः ॥

यथावा —

इह विष्वग्देवोऽश्रुतिपरोऽद्रिमग्र्यं श्रितो महादेशम् । अप्रत्ययोऽपि धातुस्तदगश्चायं समन्ततोऽदृश्यः ॥ ८३८ ॥

अत्र श्रीनिवासस्य प्रकृतस्य विष्वग्देवशब्दयोरप्रकृतयोश्च श्लेषः । तथाहि—परो देवः वासुदेवः धातुः ब्रह्मणः अप्रत्ययोपि अनधीनोपि ।

प्रत्ययः प्रार्थितत्वेऽपि सनादिज्ञानयोरपि ।
आचारे शपथे रन्ध्रे विश्वासाधीनहेतुषु ॥

इति मेदिनी । ब्रह्मणा ध्यातुमशक्योपीत्यर्थः । धातुरप्यप्रत्यय इति वा योजना । अग्र्यं श्रेष्ठं अद्रिं शेषाचलं तस्यैव प्रकृतत्वात् 'एष शेषाचलो नाम गिरीणामुत्तमो गिरिः' इत्युक्तेश्च । महादेशं पूज्यप्रदेशं शेषाचलं नाम दिव्यदेशमित्यर्थः ।

श्रितस्सन् इह अस्मिन्नद्रौ विष्वक् समन्ततः अञ्चति संचरति विहरतीति यावत्। तत् तस्मात् भगवद्विहरणाद्धेतोः अयं भगवद्विहारस्थानभूतः अगश्च गिरिरपि समन्ततः परितः दृश्यः द्रष्टव्यः, जनैरिति शेषः । न केवलं भगवानेव दर्शनीयः अपितु सर्वतोपि भगवत्संचरणात्पावनतमोऽयं गिरिरपि सर्वैस्सर्वतो दर्शनीय एवेत्यर्थः ॥

पक्षे—विष्वक् विष्वगित्याकारकः देवः देव इत्याकारकश्च शब्दः अञ्चतिः अञ्चुधातुः परो यस्य सः अञ्चतिपरस्सन्। अञ्चतीति श्तिपा निर्देशः । अग्रचं अग्रे टिस्थाने भवं अद्रिं अद्रीत्याकारकं महान्तं अनेकाल्त्वाद्बृहन्तं आदेशं श्रित प्राप्तः भवति । ननु अञ्चतिपरो विष्वक् देवश्च यद्यद्र्यादेशं प्राप्नुयात्तर्हि विष्वगञ्चनं देवाञ्चनमित्यत्रापि विष्वग्देवयोरद्र्यादेशस्स्यादित्यत आह—अप्रत्ययोपि धातुरिति । अस्मिन्पक्षे इहेत्येतदत्रान्वेति। इह अञ्चतिपर इत्यत्र विद्यमानः धातुरपि अञ्चुधातुश्च अप्रत्ययः अविद्यमानः प्रत्ययो यस्मादित्यप्रत्ययः क्विबन्त इत्यर्थः। क्विपस्सर्वस्यापि लोपादविद्यमानत्वम्। यद्वा अविद्यमानः प्रत्ययः अप्रत्यय इति तत्पुरुष एव । तस्य धातुविशेषणत्वेन तदन्तलाभः अविद्यमानप्रत्ययान्तः क्विबन्त इत्यर्थः। अन्यथा विष्वगञ्चनमित्यादावविवाद्र्यादेशानापत्तेरिति भावः। तत् तस्मात् विष्वग्देवयोष्टिस्थाने अद्र्यादेशाद्धेतोः समन्ततः सम्यगन्ते विद्यमानः अयं प्रकृते विष्वक्छब्दे देवशब्दे च स्थितः अग इत्यत्र अक् अः इति छेदः । 'झलां जशोऽन्ते' इति ककारस्य जश्त्वेन गकारः यथासंख्यं विष्वक्छब्दस्थः अक् इत्याकारकवर्णसमुदायः अश्च देवशब्दस्थः अकारश्चेत्यर्थः । अदृश्य इति छेदः। अद्र्यादेशेनापहृतत्वान्न दृश्यत इत्यर्थः। अत्र 'विष्वग्देव-

योश्च टेरद्र्यश्चतावप्रत्यये' इति सूत्रार्थ उपपादितप्रकारेणानुसन्धेयश्शब्दविद्यानिष्णातैरित्यलम् । यद्वा - समं ततः अदृश्य इति त्रिधा छेदः । ततः अद्र्यादेशादनन्तरं तत् तस्मात् अद्र्यादेशादेव हेतोः अयं प्रकृतविष्वग्देवशब्दयोर्विद्यमानः अक् अश्च उक्त एवार्थः । समं तुल्यं यथा स्यात्तथा अदृश्यः । द्वयोरप्यनयोश्शब्दयोष्टेरद्र्यादेशेन अकः अस्य चापहाराददर्शनमनयोस्तुल्यमेवेति भावः । अथवा तत् उक्तादेव हेतोः ततः सार्वविभक्तिकस्सप्तम्यास्तसिः । तयोः विष्वग्देवशब्दयोरित्यर्थः । अयं बुद्धिस्थः अक् अश्च समं तुल्यं अदृश्य इति ॥

यथावा—

**लक्ष्म्यास्सख्युः पत्युर्युक्तं प्रथतेऽघितागुणाभावः । इदमपि युक्तं विष्णो यद्भविताप्रत्ययस्य नाभावः ॥८३९॥**

अत्र प्रस्तुतस्य भगवतः अप्रस्तुतानां लक्ष्मीसखिपतिशब्दानां च श्लेषः । तथाहि—लक्ष्म्याः सख्युः सुहृद्भूतस्य अनेनानुरागपरिपूर्णता द्योतिता । पत्युः भर्तुः श्रीनिवासस्य अयं च श्रीपतित्वेन निर्देशः अनुपदविवक्षिताया उभयलिङ्गतायास्तदेकाश्रयत्वं व्यञ्जयितुम् । अत एव हि 'श्रियःपतिर्निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानः' इत्यभाषि भगवद्भाष्यकारैः । अघमस्यास्तीत्यघी तस्य भावः अघिता । सा चासौ गुणश्च अघितागुणः, तस्याभावः प्रथते प्रसिद्ध्यतीति युक्तम् । 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः । एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' इत्यादिश्रवणात् । प्रत्ययस्य ज्ञानस्य उपलक्षणमिदं शक्तिबलैश्वर्यादीनामपि । न अभावः इति छेदः । अभावः न

भविता सत्त्वैव भवितेति यत्, नञ्द्वयेन संभाव्यभावनिषेधो व्यावर्तितः । इदमपि युक्तं विद्म. 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इत्यादिश्रुतेः । ज्ञानोपलक्षितकल्याणगुणवैधुर्यमस्य न कदाऽपि भवेदिति भावः । आभ्यां पूर्वोत्तरार्धाभ्यां 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः' इति श्रुता अखिलहेयप्रत्यनीकता 'सत्यकामस्सत्यसंकल्पः' इति श्रुता अनन्तकल्याणगुणाकरता च क्रमेण दर्शिता ॥

अन्यत्र—लक्ष्म्याः लक्ष्मीशब्दस्य । अर्थगतस्य स्त्रीत्वस्य शब्दे आरोपः । सख्युः सखिशब्दस्य पत्युः पतिशब्दस्य च । घितागुणाभावः घिता घिसंज्ञकत्वम् । तेन यो गुणः 'घेर्ङिति' इति विहितो गुणः तस्य अभावः प्रथत इति युक्तम् । लक्ष्मीशब्दस्य नदीसंज्ञकदीर्घैवर्णान्तत्वेन 'शेषो घ्यसखि' इत्यनदीसंज्ञकह्रस्वेवर्णोवर्णान्तत्वनिबन्धनघिसंज्ञायास्तत्राप्रवृत्तेः । तत्रैव घिसंज्ञाविधायके सूत्रे असखीति सखिशब्दस्य पर्युदस्तत्वात् । सखिशब्दस्य 'पतिस्समास एव' इति समास एव पतिशब्दस्य घिसंज्ञाया नियमितत्वेनासमस्तपतिशब्दस्य च तदभावात् घिसंज्ञाप्रयुक्तगुणाभावः प्रसिद्ध इति युक्तम् । भविताप्रत्ययस्येत्यत्र भविता आप्रत्ययस्येति छेदः । आप्रत्ययस्य आङ्संज्ञस्य टाप्रत्ययस्य नाभावः 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति विहितस्य नादेशस्याभावः भवितेति यत् इदमपि युक्तं विद्मः । लक्ष्मी-सखि-पतिशब्दानामुक्तरीत्या घिसंज्ञाया एवाभावान्न तत्कार्यनाभाव इति भावः । यद्वा अपिशब्दो गर्हायां, अपीदं युक्तं विद्म इति योजना । अस्मिन् पक्षे—आप्रत्ययस्य आङः नाभावः नात्वं भवितेति यत् तत् युक्तं विद्मः किं ? तेषां शब्दानां घिसंज्ञाया एवाभावेन आङो नादेशो भवितेति न युक्तं विद्म इत्यर्थः ॥

यथावा—

त्वद्भोगीनस्स्वामिन् विश्वजनीनस्तथाऽऽत्मनीनश्च । भाति हितार्थसुखेनप्रथितोऽथात्मा प्रकृत्या च ॥८४०॥

अत्र भगवदुपासकस्य प्रकृतस्य त्वद्भोगीनादिशब्दस्याप्रकृतस्य च श्लेषः । तथाहि हे स्वामिन्! त्वद्भोगीनः तवैव भोगाय हितः न तु स्वस्य, त्वद्भोगसंपादनैकतानः त्वच्छेषतैकरस इति यावत् । 'परगतातिशयाधानेच्छया उपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपं स शेषः' इति हि शेषलक्षणम् । अत एव विश्वजनीनः सर्वजनाय हितः आत्मनीनः आत्मने हितश्च स्वपरहिताचरणैकवृत्तिरित्यर्थः । उक्तं च—'स्वपरहितपरं देशिकम्' इति । ईदृशः आत्मा चेतनः हितार्थसुखेन हितं भगवत्प्राप्त्युपायः अर्थः परमपुरुषार्थः हितार्थशब्दौ तद्ज्ञानपरौ । इदं तत्त्वज्ञानस्याप्युपलक्षकम । ताभ्यां यत्सुखं आनन्दः तेन प्रथितस्सन् भाति । अथ शरीरावसाने प्रकृत्या च आविर्भूतगुणाष्टकादिविशिष्टत्वरूपेण स्वस्वभावेन च भातीत्यनुषज्यते दीप्यते । त्वच्छेषतैकरसो विश्वजनाय स्वच्छात्रभूतायात्मने च हितकृच्चेतनस्तत्त्वहितपुरुषार्थज्ञानप्रयुक्तानन्दवत्तयेह प्रतीतश्शरीरावसाने चाविर्भूतस्वाभाविकापहतपाप्मत्वादिब्राह्मगुणो नित्यासंकुचितज्ञानतया प्रकाशते मुक्तो भवतीति भावः ॥

अन्यत्र—त्वद्भोगीन इति शब्दः विश्वजनीन इति शब्दः आत्मनीन इति शब्दश्च हितार्थसुखेनप्रथित इति समस्तं पदम् । हितार्थे हितरूपेऽर्थे 'तस्मै हितम्' इति सूत्रेण विहिते शोभनश्चासौ खश्च सुखः 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः'

इति विहितो यः खप्रत्ययः तस्य यः ईनः 'आयनेयीनीयियः' इत्यादिना विहित ईनादेशः तेन प्रथितस्सन् भातीति प्रत्येकं त्वद्भोगीन इत्यादिभिस्संबध्यते । त्वद्भोगीनादिशब्दत्रयस्योक्त-प्रक्रियानिष्पन्नत्वात्तथोक्तिः । अथात्मनीनशब्दे विशेषं च दर्श-यति --अथेत्यादिना । अथेति विशेषद्योतकम् । आत्मा आत्म-शब्दः प्रकृत्या च भाति 'आत्माध्वानौ खे' इति सूत्रविहितं प्रकृतिभावमापन्नः प्रकाशते । यथावस्थितस्वरूप एव भवति, न तु 'नस्तद्धिते' इति टिलोपं प्राप्नोति । खप्रत्ययश्शब्दत्रयेऽप्यविशिष्ट एव, आत्मशब्दे तु प्रकृतिभावो विशेष इति भावः॥

यथावा—

सक्तो भजति दधाति स्पष्टं हिततां फणीश-गिरिभवनः । स्वौजसि परेशताऽस्मिन्ननुमागम-तोविशेषभाग्भवति ॥ ८४१ ॥

अत्र प्रस्तुतस्य भगवतः अप्रस्तुतस्य धाञ्धातोः भजधातोश्च श्लेषः । तथाहि—फणीशगिरिः भवनं यस्य सः श्रीनिवासः भ-जति भक्ते जने सक्तः प्रीतिमान् 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इति गानात् । अत एव हिततां तस्मै भक्तिमते उपायोपेयभावेन हितकारितां दधाति बिभर्ति स्पष्टं नात्र वि-शयलेशोऽपीति भावः । स्वौजसि स्वा ओजसीतिच्छेदः ओजसि 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इति श्रुते दिव्यतेजोरूपे । यद्वा स्वा औजसीतिच्छेदः । आ समन्तात् ओजः प्रकाशो यस्य तस्मिन् सर्वव्यापिनिरतिशयतेजसि अस्मिन् परब्रह्माणि श्रीनिवासे विद्य-माना । स्वा स्वतस्सिद्धा परश्चासावीशश्च परेशः तस्य भावः परेशता पारमैश्वर्यं 'ईशस्सर्वस्य जगतः, एष सर्वेश्वरः' इत्या-

दिश्रुतेः । ननु मागमत इतिच्छेदः । मायाः श्रियः आगमतः संबन्धात् विशेषभाग्भवति ननु । भगवतश्श्रीनिवासस्य स्वाभाविकमैवैश्वर्यं परिमळादिव हेमारविन्दं श्रीसंबन्धादाम्रेडितवैभवं भवत्येवेत्यर्थः । ननुरवधारणे । उत्तरार्धेन परत्वं पूर्वार्धेन सौलभ्यं च दर्शितम् । यद्वा उत्तरार्धस्यैवमर्थः—स्वं ओजः यस्य तस्मिन् स्वौजसि स्वप्रकाशस्वरूपे अस्मिन् श्रीनिवासे विद्यमाना ईशता ऐश्वर्यम् । अनुमागमत इति समस्तं पदम् । अनुमा अनुमानं स्मृतिः आगमः श्रुतिः तयोः अनुमागमतः 'आद्यादिभ्यः' इति सार्वविभक्तिकस्तसिः । परा दूरा 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतेः तदविषय इत्यर्थः । 'परं दूरान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनोः' इति वैजयन्ती । यद्वा—अनुमागमतः श्रुतिस्मृतिभ्यां उक्तेत्यध्याहारः परेशता पारमैश्वर्यं अविशेषभागितिच्छेदः । अविः शैलः 'अवयश्शैलमेषार्काः' इत्यमरः । स चासौ शेषश्च अविशेषः शैलाकारभाक् शेषः शेषाद्रिरित्यर्थः । तं भजतीति तथोक्ता भवति । परस्मिन् ब्रह्मणि विद्यमानं पारमैश्वर्यं सर्वमपि शेषाद्रावेव चकास्ति तस्यात्राविर्भावादिति भावः । अस्मिन् पक्षे उत्तरार्धेनैव क्रमेण परत्वसौलभ्योक्तिः । यद्वा—स्वौजसि स्वमहिमप्रतिष्ठिते 'ओजो बले प्रभावे च' इत्यमरः । भूमविद्यायां 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति प्रश्ने 'स्वे महिम्नि' इत्युत्तरश्रवणात्—

> रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः ।
> ब्रह्मा मामाश्रितो राजन्नाहं कं चिदुपाश्रितः ॥
> ममाश्रयो न कश्चित्तु सर्वेषामाश्रयो ह्यहम् ॥

इति स्मृतेश्च । अस्मिन् भगवति अनुमागमतः श्रुतिस्मृतिभ्यां प्रतिपादितेत्यर्थः । परेशता उक्तोर्थः । शेषाः दासभूताश्चेतनाः तान्

भजतीति शेषभाक् विशिष्य शेषभाक् विशेषभाक् सा न भवतीत्यविशेषभाक् भवति। परस्मिन् ब्रह्मणि तस्मिन् श्रुतिस्मृतिभ्यामुद्धोषितं सर्वशेषित्वं तच्छेषभूतेषु ब्रह्मरुद्रादिषु नित्यसिद्धेष्वनन्तगरुडादिषु वा न संभवतीति भावः। यद्वा न नु मा आगमतः इतिच्छेदः। परा श्रेष्ठा ईशता ऐश्वर्यं यस्यास्सा परेशता। मा श्रीः। स्वौजसि उक्तोऽर्थः। अस्मिन् भगवति आगमतः पञ्चरात्रागमोक्तरीत्या नित्यसंबन्धाद्वा विशेषभाक् भेदभाक् न भवति नु किंतु तादात्म्यापन्नैव भवतीति भावः। 'विशेषोऽवयवे व्यक्तौ तिलकेऽत्यन्तभेदके' इति रत्नमाला। नन्वित्येकमेव पदं वा। अविशेषभाग्भवतीत्येवच्छेदः। तादात्म्यापन्नैव भवतीत्यर्थः॥

अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात्।
तादात्म्यं विद्धि संबन्धं मम नाथस्य चोभयोः॥

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः,

तदन्तर्भावात्त्वां न पृथगभिधत्ते श्रुतिरपि।

इत्यभियुक्तोक्तेश्च। अथवा—परेशता मा स्वौजसि। अस्मिन् उक्त एवार्थः। आगमतः 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, सुमज्जानये'। इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या विशेषभाक् विशेषो विशेषणत्वं व्यावर्तकत्वं, विपूर्वकात् शिषेर्भावे घञ्। तं भजतीति तथोक्ता भवति ननु। स्वरूपनिरूपकतया भगवति विशेषणत्वमुपेयुषी जगत्कारणत्वेन शङ्कितेभ्यश्चतुराननादिभ्यस्तस्य व्यावृत्तिं संपादयतीति भावः। यद्वा—स्वौजसि अस्मिन् सति परेषां चतुर्मुखादीनां ईशता आगमतः शास्त्रात् विशेषभाक् उत्कर्षभाक् मा भवति ननु। जागरूके भगवतः पारमैश्वर्ये अन्येषामैश्वर्यं शास्त्रदृष्ट्या कथमुत्कर्षमाप्नुयादिति भावः। माशब्दो निषेधार्थकः। 'माऽव्ययं प्रतिषेधे स्यात्, मा निषेधेऽव्ययं मतम्' इति रत्नमालाविश्वौ॥

धातुपक्षे—फणीशगिरि पतञ्जलिवाचि महाभाष्ये भवनः सत्तां लभमानः भवतेर्नन्द्यादित्वात्कर्तरि ल्युः, बाहुलकाल्लुड्वा कर्तरि। व्याकरणे पठित इति यावत्। दधातिस्पष्टमित्यत्र दधाति-रिति छेदः। 'शर्परे खरि वा विसर्गलोपः' इति पाक्षिको विसर्गलोपः। दधातिः धाञ्धातुः श्तिपा निर्देशोऽयम्। क्तेन क्तप्रत्ययेन सह वर्तत इति सक्तस्सन् स्पष्टं हिततां हित इति रूपं भजति प्राप्नोति। धाञः क्तप्रत्यये 'दधातेर्हिः' इति ह्यादे-शविधानादिति भावः। अस्मिन् धाञ्धातावेव शता लटो विहितश्शत्रादेशः स्वौजसि सुश्च औश्च जश्चत्येतेषां समा-हारः स्वौजस् तस्मिन् परे परतो विद्यमाने सति। न नुमाग-मत इति छेदः। नुमागमतः 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति विहितानुमागमात् विशेषभाक् नकारसाहित्येन वैलक्षण्यभाक् न भवति। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति तस्य नुम्निषेधादिति भावः। यद्वा—फणीशगिरिभवेति संबुद्ध्यन्तं पदम्। न इति पृथ-क्पदम्। फणीशगिरि पातञ्जलभाष्ये विषये जात! 'गोषु प्रसू-त' इत्यादौ गा एवानुभवितुं जातेतिवत् महाभाष्यमेवाध्येतुं प्रसूतेति कंचिच्छात्रं प्रति केनचिच्छाब्दिकेनाचार्येण कृतं सं-बोधनम्। भजति भजच्छब्दे सक्तः संबद्धः शता शत्रादेशः स्वौजसि परे सति नः नुमागमसंबन्धिनकारस्य हिततां अ-नुकूलतां दधाति धत्ते 'उगिदचाम्' इत्यादिना नुमागमविधा-नादिति भावः। उत्तरार्धे—न नुम् आगमत इति पदत्रयम्। अस्मिन् पूर्वोक्ते शतरि नुम् नुमागमः आगमतः आ इत्याका-रकवर्णस्य आगमतः गमतो वा। यथासंभवं सुप्रत्यये परे 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इति विहितदीर्घसंबन्धादित्यर्थः। वि-शेषभाक् वैलक्षण्यभाक् न भवति। शत्रन्तस्य अदन्ततया

अत्वन्तत्वाभावादुक्तदीर्घाप्राप्तेरिति भावः । अत एव हि भवन्नित्यत्र 'शत्रन्तस्य तु अत्वन्तत्वाभावान्न दीर्घः' इति कौमुदीग्रन्थः । यद्वा—न नु मागमत इति छेदः । अस्मिन् प्रकृते भजच्छब्दे विद्यमानः शतेत्यनुषज्यते । शता शतृप्रत्ययः मागमतः मुगागमसंबन्धिमकारागमतः विशेषभाक् न भवति नु । शानचि विहितस्य 'आने मुक्' इति मुगागमस्य शतर्यप्रसक्तेस्तत्प्रयुक्तं वैलक्षण्यं न भजतीत्यर्थः । नन्वित्यवच्छेदे वा । मागमतः विशेषभाक् भवति ननु । नन्विति प्रश्ने वा । न भवत्येवेति भावः । इतोऽपि प्राथमिकी व्याख्यैव स्वारसिकीति सावधानैरिदमनुसन्धेयम् ॥

यथावा—

हन्तातोऽनुपसर्गे को भवति प्रत्ययोऽथ सुखदश्च । जाग्रत्यधिपे तस्मिन्नत्रातश्चोपसर्ग इति कस्स्यात् ॥८४२॥

अत्र प्रकृतस्य भगवतः अप्रकृतस्य वक्ष्यमाणसूत्रद्वयस्य च श्लेष । हन्तेति वक्ष्यमाणार्थपर्यालोचनजनितहर्षे । वाक्यारम्भे वा । अनुपसर्गे जगतामुपद्रवनिवर्तने विषये इति यावत् । 'उपसर्ग उपद्रवे । प्रादौ च रोगभेदे च' इति हेमचन्द्रः । प्रत्ययः हेतुः 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । सुखदश्च संपत्प्रयुक्तसौख्यदायकश्च । अतः अकारवाच्याद्भगवतः, प्रस्तुतादस्माद्वा को भविता जगतां विपदपाकरणे सुखवितरणे च भगवतोऽस्मादन्यः को हेतुर्भवेदित्यर्थः । तस्मिन् अधिपे 'एष भूताधिपतिरेष भूतपालः' इति श्रुते सर्वजगन्नेतरि सर्वजगदवितरि भगवति जाग्रति सति उपसर्गे विपदि

अत्रातः अरक्षित इति च कः स्यात् सति भगवति रक्षितरि अपिनाम कश्चिदरक्षित इति च विद्येतेति भावः । अत्र—

न संपदां समाहारे विपदां विनिवर्तने ।
समर्थो दृश्यते कश्चित्तं विना पुरुषोत्तमम् ॥

इत्यादिप्रमाणार्थोऽनुसंहितः ॥

पक्षे—'आतोऽनुप्रसर्गे कः, आतश्चोपसर्गे' इति सूत्रद्वयार्थस्योदाहरणो द्रष्टव्यः । तथाहि—आतः आकारान्ताद्धातोः अनुपसर्गे अनुपसर्गादिति पञ्चम्यन्ततया विपरिणामः कर्मणीत्यनुवर्तते । कर्मण्युपपदे कः प्रत्ययः भवतीति सूत्रार्थः । उदाहरणमाह—अथेति । अथ सुखदश्च भवति । सुखं ददातीति सुखद इति सुखशब्दे कर्मण्युपपदे अनुपसृष्टाद्दाधातोः कप्रत्ययेन निष्पन्नत्वात्तस्येति भावः । किंच तस्मिन् प्रसिद्धे अत्र अस्मिन् बुद्धिस्थे जाग्रति प्रकाशमाने अधिपे अधिपशब्दे 'आतश्चोपसर्गे' इति कस्स्यात् । आतः आकारान्ताद्धातोः उपसर्गे अधीत्याकारकोपसर्गे उपपदे कप्रत्ययस्स्यादिति तदर्थः । अत्र पद्ये 'आतोऽनुपसर्गे कः, आतश्चोपसर्गे' इति सूत्रानुपूर्व्यैव घटितेति ध्येयम् ॥

यथावा—

## एष त्वच्चरणलिहश्शेषमहीध्रोगुणोत्तरो भाति ।
## केनास्य गुणनिषिद्धिश्श्रीनाथ कृता श्रुता दृष्टा ॥

अत्र भगवच्चरणलिहस्य शेषमहीध्रस्य प्रकृतस्य तद्वाचकशब्दयोरप्रकृतयोश्च श्लेषः । तथाहि—हे श्रीनाथ! एषः शेषमहीध्रः त्वच्चरणौ लेढीति त्वच्चरणलिहः त्वत्पादपद्मस्पर्शीति

यावत् । अत एव गुणैः पावनत्वरम्यत्वादिभिः उत्तरः श्रेष्ठस्सन् भाति दीप्यते। अस्य एवं विधस्य शेषाद्रेः गुणनिषिद्धिः पूर्वोक्तगुणनिषेधः। निपूर्वकात्सेधतेः क्तिन् । केन पुंसा कृता क्लृप्ता, केन श्रुता, केन दृष्टा वा । अस्य पावनत्वादिगुणनिषेधो न केनचित्कृतश्श्रुतो दृष्टो वेत्यर्थः ॥

अन्यत्र - त्वच्चरणलिहशब्दः शेषमहीध्रशब्दश्च, अगुणोत्तर इतिच्छेदः । अगुणं गुणरहितं उत्तरं लिहः ध्र इत्याकारकमुत्तरपदं यस्य स तथोक्तः भाति। ननु अनयोश्शब्दयोः क्रमेण कुतो लघूपधलक्षणः आर्धधातुकलक्षणश्च गुणो न प्रवर्तत इत्यत आह—केनेति। अस्य लिहशब्दस्य ध्रशब्दस्य च कृता कृत्संज्ञकेन केन 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' इति च विहितेन कप्रत्ययेन हेतुभूतेन गुणनिषिद्धिः 'क्ङिति च' इति विहितो गुणनिषेध इति भावः । श्रुता शास्त्रेषु निशमिता। दृष्टा प्रयोगेषु दृष्टा च। लिहध्रशब्दयोरुभयोरपि उक्तरीत्या कप्रत्ययान्ततया कित्वप्रयुक्तगुणनिषेधः श्रुतो दृष्टश्चेत्यर्थः। यद्वा—त्वच्चरणलिहः शेषमहीध्रश्च अगुणोत्तरो भातीति केनचिदुक्ते केनास्य गुणनिषिद्धिः कृता श्रुता दृष्टा चेति प्रश्नाभिन्नमुत्तरमिदमिति वक्ष्यमाणचित्रालङ्कारश्चेत्ययं विशेषोऽस्मिन्नर्थे ॥

यथावा—

कश्चित्त्वयि लुम्पति चेल्लुम्पतु सुप्रत्ययं परब्रह्मन्। तव ननु यदाकदावा भविता कश्चित्ततो नलोपो वा ॥ ८४४ ॥

अत्र परब्रह्मणश्श्रीनिवासस्य परब्रह्मशब्दस्य च प्रकृताप्रकृतयोः श्लेषः। तथाहि—हे परब्रह्मन्! कश्चित् अस्थिरहृदय इति भावः। त्वयि विषये सुप्रत्ययं विजातीयप्रत्ययानन्तरिततया शोभनं अनवरतभावनात्मकं ज्ञानं उपासनमित्यर्थः। लुम्पति चेत् विच्छिनत्ति चेत् कामं लुम्पतु विच्छिनत्तु अन्तरयत्विति त्यर्थः। ततः प्रत्ययलोपात् ननु भगवन्! तव यदाकदावा। नलोपोवेत्यत्र विद्यमानो वाशब्दो भिन्नक्रमः कश्चिदित्यत्रान्वेति। कश्चिद्वा लोपः हानिः न भविता। यदि यःकश्चित् त्वद्ध्यानविच्छेदं कुर्यात्ततस्तवाखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणैकतानस्य तत्कृता न काचिदपि हानिस्संभवेत् प्रत्युत तस्यैव। 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य'

यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिस्सा च विक्रिया॥

इति श्रुतिस्मृतिदर्शितं भयं भविष्यतीति भावः॥

पक्षे—हे परब्रह्मन्निति शब्दस्यैव संबोधनम्। कश्चित् शब्दविदिति भावः। त्वयि परब्रह्मशब्दे त्वयि सुप्रत्ययं परब्रह्मन्निति संबोधनवशात्ससंबुद्धिसुप्रत्ययमित्यर्थः। लुम्पति चेत् 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सूत्रेणेति भावः। लुम्पतु कामं लुप्यात्। ततः लोपात् यदाकदावा यस्मिन्कस्मिन्नपिवा काले नलोपः नकारलोपः वा भविता विकल्पेनैव भविता। न तु राजन्नित्यादौ नान्तपुल्लिङ्गशब्द इव सर्वथा न भवितैवेति भावः। 'संबुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वक्तव्यः' इति नान्तनपुंसकलिङ्गशब्दसंबुद्धौ विकल्पेन नकारलोपानुशासनात्। अयं वक्ष्यमाणावज्ञालङ्कारगर्भित इति ध्येयम्॥

यथावा—

संज्ञाऽनुसंहिता तव संतनुतेऽभीप्सितं यथोद्देशम् । उचितार्थाध्याहारादूरीकृतकार्यकालपक्षा च ॥ ८४५ ॥

अत्र भगवन्नामशब्दशास्त्रीयसंज्ञायाश्च प्रकृताप्रकृतयाः श्लेषः । तथाहि—हे भगवन्निति प्रकरणाल्लभ्यते । उचितः समञ्जसः अर्थाध्याहारः पुरुषार्थप्रदानं यस्यास्सा उचिताध्याहारा अभीप्सितसकलपुरुषार्थदायिनीत्यर्थः । 'धर्मार्थी प्राप्नुयाद्धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात्' इत्यादिना नामसंकीर्तनफलोक्तः । 'उचितं स्यान्मिते योग्ये ज्ञातेऽभ्यस्ते समञ्जसे' इति रत्नमाला । तव संज्ञा नामधेयं 'संज्ञा स्याच्चेतना नाम' इत्यमरः । अनुसंहिता कीर्तिता सती यथोद्देशं उद्देशमनतिक्रम्य संकीर्तयितॄणामभिसन्ध्यनुरोधेनेत्यर्थः । अभीप्सितं अभिलषितमर्थं संतनुते उदाहृतप्रमाणानुसारादिति भावः । न केवलमिष्टप्रापणमेव संतनुते अपित्वनिष्टनिवारणमपीत्याह—दूरीति । दूरीकृतं कार्यं दुष्कृतिनां यातनाप्रापणरूपक्रिया येषां ते तथोक्ताः कालस्य कृतान्तस्य पक्षाः सहायाः भटा इति यावत्, यया सा तथोक्ता च भवति । 'पक्षो मासार्धके पार्श्वे' इत्यारभ्य 'बले सखिसहाययोः' इति मेदिनी । भगवन्नामाभिलपनमात्रेणैव तत्कर्तॄणां सर्वाशुभनिवृत्तौ तत्र यमस्य तद्भटानां वा प्राभवमकिञ्चित्करमिति भावः । यथोच्यते वैष्णवे—

कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥

इति,

किंकराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा ॥

इत्यादिकमप्यत्रैवानुकूलम् ॥

पक्षे--अनुसंहिता शब्दशास्त्रेणोदिता संज्ञा अभ्यासादिसंज्ञा यथोद्देशं स्वप्रदेशमनतिक्रम्य स्थिता सती उचितस्य अर्थस्य अध्याहारात् ऊहात् 'अध्याहारस्तर्क ऊहः' इत्यमरः। 'अध्याहारो नाम न्यूनपूरणार्थाधिकपदपदार्थान्यतरोपादानम्' इत्याहुः। अभीप्सितं वाक्यार्थबोधनरूपमभीष्टं संतनुते। यथोद्देशपक्षे संज्ञाया अर्थाध्याहारेण वाक्यैकवाक्यतया कार्यकारित्वस्य शाब्दिकैस्सिद्धान्तितत्वादिति भावः। किंच—ऊरीकृतः कार्यकालपक्षो यया सा ऊरीकृतकार्यकालपक्षा च। अभीप्सितं संतनुते। संज्ञायाः कार्यकालत्वेन पदैकवाक्यतयाऽपि वाक्यार्थबोधनस्य सिद्धान्तितत्वादिति भावः। यथा परिभाष्यते—'यथोद्दशं संज्ञापरिभाषं, कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' इति च। 'यथोद्देशं उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशं, उद्देश उपदेशदेशः अधिकरणसाधनश्चायं, यत्र देशे उपदिश्यते तद्देश एव वाक्यार्थबोधेन गृहीतशक्त्या गृहीतपरिभाषार्थेन च सर्वत्र शास्त्रे व्यवहारः' इति प्रथमपरिभाषार्थः। देशश्चोच्चारणकाल एवात्र शास्त्रे व्यवह्रियत इति संक्षेपः। द्वितीयपरिभाषार्थस्तु—'कार्येण काल्यते स्वसंनिधिं प्राप्यत इति कार्यकालं स्वसंस्काराय स्ववृत्तिलिङ्गचिह्नितपरिभाषाणामाक्षेप इति यावत्' इति। यथोद्देशपक्षे संज्ञायास्स्वदेशीयत्वं, कार्यकालपक्षे विधिदेशीयत्वमिति विवेकः॥

यथावा—

**योब्रह्मायश्चशिवः परेणभवताऽखिलेश्वरसहो-**

क्तौ । येऽन्येतदादिमास्तेऽप्यन्ते भवदेकशेषतां दधते ॥८४६॥

अत्र प्रकृतस्य ब्रह्मादिपदार्थस्य चतुर्मुखादेः अप्रकृतस्य ब्रह्मादिशब्दरूपार्थस्य च श्लेषः । तथाहि—हे अखिलेश्वर! परेण सर्वोत्तरेण भवता त्वया सह उक्तौ 'स्थित्यादयो हरिविरिञ्चिहरेति लीलाः' इत्यादौ तुल्यताभ्रमास्पदतया सहपठितौ । यो ब्रह्मा चतुर्मुखः यश्च शिवः शम्भुरित्येतौ 'हिरण्यगर्भस्समवर्तताग्रे, न सन्न चासच्छिव एव केवलः' इति श्रवणात्कारणत्वशङ्काविषयभूतौ याविल्यर्थः । तावेवादिमौ येषां ते तदादिमाः । य अन्ये देवाः 'नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायानस्ति वृत्रहन्' इत्यादिना कारणत्वशङ्कागोचरतयोक्ता इन्द्रादयः । तेऽपि अन्ते वाक्यार्थनिर्णयावसरे 'अन्तोऽस्त्री निश्चये नाशे स्वरूपेऽग्रेऽन्तिकेऽन्तरे' इति रत्नमाला । स्वरूपे वा । भवदेकशेषतां भवत एव शेषतां मयूरव्यंसकादित्वात्समासोऽस्वपदविग्रह इति लक्ष्मीसहस्ररत्नप्रकाशिकायां निरूपितमस्माभिः । सम्यग्विमर्शे ब्रह्मादयस्सर्वेऽपि भवदेकशेषस्वरूपा एवेति निश्चीयेरन् नतु कदाऽपि त्वामिव सर्वशेषिण इतीनि भावः । यद्वा—अन्ते प्रळये भवानेव शेषो येषां ते भवदेकशेषाः तत्तां दधते ॥

ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ।
आभूतसंप्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान् ।
एकस्तिष्ठति विश्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः ॥
नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकश्शिष्यते शेषसंज्ञः ॥

इत्याद्युक्तरीत्या भवदेकशेषत्वं दधते त्वयि प्रलीयन्त इत्यर्थः। अखिलेश्वरेतिसंबोधनमीदृग्विशेषमभिसंधायैवेति ध्येयम् ॥

अप्रकृतपक्षे तु - यो ब्रह्मा ब्रह्मशब्दः यश्च शिवः शिवशब्दः परेण उत्कृष्टेन भवता भवच्छब्देन। उत्कर्षश्चास्य वक्ष्यमाणरीत्यासर्वैस्सहोक्तौ स्वैकशेषत्वकृत इति ध्येयम्। सहोक्तौ इकारान्तसप्तम्येकवचनमिदम्। सहवचने सतीत्यर्थः। अन्ते विग्रहावसाने भवदेकशेषतां भवच्छब्दैकशेषतां दधते धत्ते। 'दध धारणे' भौवादिकादस्माल्लट्प्रथमैकवचनम्। ब्रह्मशिवशब्दाभ्यां प्रत्येकमन्वेति। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इत्यनुशासनात्। ब्रह्मा भवांश्चेति शिवो भवांश्चेति च विग्रहे भवच्छब्दस्यैव शिष्यमाणत्वादिति भावः। ये अन्ये तदादिमाः तद् यद् एतद् इत्यादयः तेऽपि शब्दाः परेण त्यदादिगणे सर्वेभ्यः परत्र पठितेन भवता सहोक्तौ अन्ते विग्रहावसाने भवदेकशेषतां भवच्छब्दमात्रशेषतां दधते बिभ्रति। 'डु धाञ् धारणपोषणयोः' इति जौहोत्यादिकाद्धातोर्लट्प्रथमबहुवचनम्। 'त्यदादीनां मिथस्सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इति। स च यश्च एष च भवांश्चेति विग्रहे भवन्त इति परभूतभवच्छब्दस्यैव शेषणादिति भावः ॥

यथावा—

**उपसर्गविरलभावो भ्वादौ जनितासदावलीडागमवान्। तान्तः पलायितस्स्याद्धातुर्भवतोऽहितोय एवानन्त ॥ ८४७॥**

अत्र भगवतश्श्रीनिवासस्य प्रकृतस्य पतञ्जलेरप्रकृतस्य च श्लेषः। हे! अनन्त! भगवन्! धातुः धारयितुः पोष्टुश्च "एष धाता विधाता च" इत्युक्तेः। धाञस्तृच्। भवतः तव भ्वादौ भूलोकादिलोके जनिता उत्पन्नः। जनेस्तृच्। यः चेतनः

असदावलीडागमवान् असतां खलानां आवली पङ्क्तिः तस्याः ईशः प्रधानभूताः । ईड्छब्दोऽयम् । तेषां आगमस्संसर्गः तद्वान् असत्संसर्गदूषित इत्यर्थः । यद्वा—असदावलेः इडाः वाचः "भूगोवाचस्त्विडा इलाः" इत्यमरः । तदागमवान् नित्यमसदालापशालीत्यर्थः । नित्ययोगे मतुप् । अथवा असदावलेः इडाः वाचः ताभिः आगमवान् शास्त्रवान् । ता एवागमश्शास्त्रं तद्वान्वा । असद्वाच एवास्यानुष्ठानविधायिन्य इति भावः । अत एव अहित एव स्या । दुरन्तदुष्कर्मवशंवदत्वनिबंधनासत्संसर्गदूषितविवेकतया त्वयि विद्वेषवानेव भवेदित्यर्थः । भ्वादौ जनितः यः असदावलीडागमवान् सन् धातुर्भवतः अहित एवेति योजना । अर्थस्तु तुल्य एव । य इत्यस्योत्तरवाक्यगततया न पूर्ववाक्ये तद्वृत्तोपादानावश्यंभावः । सः चेतनः उपसर्गविरलभावः उपसर्गैः उपप्लवैः 'उपसर्ग उपद्रवे । प्रादौ च रोगभेदे च" इति हेमचन्द्रः । विरलः पेलवः अतिमात्रलघुरित्यर्थः, भावः सत्ता स्वभावः अभिप्रायः चेष्टा जन्म वा यस्य स तथोक्तस्सन् । "पेलवं विरलं तनु । भावस्सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मस्विव" इति चामरः । अत एव तान्तः ग्लानः पलायितश्च स्यात् । दीनः काप्यवस्थितिमलभमानो यत्र कापि धावेदित्यर्थः । भगवद्विद्वेषिणः क नु श्रेयस्संपद्येतेति भावः।

पक्षे - हे ! अनन्तेति पतञ्जलित्वेनावतीर्णस्य शेषस्य संबोधनं। भवता ऊहितः अय इति च्छेदः । भवता त्वया ऊहितः विचारितः । भवतः हितः अय इति वा छेदः । भवतः हितः ज्ञातः पथ्य इति वा । 'हि गतौ' कर्मणि क्तः । ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः । 'हितं पथ्ये गते धृते' इति मेदिनी । भवत इति शेषे षष्ठी 'न लोक' इति निषेधस्तु कारकषष्ठीविषयः । यद्वा—'मतिबुद्धि'

इति सूत्रविहितः क्तः। 'क्तस्य च वर्तमाने' इति 'न लोक' इति निषेधापवादभूता षष्ठी। भ्वादौ भ्वादिगणे जनिता प्रादुर्भूतः। स्थित इति यावत्। अयः अयधातुः। शपा निर्देशोऽयम्। उपसर्गे स्वसंबन्धिनि विवक्षिते परेत्याकारकोपसर्गे, पलायित इति वक्ष्यमाणत्वात्। विरलभावः विगमितो रः रेफः येनसः विरः लभावः लवर्णस्थितिः विरः लभावो यस्य स तथोक्तः। यद्वा—रस्य रेफस्य लभावो लत्वं विशिष्टो रलभावो यस्य स तथोक्तः। वीत्यनेन लभावस्य नित्यत्वं द्योतितम्। सर्वथाऽपि रेफस्थानिकलकारवानित्यर्थः। तान्तः तेत्युत्सृष्टानुबन्धस्य क्तस्य ग्रहणम्। क्तप्रत्ययान्त इत्यर्थः। सदावलीडागमवानित्यत्र सदा वलि इडागमवानिति पदत्रयमसमस्तम्। वलि आर्धधातुकक्तप्रत्ययसंबन्धितकाररूपे वल्प्रत्याहारघटकवर्णे सदा नित्यं इडागमवान् सन् पलायितस्स्यात् 'अयपय' इत्यादिना भ्वादौ पठितस्य परोपसृष्टस्यायतेः क्तप्रत्यये 'उपसर्गस्यायतौ' इति रेफस्य नित्यं लत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति नित्यमिडागमे च पलायित इति रूपं निष्पद्यत इति निर्गळितोऽर्थः॥

यथावा—

**ईशः परोवरश्चिन्नास्येडयमेव हीश्वरो भवति।**
**विकृतिमियान्नैवासावुपधालघुतागुणोऽपि दूरेऽस्य॥**

अत्र भगवतः ईश्वरशब्दस्य च श्लेषः। परः अन्यः चतुर्मुखादिः अवरः निहीनः चित् चेततीति चित् चेतनः अस्य ईशः ईश्वरस्य भगवतः। 'ईशा वास्यम्' इत्यत्रेव ईट्छब्दोऽयं। ईट् स्वामी न भवति। भगवदपेक्षया निहीनत्वात्तस्येश्वरो न भवतीत्यर्थः। यद्वा—परः अन्यः चित् चेतनः। ईश इति पञ्चमी 'अनौ-

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. ..........1684..........

पाधिकनिर्देशो ह्यसंकोचो मनीषिभिः । सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' इति न्यायेन शब्दशक्तेरसंकोचात्सर्वेश्वरादस्मादित्यर्थः । अवरः न्यून एवेति वाक्यान्तरम् । यद्वा—अस्येत्येतत्पूर्वत्राप्यपकृष्य अस्य ईशः अवर इति योजना अस्मान्न्यून इत्येवार्थः । अस्मिन्पक्षे ईश इति शेषषष्ठी । अत एव अस्य भगवतः परः इतरः चतुर्मुखादिः नेट् ईश्वरो न भवतीत्यर्थः । 'न तस्येशे कश्चन' इत्यादिश्रुतेः । अय-मेव एष श्रीनिवास एव ईश्वरः सर्वेषामीश्वरः भवति हि । हि—शब्दः 'एष सर्वेश्वरः । ईशानो भूतभव्यस्य । सर्वेश्वरेश्वरः कृष्णः' इत्यादिश्रुतिपुराणादिप्रसिद्धिं द्योतयति । यद्वा—हिर्हेतौ । अस्यैव सर्वेश्वरत्वादिति भावः । हेत्वन्तरं चाह—विकृतिमिति । असौ भगवान् विकृतिं 'जायते अस्ति वर्धते' इत्याद्युक्तान् षड्भा-वविकारान् नैव इयात् । 'जरां मृत्युमत्येति । अपक्षयविना-शाभ्याम्' इत्यादिप्रमाणेभ्य इति भावः । किंच—अस्य भग-वतः उपधा कैतवं, येन परा अतिसंधीयेरन् तादृशाश्चित्तविकार-विशेषः 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः, 'अमा-त्यानुपधातीतान्' इतिप्रयोगश्च । लघुतागुणोऽपि रागद्वेषादि-कृतचित्तलाघवरूपगुणोऽपि । अथवा - उपधया या लघुता तादृशः अगुणः अप्रशस्तगुणः हेयगुण इत्यर्थः । नञत्राप्राशस्त्ये । 'अप्राशस्त्यं विरोधश्च' इति नञर्थेषु परिगणनात् । इदं हेयगु-णसामान्यस्योपलक्षकम् । सोऽपि दूरे अमुं न स्पृशतीत्यर्थः । अपूर्णत्वादन्येषामीदृशहेयगुणसंबन्धस्स्यात् । अस्य तु निर-वधिकैश्वर्यनित्यपूर्णत्वादखिल हेयप्रत्यनीकत्वाच्च तत्संबन्धग-न्धोऽपि न संभवतीत्ययमेव सर्वेश्वर इति भावः । अत्र उप-धादूरत्वोक्त्या अस्याश्रितेषु करणत्रयवृत्त्यैकरूप्येण कौटिल्य-विधुरतया आर्जवं प्रदर्शितम् । यथा चायमेवाह—

द्यौः पतेत् पृथिवी शीर्येद्धिमवान्विचलेदपि ।
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्' ॥

इति । लघुतागुणदूरत्वोक्त्या आश्रितापराधैः तत्प्रदर्शकैर्वाऽप्यक्षोभ्यत्वरूपं स्थैर्यं दर्शितम् । यथाऽऽह स्वयमेव सुग्रीवादीन्प्रति—

मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथंचन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्' ॥

इति ।

पक्षे—ईशः 'ईश ऐश्वर्ये' इति धातोः 'क्षियो दीर्घात्' इत्यादाविव धातोरनुकरणम् । चित् चकारेत्कः परः 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' इति विहितो वरच्प्रत्यय इत्यर्थः । परः 'प्रत्ययः, परश्च' इत्यधिकारात्परत्र विद्यमान इत्यर्थः । अस्य वरचः इट् इडागमः न—न भवति । 'नेड्वशि कृति' इति निषेधादित्यर्थः । अयमेव एवं वरज्विशिष्ट ईशधातुरेव ईश्वरो भवति ईश्वरशब्दो निष्पद्यते । असौ एवं निष्पन्न ईश्वरशब्दः विकृतिं नैव इयात् इडभावाद्विकारं न प्राप्नुयादेव । धातुप्रत्यययोर्यथावस्थितयोरेव श्रवणादिति भावः । यदीडागमोऽभविष्यत्तदाऽस्य विकारस्समभविष्यत् । अस्य ईश्वरशब्दस्य उपधालघुतागुणः उपधायाः 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' इत्युक्तलक्षणस्य उपान्त्यवर्णस्य लघुतया 'ह्रस्वं लघु' इत्युक्तलक्षणह्रस्वत्वेन यो गुणः 'पुगन्तलघूपधस्य' इति विहितो गुणः सोऽपि दूरे । अस्य दीर्घोपधत्वेन तदप्राप्तेः । इडागमप्रयुक्तविकारविरहेऽपि यदि गुणो वाऽभविष्यत्तदा विकारमलप्स्यतापि । सोऽपि नेति भावः ॥

यथावा—

वाताशगिरावाप्तः पदं बुधव्रजमहोदयशसा-

दौ । प्रथितोदन्तश्श्लाघ्यस्साधीयांस्ते हरे लसति पादः ॥ ८४१ ॥

अत्र भगवच्चरणस्य प्रस्तुतस्य पादशब्दस्याप्रस्तुतस्य च श्लेषः । तथाहि—बुधव्रजमहोद! बुधव्रजस्य देवनिवहस्य महः तेजः ददातीति तथोक्तः तस्य संबुद्धिः, हे हरे! भगवन्! आदौ त्रिविक्रमावतारसमये इत्यर्थः । प्रथितः प्रख्यातः उदन्तो वृत्तान्तो यस्य स तथोक्तः "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धसकललोकाक्रमप्रभाव इति भावः । अत एव यशसा श्लाघ्यः साधीयान् अतिशयेन बाढः अतिमात्रप्रशस्त इत्यर्थः । बाढशब्दादीयसुनि "अन्तिबाढयोर्नेदसाधौ" इति साधादेशः । ते भवतः पादः चरणः वाताशगिरौ शेषाद्रौ पदं स्थानं आप्तस्सन् लसति । तत्र न्यस्तत्वात्तथोक्तिः ॥

अन्यत्र बुधानां शाब्दिकानां महोदयः महाभ्युदयहेतुः तस्य संबुद्धिः हे हरे! पतञ्जलित्वेनावतीर्ण हे शेषेत्यर्थः । "व्याळः कुम्भीनसो हरिः" इत्यमरः । विशेषणमाहिम्ना सामान्यस्यापि हरिशब्दस्य विशेषपरत्वमवधेयम् । श्लाघ्यः अदन्तः । ह्रस्वाकारान्तः प्रथितः अदन्ततया कोशादौ प्रसिद्धः पादः पादशब्दः शसादौ शसिति द्वितीयाबहुवचनस्य संज्ञा । तदादौ प्रत्यये परे सतीति यावत् । वाताशः ऋषिः पाणिनिरित्यर्थः । तस्य गिरा "पद्न्नोमास्" इत्यादिसूत्ररूपयेत्यर्थः । पदं पदित्याकारकमादेशमिति यावत्। अवाप्तः प्राप्तः। प्रथितोदन्तश्लाघ्य इत्यानुपूर्वीमावर्त्य प्रथितः दन्तश्लाघ्य इति छिद्यते; दन्तः द् इत्याकारकवर्णः अन्ते यस्य स तथोक्तः । पदादेशो तथात्वसिद्धेः, दन्त इति श्लाघ्यः दन्तश्लाघ्यः ते शब्दानुशासनभाष्यकृतस्तव । संबन्धसामान्ये षष्ठी । साधी-

यान् साधुशब्दादीयसुन्। अतिशयेन साधुरिति प्रथितस्सन् लसति। सूत्रकृता आदेशमात्रविधानेन साधुः कृतः। भाष्यकृता त्वया तु तदनुगुणस्थानिनोऽपि प्रदर्शनेन साधीयान्कृत इति भावः॥

यथावा—

**अर्हः परंशमाप्तुं गण्यो धातुरपि वेदविदनिट् स्यात्। दान्तत्वमीयुषोऽनिशमात्माऽस्य सकृद्विभातो हि ॥८५०॥**

अत्र ब्रह्मविदः प्रकृतस्य विद्धातोरप्रकृतस्य च श्लेषः। तथाहि—परं निरतिशयं शं सुखं परब्रह्मानुभवानन्दमित्यर्थः। आप्तुं अर्हः अत एव धातुः ब्रह्मणोऽपि गण्यः श्लाघ्यः वेदवित् ब्रह्मवेत्ता अनिट् निट् निशा तत्सदृशमज्ञानमिति यावत् सा न विद्यते यस्य स तथोक्तः स्यात्। तत्र हेतुः दान्तत्व मित्यादि। हि यस्मात् अनिशं दान्तत्वं 'शान्तो दान्त उपरतः' इत्याद्युक्तं गुणविशेषं ईयुषः अस्य ब्रह्मविदः आत्मा अन्तर्यामी सकृद्विभातः सर्वदा अनावृततया प्रदीप्तः। तस्मादस्य ब्रह्मविदः अज्ञानगन्धोऽपि नास्तीत्यर्थः। अत्र 'तस्माद्वा एतं सेतुंतीर्त्वा अपि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येष ब्रह्मलोकः' इति दहर विद्यागतश्रुत्यर्थस्संगृहीतः। अस्याश्श्रुतेरर्थश्चोपनिषद्भाष्यकारैरेवं वर्णितः—'परमात्मानं प्राप्तस्य नक्तं तमिस्रा रात्रिरपि दिवैव। तस्याज्ञानप्रसक्तेरभावात् अहस्सदृशी रात्रिः अहोरात्रयोर्न विशेषः। तत्र—हेतुः सकृद्विभातः सदाब्रह्मस्वरूपप्रकाशस्यानावृततया भासमानत्वात्' इति॥

पक्षे—परं स्वस्मात्परं शं 'तुदादिभ्यश्शः' इति विहितं शप्रत्ययं आप्तुं अर्हः। वेदेतिभिन्नं पदम्। विद् 'विद्लृ लाभे'

इति तुदादौ पठितः धातुरपि अनिट् अविद्यमानः इडागमो यस्य स तथोक्तः । गण्यः अनिट्सु गणनीयः स्यादिति वेद वेद्मि । 'विन्दतिश्चान्द्रदौर्गादेरिष्टो भाष्येऽपि दृश्यते' इत्यनिट्कारिकासूक्तधातोरपि पाठात् 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इण्निषेधादिति भावः । विद् धातुरपीत्यपिशब्देन श्यन् श्नम् विकरणपठितयोस्सत्ताविचारणार्थकयोर्विद्धात्वोरिवास्यापीण्निषेधो निष्प्रत्यूह इति ध्वनितम् । तावपि हि धातू 'विद्यतिर्विनद्' इत्यनिट्कारिकासु पठ्येते । अस्य विदेरनुदात्तत्वं द्रढयति—दान्त त्वमित्यादिना । हि यस्मात् अनिशं दान्तत्वं द इति वर्णोऽन्ते यस्य तत्त्वं ईयुषः देत्यत्र अकार उच्चारणार्थः । अस्य विद्धातोः आत्मा स्वरूपं सकृत् एकवारमेव विभातः इव इत्याकारकवर्णेन भातः प्रकाशितः विदेरेवंविधस्वरूपत्वेनैकाच्त्वादुक्त इण्निषेधो युक्त एवेति भावः ॥

यथावा –

**ये कुशला अपि सन्तो न तद्धितप्रत्ययादयो दृष्टाः । इत एते लुप्यन्ते न तद्धितप्रत्ययादयस्त्वेते ॥ ८५१ ॥**

अत्र प्रकृतानां भगवद्भक्तभक्तानां 'लशक्वतद्धिते, तस्य लोपः' इति सूत्रार्थस्य च श्लेषः । तथाहि—ये जनाः कुशलाः कृतिनस्सन्तोऽपि । यद्वा—ये सन्तः मनीषिणः कुशला अपीति योजना । ऋग्वेदाद्यपरविद्यानिष्णाता अपीत्यर्थः । तद्धितप्रत्ययादयः तस्मै प्रकृताय भगवते हिताः प्रीत्याधायकाः प्रत्ययो ज्ञानं आदिर्येषां ते प्रत्ययादयः आदिशब्देन भक्तिवैराग्यादीनां ग्रहणम् । तद्धिताः प्रत्ययादयो येषां ते तथोक्ताः भगवदभिमतज्ञानभक्ति-

वैराग्यादिगुणवन्तः न दृष्टाः, ते जनाः इतः अस्मात्तद्धितज्ञानादिमत्त्वादर्शनादेव हेतोः लुप्यन्ते स्वयमेव नश्यन्ति अधःपतन्तीति यावत्। भगवदभिमतज्ञानादिविरहे अखिलकलाकौशल्यमप्यकिंचित्करमिति भावः। तद्धितप्रत्ययादयस्तु भगवत्प्रीत्याधायकज्ञानभक्त्यादिमन्तस्तु एते सन्तो जनाः न लुप्यन्ते 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति गानादिति भावः॥

पक्षे—सन्तोऽपि सूत्रोच्चारणावसरे श्रूयमाणा अपि ये कुशलाः कवर्गशकारलकाराः अत्र 'लशकु' इति वक्ष्यमाणसूत्रोक्तवैपरीत्येन कुशला इत्युक्तिर्विवक्षितश्लेषलाभाय। नतद्धितप्रत्ययादयः तद्धितभिन्नप्रत्ययाद्यवयवभूतास्सन्तः दृष्टाः ज्ञाताः नतद्धितेत्यत्र नशब्देन समासः। एते इमे इतः इत्संज्ञकाः 'लशकतद्धिते' इति तद्धितवर्जप्रत्ययादिभूतानां लशकवर्गाणामित्संज्ञाविधानादिति भावः। अत एव लुप्यन्ते लुप्ता भवन्ति। 'तस्य लोपः' इतीत्संज्ञकस्य वर्णस्य लोपविधानादिति भावः। लोपश्चादर्शनं 'अदर्शनं लोपः' इत्यनुशासनात्। अतद्धितेति पर्युदासफलितमाह—नेत्यादिना। तद्धितप्रत्ययादयस्तु तद्धितसंज्ञकप्रत्ययाद्यवयवभूतास्तु एते कवर्गशकारलकाराः 'आकर्षादिभ्यः कन्, लोमादिभ्यश्शः, प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्' इत्यादितद्धिताधिकारीयसूत्रविहितकादिप्रत्ययाद्यवयवभूता इत्यर्थः। न लुप्यन्ते। 'आतोऽनुपसर्गे कः, एजेः खश्, पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण, लटश्शतृशानचौ, ल्युट्च' इत्यादिविहितातद्धितप्रत्ययादिभूताः कादय इव न लोपं प्राप्नुवन्ति। किंतु आकर्षकः लोमशः जङ्गाल इत्यादिषु श्रूयमाणा एव भवन्तीति भावः॥

यथावा—

सिद्ध्यति मह एव महत्परादतिप्रत्ययाद्बुधेन्द्रा-

णाम । यत्रैव सर्वनामस्थाने सिद्धोनुमागमोऽपि परे ॥८५२॥

अत्र भगवतो महद्धातोश्च श्लेषः । तथाहि—बुधेन्द्राणां ब्रह्मविदग्रेसराणां परात् विजातीयप्रत्ययाव्यतिकीर्णतया श्रेष्ठात् अतिप्रत्ययात् अविच्छिन्नात् स्मृतिसन्ततिरूपात् ज्ञानादेव महत् पूज्यं महः 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः, परमं यो महत्तेजः' इत्याद्युक्तं स्वप्रकाशरूपं परं ब्रह्म सिद्ध्यति प्राप्तं भवति । तदेव महो विशिनष्टि—यत्रेति । सर्वनामस्थाने सर्वेषां नाम्नां पर्यवसानभूमौ सर्वशब्दवाच्ये इत्यर्थः । देवादिनामरूपव्याकरणनिदानभूते इति वा । यत्र यस्मिन् परे ब्रह्मण्येव मागमः मायाः श्रियः गमः संगमः संबन्धोऽपि सिद्धः निष्पन्नः मङ्गळकर इति वा 'षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च' अस्मात्कर्तरि क्तः । अपीत्यनेन निसर्गत एव मङ्गळस्यास्य मङ्गळदेवतायाश्श्रियस्संबन्धोऽप्यतिशयाधायक इति द्योतितम् । नु इतिच्छात्रानुनये 'नु वितर्कापमानयोः । विकल्पेऽनुनयेऽतीते' इति मेदिनी । श्रीनिवासभूतं परं महः ब्रह्मवेदिभिरुपासनेन प्राप्तं भवतीति परिनिष्पन्नोऽर्थः॥

पक्षे—बुधेन्द्राणां वैयाकरणानां महः 'मह पूजायाम्' इत्युक्तो महधातुः परात् स्वस्मात्परत्र विद्यमानात् अतिप्रत्ययात् महत् सिद्ध्यति महदिति निष्पद्यत इत्यर्थः । यत्रैव यस्मिन्महच्छब्द एव सर्वनामस्थाने 'शि सर्वनामस्थानम्, सुडनपुंसकस्य' इति च सूत्रविहितसर्वनामस्थानसंज्ञके प्रत्यये परे सति । नुमागम इत्यत्र नुम् आगम इतिच्छेदः । नुम् 'वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च' इत्यतिप्रत्ययान्ततया निपातितस्य शतृवद्भावातिदेशेन उगित्त्वात् 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः'

इति विहितो नुमागमः आगमः आ इत्याकारकवर्णस्य गमः संबन्धः 'सान्तमहतः' इत्यनेन विहितो नकारोपधादीर्घ इति यावत्। सोऽपि सिद्ध इति ॥

यथावा—

इह वृंहति परभूमनि नोद्भवति प्रकृतिसङ्गतो नुमतः। ब्रह्मणि नरस्तथात्वेनोस्स्यान्नाप्यत्र व-शिकृतीडितता ॥ ८५३ ॥

अत्र प्रकृतस्य ब्रह्मविदः अप्रकृतस्य ब्रह्मशब्दस्य च श्लेषः। तथाहि इह वृंहति परभूमनि न उद्भवति प्रकृतिसंगतः नु मतः ब्रह्मणि नरः तथात्वे नो स्यात् न अपि अत्र वशीकृ-तीडितता इति पदच्छेदः। नरः चेतनः परभूमनि निरति शयमहिमनि 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजा-नाति स भूमा' इत्युक्तरीत्या निरतिशयवैपुल्यविशिष्टे इत्यर्थः। अत एव वृंहति वर्धमाने 'नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्' इत्याद्युक्तरीत्या सर्वव्यापिनीत्यर्थः। ब्रह्मणि वि-षये मतः मन्ता 'मतिबुद्धि' इत्यादिना कर्तरि क्तः। पर-ब्रह्मस्वरूपमननशील इत्यर्थः। प्रकृतिसङ्गतः प्रकृतिसंसर्गात् इह अस्यां भूमौ अस्मिन् लोके इति वा। नोद्भवति नु भूयो न जायत इत्यर्थः। अर्चिरादिपथेन परब्रह्म प्रतिपद्य पुनर्नावर्तते।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानस्संसिद्धिं परमां गताः ॥

इति गानादिति भावः। तथात्वे एवमनावृत्तत्वे सति। अत्र अस्मिन् ब्रह्मविदि नरे वशिकृतीडितता वशी सर्वेश्वरः स्वा-

यत्तसकललोक इत्यर्थः । वशोऽस्यास्तीति वशी 'वश आयत्ततायां स्याद्वश इच्छाप्रभुत्वयोः' इति विश्वः। 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' इति श्रुतेः । 'जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्' इति स्मृतेश्च। कृतमस्यास्तीति कृती 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्' इत्युक्तरीत्या स्वार्थकर्तव्यशेषरहित इत्यर्थः। यद्वा–आश्रितरक्षणेन कृतकृत्यः 'अभिषिच्य च' इत्यारभ्य 'कृतकृत्यस्तदा रामः' इत्युक्तेः। अथवा कृतमुपकारोऽस्यास्तीति कृती भूम्नि मत्वर्थीयः। यत्किञ्चिदुपकृतमपि बंहीयो जानातीत्यर्थः। यथोक्तं–'कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति' इति । कृतेनेत्यत्र 'आदिकर्मणि क्तः, कर्तुमुपक्रान्तेन' इति व्याख्यातारः।

गोविन्देति यदाक्रन्दत् कृष्णा मां दूरवासिनम्।
ऋणं प्रवृद्धमिव मे हृदयान्नापसर्पति ॥

इति च। अत्र 'वशी वदान्यः' इति पद्ये श्रीयामुनमुनिभिरनुगृहीतानि वशित्वकृतित्वकृतज्ञत्वान्यनुसंहितानि । वशी चासौ कृती चेति विशेषणोभयपदकर्मधारयः । स चासावीट् च। ईट् ईश्वरो भगवान् तेन इतः प्राप्तः। वशिकृतीट् इतः प्राप्तो येनेति वा। तस्य भावः वशिकृतीडितता परब्रह्मानुभव इत्यर्थः। साऽपि नोस्स्यादिति न किं त्ववश्यं भाविन्येवेति भावः। संभाव्यनिषेधनिवर्तकशब्दद्वयेन ईदृशस्य विदुषः परब्रह्माननुभवसंभावना दूरतो निरस्यते। यथा सूत्रितं वामनेन—"संभाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ" इति। नोस्स्यादित्यत्र सकारस्य 'अनचि च' इति वैकल्पिकं द्वित्वमर्थान्तरानुगुण्यायावश्यमेष्टव्यम्। यद्वा—वशिभिः स्वायत्तेन्द्रियैः कृतिभिः विद्वद्भिः ईडितता महाप्रभावोऽयं ब्रह्मविदिति स्तुतता नोस्स्यादिति न किंतु स्तुततैव स्यादिति भावः।

अन्यत्र - इह बृंहतिपरभूमनि नः अत् भवति प्रकृतिसङ्गतः नुमतः ब्रह्मणि न रः तथा अत्वेन उः स्यात् न अपि अत्र वशि कृति इडितता इति पदच्छेदः। बृंहतिपरभूमनि बृंहतिः बृहिधातुः 'बृहि वृद्धौ" इति भ्वादौ पठितः। श्तिपा निर्देशोऽयम्। तस्मात् परभूः परत्र विद्यमानः मन् मन्नित्याकारकप्रत्ययो यस्य तस्मिन् बृंहतेर्मनिन्प्रत्ययेन निष्पन्ने इत्यर्थः। ब्रह्मणि ब्रह्मशब्दे प्रकृतिसंगतः प्रकृतौ मन्प्रत्ययप्रकृतिभूते बृंहेति धातौ संगतः संबद्धः नुमतः अततीत्यतः अततेस्सातत्यगमनार्थकाद्भौवादिकात् पचाद्यच्। नुमः अतः नुमतः बृहिधातोरिदित्वात् 'इदितो नुम् धातोः' इति विहितनुमागमात्प्राप्त इत्यर्थः। नः नकारः अत् भवति। बृहिधातोर्नुमो नकारः 'तपरस्तत्कालस्य' इति शाब्दिकसंकेतितो ह्रस्वोऽकारो भवतीत्यर्थः। 'सर्वधातुभ्यो मन्' इत्यतो मन्नित्यस्यानुवृत्तौ 'बृंहेर्नोऽच्च' इत्यौणादिकसूत्रेण नुमो नकारस्य अत्त्वविधानादिति भावः। तथा एवमेव। अत्त्वेन नुमो नकारस्याकारादेशेन। उः बकारोत्तरवर्तिऋकारस्य। ऋशब्दात् ङसि 'ऋत उत्' इत्येकादेशे उत्वे रपरत्वे 'रात्सस्य' इति सलोपे रेफस्य विसर्गः। रः रेफः न स्यादिति न इति योजना। स्यादेवेत्यर्थः। बृ अ इति स्थिते 'इको यणचि' इति ऋकारस्य यणादेशविधानादिति भावः। अत्र एवं निष्पन्ने ब्रह्मन्शब्दे वशि वश्प्रत्याहारघटकमवर्णादौ कृति कृत्प्रत्यये इडितताऽपि इडागमयुक्तताऽपि न स्यादिति पदद्वयमेवावर्त्यते। न स्यात् न भवेदित्यर्थः। 'नेड्वशिकृति' इतीण्निषेधात्। एवं सुदुष्करतमस्यास्य पद्यस्यार्थो ब्रह्ममीमांसाशब्दनयनिपुणतमैस्सहृदयैर्विपश्चित्समुदयैस्सदयैस्सावधानं सूक्ष्मया दृशा विभावनीयः॥

यथावा—

**प्रददाति निरुपसर्गस्स्वजुषे विश आत्मने पदं देवः। स च तत्र निविशमानो भवति परस्मै पदाय योऽभ्यर्हेत् ॥ ८५४ ॥**

अत्र प्रकृतस्य ब्रह्मजुषो मनुजस्य अप्रकृतस्य विशधातोश्च श्लेषः। तथाहि—यः पुमान् परस्मै पदाय परमं स्थानं प्राप्तुं 'क्रियार्थ' इत्यादिना चतुर्थी। अभ्यर्हेत् योग्यो भवेत्। तस्मै स्वजुषे आत्मानं सेवमानाय विशे मनुजशरीरकाय आत्मने चेतनाय। शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिपर्यन्ततया आकृत्यधिकरणन्यायसिद्धतया विशे आत्मने इत्यनयोस्सामानाधिकरण्यम्। 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः। देवः भगवान् निरुपसर्गः इयत्पदमेतस्मै कथं देयमित्युद्वेगं दूरतः परिहरन्निति भावः। पदं तदर्हं दिव्यं स्थानं प्रददाति। स च स पुमानपि तत्र परस्मिन् पदे निविशमानो भवति। भगवदनुगृहीतानिरवधिकनिश्श्रेयससाम्राज्यस्तत्रैव तत्कैंकर्यैकरतिर्वसतीति भावः॥

पक्षे—यः 'विश प्रवेशने' इति पठितो धातुः परस्मैपदाय 'लः परस्मैपदम्' इति विहिताय परस्मैपदसंज्ञकाय लादेशाय अभ्यर्हेत् योग्यस्स्यात् विशधातोः परस्मैपदिषु पठितत्वादिति भावः। तस्मै स्वजुषे स्वसमभिव्याहारभाजे विशे विशधातवे देवः देवयति धात्वर्थं द्योतयतीति देवः दीव्यतेर्णिजन्तात्पचाद्यच्। उपसर्गाणां द्योतकत्वाद्देव इत्युक्तिः। निः नीत्याकारकः उपसर्गः 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इत्यनुशिष्टो निपातविशेषः। आत्मनेपदं 'तङानावात्मनेपदम्' इति विहितं शानजाख्यमात्मनेपदसंज्ञकं प्रत्ययं प्रददाति 'नेर्विशः' इत्यनेन नीत्युपसर्गा-

त्परीभूतस्य विशतेरात्मनेपदानुशासनात्तस्य तद्वत्त्वोपचारः। स च नीत्युपसर्गविशिष्टो विशधातुरपि। तत्र तस्मिन्नात्मनेपदे परे सतीति शेषः। निविशमानो भवति तथा निष्पद्यते। निसर्गतः परस्मैपदी विशधातुर्नीत्युपसर्गात्परत्वे उक्तप्रकारेणात्मनेपदितां प्रपद्य निविशमान इति निष्पद्यत इति निर्गळितोऽर्थः। अस्मिन्पक्षे आत्मनेपदं परस्मैपदायेत्यत्र 'वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः' इति 'परस्य च' इति सूत्राभ्यां चतुर्थ्या अलुगिति ध्येयम्॥

यथावा—

नाथपदद्वयसेवी निसर्गतस्स्वैरमधिधरणिराजः।
परमानमतं धत्ते चटुलस्स्थाने तथा सदादेशम्॥

अत्र भगवच्चरणसेविनो राजाधिराजस्य राजृधातोश्च प्रकृताप्रकृतयोश्श्लेषः। तथाहि – निसर्गतः न तु परप्रेरणया। स्वैरं स्वच्छन्दं यथा स्यात्तथा न तु संकुचितं. नाथस्य वेङ्कटनाथस्य पदद्वयसेवी चरणयुगं सेवमानः अधिधराणिराजः अधिको धरणिराजः राजाधिराज इत्यर्थः। चटुलः चटवः स्तुतयः अस्य सन्तीति चटुलः। सिध्मादिषु चटुशब्दपाठात् 'सिध्मादिषु च' इति मत्वर्थीयो लच्प्रत्ययः। चटून् लाति आदत्त इति वा 'आतोऽनुपसर्गे' इति कप्रत्ययः। 'चटुश्चाटुश्च राजादेस्तुतौ पशुपिचण्डके' इति वैजयन्ती। श्लाघ्यस्सन्नित्यर्थः। यद्वा—अचटुल इतिच्छेदः। अचपलस्सन्नित्यर्थः। 'मदेन किंचिच्चटुलालसानाम्' इत्यत्र 'चटुलाश्चपलाः' इति मल्लिनाथेन व्याख्यातत्वात्। स्थाने राज्ये इत्यर्थः। स्थितस्सन्नित्यध्याहारः। देशं जनपदं परमानमतं परेण उत्कृष्टेन मानेन गौरवेण मतं संमतं

यथा स्यात्तथा सदा सततं तथा अनिर्वचनीयं यथा स्यात्तथे-त्यर्थः । धत्ते पुष्णाति । यद्वा– सदादेशमिति समस्तं पदम् । परमानमतं परैश्शत्रुभिरपि मानेन गौरवेण मतं अभिमतं सन्तं यथाविधि प्रयुक्ततया प्रशस्तं आदेशं शासनं धत्ते पुष्णाति । अथवा—सतां आदेशं आज्ञां परमानमतं महता पूजनेन विदितं यथा स्यात्तथा धत्ते सज्जनादिष्टेन पथा सबहुमानमाधिराज्यं पुष्णातीति भावः । यद्वा स्थाने इति युक्तार्थकमेदन्तमव्ययं पृथक्पदमन्ते योज्यम् । सदादेशं धत्ते स्थाने । भगवच्चरणयुगळसेविनः इदं युक्तमित्यभिप्रायः । अन्यत्समानमेव ॥

पक्षे—हे नाथेति संबुद्धिः । अधिधरणीति पृथक्पदम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, भुवीत्यर्थः । राजः 'राजृ दीप्तौ' इत्युक्तो धातुः शपा निर्देशोऽयम् । निसर्गत एव न तु यगादिसमभिव्याहारात् स्वैरं यथेष्टं पदद्वयसेवी उभयपदीत्यर्थः । स्वरितेत्त्वानुशासनेन क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वविवक्षायामात्मनेपदं परगामित्वविवक्षायां परस्मैपदं च भजमान इति भावः । अत एव चटु श्लाघ्यं यथा स्यात्तथा परं स्वस्मात्परतो विद्यमानं लस्थाने लटस्स्थाने । आनं अतं इतिच्छेदः । आनं अतमिति मुक्तानुबन्धयोश्शानच्शत्रोर्ग्रहणम् । आनं आत्मनेपदित्वे शानचं अतं परस्मैपदित्वे शतारं च 'लटश्शतृशानचौ' इति तयोरनुशासनादिति भावः । सदादेशं सत्संज्ञकमादेशं 'तौ सत्' इति लादेशयोश्शतृशानचोस्सत्संज्ञाविधानादिति भावः । धत्ते दधाति । राजृधातुस्स्वरितत्वेनोभयपदितया स्वभावसिद्धया यथेप्सितं लस्थानिकं शानचं शतारं च सत्संज्ञकमादेशं लभत इति संपिण्डितोऽर्थः ॥

यथावा—

इतरेतरयोगोज्ज्वलमुभयपदार्थप्रधानतामधुरम् ।
भगवद्रूपं द्वंद्वं भजामहेऽनन्तगिरिकृतोत्कर्षम् ॥८५५

अत्र लक्ष्मीनारायणरूपदिव्यमिथुनस्य प्रकृतस्य द्वंद्वसमासस्याप्रकृतस्य च श्लेषः । तथाहि—इतरेतरयोगोज्ज्वलं—

तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम् ।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा ॥

इत्याद्युक्तरीत्या परस्परसंबन्धेन परस्परं प्राप्तपरभागमित्यर्थः । यद्वा—अन्योन्यमविनाभावेन लब्धसत्ताकमित्यर्थः । यथोक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

अहन्ता ब्राह्मणस्तस्य साऽहमस्मि सनातनी ।
आत्मा स सर्वभूतानामहंभूतो हरिः स्मृतः ।
अहंता सर्वभूतानां साऽहमस्मि सनातनी ॥
अहंतया समाक्रान्तो ह्यहमर्थः प्रसिद्ध्यति ॥
अहमर्थसमुत्था च साऽहन्ता परिकीर्तिता ।
अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात् ॥
तादात्म्यं विद्धि संबन्धं मम नाथस्य चोभयोः ॥

इत्यादि । पक्षे 'चार्थे द्वंद्वः' इत्यनुशिष्टसमुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाररूपचार्थचतुष्टयमध्ये इतरेतरयोगलक्षणार्थविशेषे उज्ज्वलं सामर्थ्यसद्भावेन समस्ततया प्रकाशमानम् ॥

इदमत्रावधेयं—ईश्वरं गुरुं च भजेति समुच्चये, भिक्षामट गां चानयेत्यन्वाचये च न समासः, एकार्थीभावरूपसामर्थ्यविरहात् । तथाहि—बहुव्रीहिघटकपदानां कर्माद्यन्तर्भावेणेव द्वंद्व-

घटकपदानां चार्थान्तर्भावेणैकार्थीभाव आवश्यकः, 'समर्थः पदविधिः' इति परिभाषितत्वात् 'चार्थे द्वंद्वः' इत्युक्तेश्च । न चेतरेतरान्वये परस्परनिरपेक्षाणामेकार्थीभावस्संभवति, येन समुच्चयान्वाचयावेकार्थीभावान्तर्भूतौ स्याताम् । अतश्च इतरेतरयोगे समाहारे च परस्परसाहित्यसत्त्वात्समासो भवति न तु समुच्चयान्वाचययोः । परं त्वितरेतरयोगे साहित्यं विशेषणं द्रव्यं विशेष्यं, समाहारे तु साहित्यं प्रधानं द्रव्यं विशेषणमिति विवेक्तव्यम् । अनयोरपि साहित्यप्रधानकसमाहारापेक्षया वक्ष्यमाणरीत्या द्रव्यरूपोभयपदार्थप्रधानक इतरेतरयोगो ज्यायानित्याशयेनोक्तमितरेतरयोगोज्ज्वलमितीति ॥

'परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयस्समुच्चयः । अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्व अन्वाचयः । मिळितानामन्वय इतरेतरयोगः। समूहस्समाहारः' इत्याहुः । उभयपदार्थप्रधानतामधुरं उभौ च तौ पदार्थौ लक्ष्मीनारायणात्मकौ तयोः प्राधान्येन उभयविभूतिशेषित्वव्यापित्वेश्वरत्वादौ समप्रधानतया रमणीयम् ॥

अस्या मम च शेषं हि विभूतिरुभयात्मिका ।
यथा मया जगद्व्याप्तं स्वरूपेण स्वभावतः ।
तया व्याप्तमिदं सर्वं नियन्त्री च तथेश्वरी ॥

इत्यादीनि प्रमाणान्यत्रानुसंहितानि ॥

पक्षे—क्रियान्वये वर्तिपदार्थयोरुभयोरपि प्राधान्येन मनोहरमित्यर्थः । 'उभयपदार्थप्रधानो द्वंद्वः' इति हि प्राचां प्रवादः । भगवती च भगवांश्च भगवन्तौ ज्ञानादिषाड्गुण्यपूर्णौ भगवन्ताविति रूपं यस्य तत् उभयोरप्युक्तगुणपरिपूर्तेस्तथोक्तिः । द्वंद्वं मिथुनम् । पक्षे—समासेषु प्रधानभूतभगवद्विभूतितया परिगणितं द्वंद्वसमासमित्यर्थः । 'द्वंद्वस्सामासिकस्य च' इति विभूतिवि-

स्तराध्याये गानादिति भावः। भगवद्विभूतित्वादेव द्वंद्वस्यात्र भगवद्रूपतोक्तिः। 'सामासिकः समाससमूहः। तस्य मध्ये द्वंद्व समासोऽहम्। स हि पूर्वोत्तरान्यपदार्थप्रधानेभ्योऽव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिभ्योऽप्युभयपदार्थप्रधानतयोत्कृष्टः' इति भाष्यतात्पर्यचन्द्रिकयोस्स्पष्टम्। एतदभिप्रायेणैव ह्यत्रोभयपदार्थप्रधानतामधुरमित्युक्तम्। द्वंद्वं पुनर्विशिनष्टि—अनन्तागेरिकृतोत्कर्षमिति। शेषाचले लब्धोत्कर्षमित्यर्थः। पक्षे अनन्तगिरि पतञ्जलिवाचि महाभाष्ये लब्धोत्कर्षम्। अत्र अनन्तस्य भगवतो वासुदेवस्य गिरि गीतारूपायां वाचि कृतोत्कर्षं उदाहृतप्रमाणानुसारेणोत्कर्षितं, अत एव भगवद्रूपमित्यप्यर्थोऽनुसन्धेयः। भजामहे॥

यथावा—

**ननु चेतस्तत्पुरुषेपूर्वे त्वां न्यस्तवान् समासेऽहम्। पश्यामीह न तुल्यं परत्र तुल्यं पदे परमवैमि ॥८५६॥**

अत्र कविना स्वचेतसः क्त्वाप्रत्ययस्य च श्लेषो वर्ण्यते तथाहि—ननु चेत! हे हृदय! अहं त्वां पूर्वे अखिलजगत्कारणे। स चासौ पुरुषस्तत्पुरुषः तस्मिन् सर्वेश्वरत्वादिना सकललोकविदिते परमपुरुषे न्यस्तवान् विन्यस्तात्मरक्षाभरस्सन्निति यावत्। समासे सम्यगुपविशामि निर्भरतया सुखी संवृत्तोऽस्मीत्यर्थः। संपूर्वकादासेः कर्तरि लडुत्तमैकवचनम्। अत एव इह अस्मिन् लोके तुल्यं मम समं जनं कमपि न पश्यामि॥

सत्कर्मनिरताश्शुद्धास्सांख्ययोगविदस्तथा।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमीमपि॥

इत्यादिप्रमाणादिति भावः । परत्र पदे परस्मिन् पदे तु परं 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुतं परमपुरुषमेव तुल्यं मम सदृशं अवैमि जानामि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति श्रुत्या परमसाम्यस्यावेदितत्वादिति भावः ॥

पक्षे—ननु च इतः इति छेदः । इतः अस्मिन् बुद्धिस्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः । अपूर्वे नञ्पूर्वे इत्यर्थः । अकारेण लुप्तनकारस्य नञो विवक्षा । तत्पुरुषे च तत्पुरुषसंज्ञके च समासे न तु यस्मिन्कस्मिंश्चित्समासे, अहं त्वां त्वामित्युत्सृष्टानुबन्धस्य क्त्वाप्रत्ययस्य ग्रहणम्, 'आनेमुक्' इत्यादौ शानजादेरिवेति भावः । क्त्वाप्रत्ययमित्यर्थः । न्यस्तवान् सन् इह अस्मिन् क्त्वाप्रत्यये तत्स्थाने इत्यर्थ । न तु ल्यं इति पदत्रयम् । ल्यं ल्यमित्युत्सृष्टानुबन्धस्य ल्यपो निर्देशः 'मतौ बह्वचः' इत्यादौ मतुबादेरिवेति भावः । न तु पश्यामि नैव पश्यामि 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इत्यनञ्पूर्वसमास एव क्त्वो ल्यब्विधानात् अकृत्वेत्यादौ नञ्समासे ल्यपोऽदर्शनादिति भावः । परत्र पदे नञतिरिक्तशब्दपूर्वकसमासस्थले तु ल्यं अवैमि 'अलंकृत्य नमस्कृत्य' इत्यादौ ल्यपो दर्शनादिति भावः ॥

यथावा—

कल्पान्तगतत्वेऽपि ह्रस्वान्तत्वं श्रियो न लक्ष्म्यास्स्यात् । भान्त्यपि वाऽन्ते ह्रस्वा नियतं बह्वीतरप्प्रसक्ता सा ॥८५७॥

अत्र लक्ष्मीगतायाः तत्कटाक्षलब्धाया वा संपदः प्रकृतायाः श्रीलक्ष्म्यादिशब्दानां चाप्रकृतानां श्लेषः । तथाहि - लक्ष्म्याः

श्रीसंबन्धिन्याः, लक्ष्मीकटाक्षलब्धाया वा। अस्मिन्नर्थे लक्ष्म्या इति पञ्चमी वा। लब्धेति शेषः। श्रियः संपदः। श्रियो लक्ष्म्या इति वा योजना। अर्थस्तु पूर्ववदेव। कल्पान्तगतत्वेऽपि संवर्तसमयभाक्त्वेऽपि। ह्रस्वः अन्तः स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तं, सामान्ये नपुंसकं, तस्य भावः ह्रस्वान्तत्वं नश्वरत्वमिति यावत्। 'अन्तस्स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः' इति हेमचन्द्रः। 'अन्तोऽस्त्री निश्चये नाशे स्वरूपेऽग्रेऽन्तिकेऽन्तरे' इति रत्नमाला च। न स्यात्। लक्ष्मीसंबन्धिनी तत्कटाक्षलब्धा वा संपत्तिः कल्पान्तेऽपि न नश्वरी स्यादित्यभिप्रायः। इतरप्प्रसक्ता इतरासु देवतासु स्थिता इतराभ्यो देवताभ्यो लब्धा वा 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इतीतराशब्दस्य पुंवद्भावः इतरप्प्रसक्तेत्यत्र पकारस्य 'अनाचि च' इति द्वित्वमर्थान्तरे शब्दावैरूप्यायावश्यकम्। यद्वा—कल्पेति कल्पप इव तरेति तरप उत्सृष्टानुबन्धस्य ग्रहणे अर्थान्तरेऽपि पकारस्य न द्वित्वावश्यकतेति बोध्यम्। सा श्रीरित्यर्थः। वह्वी भान्त्यपि वा अविमर्शावसरे अपरिच्छिन्नतया भासमानाऽपि वा अन्ते निर्णयावसरे ह्रस्वा आशुविनाशिनीति यावत्। भवति नियतं नूनं भगवल्लक्ष्म्यतिरिक्तदेवतासंबन्धिनी तत्प्रसादासादिता वा संपत् अविमर्शदशायामनन्ततया भासमानाऽपि तत्त्वनिष्कर्षसमये परिमितैव ज्ञायत इति भावः॥

पक्षे—कल्पान्तगतत्वे कल्पः कल्पप्प्रत्ययः तस्य अन्तगतत्वे स्वस्मात्परत्रावस्थाने सति। इदमुपलक्षणं तरबादिपरकत्वस्य। अपिशब्दो भिन्नक्रमः श्रिय इत्यत्र संबध्यते। लक्ष्म्या लक्ष्मीशब्दस्य, अर्थगतस्य स्त्रीत्वस्य शब्दे आरोप इत्यसकृदवोचाम। एवमग्रेऽपि। श्रियोऽपि श्रीशब्दस्य च। ह्रस्वान्तत्वं न

स्यात्। यतो घरूपकल्पवादिपरकत्वे 'नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम्' इत्यङ्यन्तनद्या ङ्यन्तैकाचश्च विहितो ह्रस्वविकल्पः 'कृन्नद्या न' इति निषिध्यते। लक्ष्मीशब्दश्च कृन्नद्यन्तः 'लक्षेर्मुट्च' इत्यौणादिकसूत्रेण लक्षधातोरीप्रत्ययविधानात्। तस्य च 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' इति नदीसंज्ञकत्वात्। श्रीशब्दस्तु 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषेधेनानद्यन्तत्वात्तदविषय एव। एवंच लक्ष्मीकल्पा श्रीकल्पेति दीर्घघटितमेव रूपं भवति, न तु लक्ष्मिकल्पा श्रिकल्पेति ह्रस्वघटितम्। विशेषान्तरमप्याह—भान्तीत्यादिना। अपीत्यस्य अपिचेत्यर्थः। भान्ती भान्तीशब्दः तरप्प्रसक्ता। तरप् तरप्प्रत्ययः प्रसक्तो यस्यां सा तथोक्ता, तरप्प्रत्ययान्तेति यावत्। कल्पान्तगतत्वे च उक्त एवार्थः। अन्ते वाह्रस्वा विकल्पेन ह्रस्वा स्यात् ह्रस्वशब्दात् मत्वर्थीयः, अर्श आद्यच्। ह्रस्वान्ता भवेदित्यर्थः। 'उगितश्च' इति घरूपकल्पादिपरकत्वे ह्रस्वस्य विकल्पेन विधानादिति भावः। उगिदन्तश्चायं भान्तीशब्दः। किंच सा भाषितपुंस्कत्वेन ङ्यन्तत्वेनानेकाच्त्वेन च प्रसिद्धेति भावः। वह्नी वह्नीशब्दः तरप्रसक्ता सती कल्पान्तगतत्वे वा अन्ते नियतं ह्रस्वा स्यात् नित्यं ह्रस्वान्ता स्यादित्यर्थः। 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योनेकाचो ह्रस्वः' इत्यनेन सूत्रेण नित्यं ह्रस्वविधानादिति भावः। 'भाषितपुंस्कात्परो यो ङीप् तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य ह्रस्वस्स्यात् घरूपकल्पप्रत्ययेषु परेषु चेलडादिषूत्तरपदेषु च' इति सूत्रार्थः। घेति तरप्तमपोस्संज्ञा 'तरप्तमपौ घः' इति संज्ञाविधानात्। एवंच भान्तीशब्दात्तरप्कल्पपोः परयोः ह्रस्वविकल्पाद्भान्तितरा भान्तिकल्पेति रूपं, ह्रस्वाभावपक्षे—'तसिलादिषु' इति पुंवद्भावेभात्तरा भात्कल्पेत्येवरूपं न तु भान्ती-

तरेत्यादि । वल्लीशब्दात्तयोः परयोर्नित्यं ह्रस्वे वल्लितरा वल्लिकल्पेति रूपमित्यवहितहृदयैस्सहृदयैश्शब्दविदग्रणीभिर्विभावनीयम् ॥

यथावा —

**कदशनभुगसूपगतः प्राक्त्वत्पदविदथ भवति यो राजा । अन्नन्तस्यास्य पुनर्नसूपलुप्तं सदाऽपि भवति हरे ॥ ८५८ ॥**

हे हरे! प्राक् त्वच्चरणशरणागतेः पूर्वं यः पुमान् कदशनं कुत्सितान्नं भुङ्क्ते इति कदशनभुक् सन् असूपगतः असुभिः प्राणैः उपगतः असवः उपगताः येनेति वा। कदन्नाभ्यवहारेणैव प्राणान् धारयितेति भावः । यद्वा - असूपगतः कदशनभुगिति योजना । सूपं गतस्सूपगतः 'द्वितीया श्रित' इत्यादिना समासः । स न भवतीत्यसूपगतः कदशनभुक् कदन्नभोक्ता भवति व्यञ्जनादिदविष्ठयावनाळादिगर्ह्यान्नभोजी भवतीत्यर्थः । अथ त्वत्पदवित् तव पदे चरणे विन्दति प्राप्नोतीति तथोक्तः । त्वच्चरणप्रपन्नस्सन्नित्यर्थः । राजा भवति । तस्यास्य आदौ कदशनभोक्तुः ततो भगवदनुग्रहाधिगतराजभावस्येत्यर्थः । अन्नं पुनः ओदनं तु सदाऽपि न सूपलुप्तं लुप्तसूपं न भवति । सूपेत्युपलक्षणमुपसेचनान्तरस्यापि । मृष्टान्नभोक्तृत्वं भवतीत्यर्थः । अन्नन्तस्येत्यत्रानुस्वारस्य 'वा पदान्तस्य' इति वैकल्पिकः परसवर्णः अर्थान्तरे शब्दैकरूप्यायेति ध्येयम् ॥

पक्षे—यः कदशनभुक्छब्दः प्राक्छब्दः त्वत्पदविच्छब्दश्च सुना सुप्रत्ययेन उपगतो न भवतीत्यसूपगतः भवतीति प्रत्येकं योज्यं 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इत्यनेन लुप्तसुप्र-

त्ययो भवतीत्यर्थः । अथ अथ च किंचेत्यर्थः । 'अथ समुच्चये । मङ्गळे संशयारम्भाधिकारानन्तरेषु च । अन्वादेशे प्रतिज्ञायां पश्चात्साकल्ययोरपि' इति हेमचन्द्रः। यो राजा भवति राजेतिशब्दो विद्यते । अन्नन्तस्य अन्निति वर्णसमुदयोऽन्ते यस्य तथोक्तस्य अस्य पुनः राजन्शब्दस्य तु सदाऽपि नित्यमपि नसूपलुप्तं न सु इत्यनयोर्वर्णयोः उपलुप्तं लोप इत्यर्थः। लुम्पतेर्भावे क्तः। भवति 'हल्ङ्याभ्यः' इति सुलोपः 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपश्च भवतीत्यर्थः । यद्वा – अथेत्येतन्नसूपलुप्तमित्यत्रान्वेति । साकल्येन सुप्रत्ययनकारयोर्लोपो भवतीत्यर्थः । अस्य पुनरित्यनेन कदशनभुगादिशब्दापेक्षया वैलक्षण्यं सूचितम् । तेषां सुप्रत्ययमात्रलोपः अस्य तु नकारस्यापि लोप इति वैलक्षण्यं बोध्यम्। अत्र भगवच्चरणारविन्दप्रपन्नस्य प्रकृतस्य कदशनभुगादिशब्दस्याप्रकृतस्य च श्लेषः ॥

यथावा---

**अप्प्रत्ययो भवति चेत्स्वयं भुवि रमेश भवति भव एव । कथमघवतोऽस्य भावो वृद्धिं प्राप्तो भवेत्साध्वीम् ॥ ८५९ ॥**

अत्र भगवदप्रत्ययितस्य पुंसः प्रकृतस्य अप्प्रत्ययान्तस्य भूधातोरप्रकृतस्य च श्लेषः । तथाहि—हे रमेश! स्वयंभुवि कारणान्तररहिते सर्वकारणभूते इत्यर्थः । 'प्रभुर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' इति श्रुतेः। भवति त्वयि अप्प्रत्ययः अविश्वासश्चेत् भव एव भवति । त्वयि महाविश्वासोपलक्षितमात्मरक्षाभरसमर्पयितुस्संसारो दुस्त्यज इति भावः। यद्वा -- स्वयंभुवि भवति

अप्रत्ययः नञत्र विरोधे विरुद्धज्ञानं नानात्वधीरिति यावत्। भवति चेत्। भवतीत्युत्तरवाक्यादपकृष्यते। तस्य भव एव संसार एव भवति।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

इति श्रुत्युक्तरीत्या परमात्मनि भेदद्रष्टुर्मृत्युशब्दितसंसारप्राप्तिरेव भवतीत्यर्थः। "यदेव परमात्मतत्त्वमत्र लोकेऽहमित्यनुसंधीयमानतयाऽऽत्मभूतं तदेव लोकान्तरस्थानामप्यात्मभूतं, ततश्चात्मभेदो नास्तीत्यर्थः। इह परमात्मनि भेदमिव यः पश्यति सः संसारात्संसारं प्राप्नोति" इति श्रुत्यर्थो वर्णित उपनिषद्भाष्ये। अघवतः एवं विरुद्धज्ञानमूलभूतपाप्मवतः अस्य जनस्य भावः स्थितिः स्वभावः अभिप्रायो वा 'भावस्सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इत्यमरः। साध्वीं परब्रह्मध्यानैकतानतया श्रेयसीं वृद्धिं प्राप्तः कथं भवेत्। यद्वा—अस्य साध्वीं वृद्धिं प्राप्तो भावः कथं भवेदिति योजना। साध्वीं वृद्धिं प्राप्तः अपरिच्छिन्न इति यावत्। भावः विभूतिः नित्यविभूतिरित्यर्थः। 'भावो बुधे विभूतौ च' इति शेषः। ईदृशस्योक्तविधं भाग्यं दुर्लभमिति भावः॥

पक्षे—भुवि भूधातौ अप्प्रत्ययः 'ऋदोरप्' इति विहितः अप् इत्याकारकः प्रत्ययः भवति चेत् भवः स्वयमेव भवति भव इति हेत्वन्तरनिरपेक्षमेव निष्पद्यत इत्यर्थः। अस्य भूधातोः अघवतः घेत्युत्सृष्टानुबन्धस्य घञो ग्रहणम्। अविहितघञ्प्रत्ययस्य सत इत्यर्थः। साध्वीं वृद्धिं, 'अचो ञ्णिति' इति शास्त्रविहितां ञिन्निमित्तां वृद्धिं प्राप्तः भाव इति कथं भवेत्। घञभावे कथमेवं रूपं निष्पद्येतेत्यर्थः॥

यथावा—

प्रायस्सत्वं चित्ते पर इह यद्येकदास्थितोऽव-
सितौ । कृष्ण तदेव समस्तं प्रायश्चित्तं भवेन्न सं-
देहः ॥८६०॥

अत्र प्रस्तुतभगवद्ध्यानरूपप्रायश्चित्तस्य अप्रस्तुतप्रायश्चित्तशब्दस्य च श्लेषः । तथाहि—पर इहेत्यत्र परः इह इति छेदः । हे कृष्ण! परः 'अक्षरात्परतः परः' इत्याद्युक्तरीत्या सकलचेतनविलक्षणस्सर्वोत्तरः सः ॥

सकृत्स्मृतोऽपि गोविन्दो नृणां वर्षशतैश्चितम् ।
पापराशिं दहत्याशु तूलराशिमिवानलः ॥

इत्याद्युक्तरीत्या सकललोककलुषविध्वंसनपटीयस्तया प्रसिद्धः त्वं इह अस्मिन् लोके चित्ते चेतसि अवसितौ शरीरावसाने एकदा जातुचिदपि वा न तु सर्वदेति भावः । प्रायः सान्तमव्ययं भूम्नि 'प्रायो भूम्नि' इत्यव्ययेष्वमरः । बहुश इत्यर्थः । यदि स्थितः स्मृतश्चेदित्यर्थः । तदेव तदवस्थानमेव समस्तं सर्वं प्रायश्चित्तं निष्कृतिः भवेत् । प्रायश्चित्तशब्दश्च रूढ्या योगेन च पापनिवर्तनक्षमं धर्ममाचष्टे। प्रायश्चित्तशब्दः पापक्षयार्थे नैमित्तिककर्मविशेषे रूढ इत्याहुस्सांप्रदायिका निबन्धनकृतः । योगस्त्वङ्गिरसा दर्शितः—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिहोच्यते ॥

इति । अनुष्ठितेन द्वादशवार्षिकादिना अवश्यं पापं निवर्तत इति विश्वासयुक्तं व्रतानुष्ठानलक्षणं तपः प्रायश्चित्तमिति तदर्थः ।

स्मृत्यन्तरेण चायं निरुक्तः—

प्रायः पापमिति प्रोक्तं चित्तं तस्य विशोधनम् ।

इति । न संदेहः नात्र संशयः ।

पापे गुरूणि गुरुणि स्वल्पान्यल्पे च तद्विदः ।
प्रायश्चित्तानि मैत्रेय जगुस्स्वायंभुवादयः ॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥

इत्युक्तप्रक्रियया इदमेवाखिलप्रायश्चित्तं भवेदित्यत्र न संदेग्धव्यमिति भावः । एतत्प्रमाणप्रत्यभिज्ञापनायैव अत्र मूलश्लोके कृष्णेति संबोधनं कृतमित्यवगन्तव्यम् ॥

पक्षे—एकदा समासविवक्षायामित्यर्थः । प्रायः प्रायशब्दः । अदन्तोऽयम् । अस्मिन् पक्षे पर इहेत्यत्र परे इहेति छेदः । चित्ते चित्तशब्दे परे परत्र विद्यमाने सति । अवसितौ अवसाने विरामे अन्ते इत्यर्थः । एकदा आस्थित इति छेदः । सत्वं आस्थितो यदि समस्तं समासं प्राप्तं तदेव प्रायः चित्तमिति पदद्वयमेव प्रायश्चित्तं भवेत् प्रायश्चित्तमिति निष्पद्येतेत्यर्थः । 'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः' इति प्रायशब्दात्परस्य चित्तशब्दस्य सुडागमावधानात् । यद्यपि सुडागमश्चित्तशब्दाद्यवयवभूत एव, 'आद्यन्तौ टकितौ' इति परिभाषणात् । तथाऽपि तस्य प्रायशब्दान्ते श्रवणात् प्रायशब्दोऽवसाने सत्वमास्थित इत्युक्तम्। आगमसकारस्य श्चुत्वेन शत्वम् । वस्तुतस्तु भाष्ये 'प्रायस्य चित्तिचित्तयोस्सुडस्कारो वा' इति पठितत्वात्प्रायशब्दान्त्यावयवभूतस्याकारस्य अस्कारे प्रायशब्द एवावसाने सत्वमास्थितो भवतीति न पूर्वोक्तक्लेशोऽनुसर्तव्यः । अस्कार इति प्रती-

कमादाय 'अस्य स्थाने अस्कारः अस्कारः शकन्ध्वादित्वात्प ररूपम्' इति कैयटेन विवृतम्। अस्य प्रायशब्दान्त्यस्य ह्रस्वाकारस्य अस्कारः असितिकरणं स एव अस्कारः। अ अस्कार इत्यत्र सवर्णदीर्घमाशङ्क्य शकन्ध्वादित्वात्पररूपमित्युक्तमिति कैयटग्रन्थाभिप्रायः॥

यथावा —

चित्तं परं प्रपद्य प्रायश्चित्ती बुभूषति तरां यः।
प्रायेणान्ते सयुजा पूर्वं स्वन्तेन तेन भवितव्यम्॥

अत्र भगवत्प्रपित्सुचेतनस्य प्रकृतस्य चित्तशब्दस्याप्रकृतस्य च श्लेषः। चित् तं इतिच्छेदः। यः चित् चेतनः तं 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इत्यादिना शरणागत जनसकलकलुषनिर्धूननकृतप्रतिज्ञतया प्रसिद्धम्। परं 'ब्रह्मावदाप्नोति परम्' इति ब्रह्मवित्प्राप्यतया श्रुतं परमात्मानं प्रपद्य शरणमुपेत्य प्रायश्चित्ती बुभूषति तरां अतिशयेन प्रायश्चित्तवान्भवितुमिच्छति। 'अनादेर्निस्सीम्नो दुरितजलधेर्यन्निरुपमं विदुः प्रायश्चित्तं रघुयदुधुरीणाशयविदः' इति प्रपदनस्य निरुपमप्रायश्चित्तत्वोक्तेरिति भावः। पूर्वं आदौ स्वन्तेन शोभनः अन्तो निश्चयो यस्य तथोक्तेन दृढनिश्चयेनेत्यर्थः। बृहस्पतिप्रमुखैरप्यकम्पनीयमहाविश्वासशालिनेति भावः। 'अन्तोऽस्त्री निश्चये नाशे स्व रूपेऽग्रेऽन्तिकेऽन्तरे' इति रत्नमाला। तेन चेतनेन अन्ते देहावसाने सयुजा शरण्यसमानापहतपाप्मत्वादिगुणकेनेत्यर्थः। 'युज्यत इति युक्छब्दो गुणपरः। धर्मिणि हि गुणस्संबध्यते। समानगुणकस्सयुक्' इति महासिद्धान्ते व्यासार्याः। यद्वा—

एकस्मिन् सप्रकारकब्रह्मरूपभोग्ये भोक्तृत्वेन ब्रह्मणा सह युज्यत इति सयुक् तेन तथोक्तेन प्रायेण भवितव्यम् । नात्र सन्देग्धव्यमिति भावः "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह । ब्रह्मणा विपश्चिता' इति श्रुत्यर्थोऽत्रानुसन्धेयः ॥

नन्वेवं सायुज्यशब्दस्य सार्ष्टिताशब्दस्य च 'एतासामेव देवतानाꣳ सायुज्यꣳ सार्ष्टिताम्' इत्यादिश्रुतिषु सहप्रयोगोऽनुचितस्स्यात् अर्ष्टिर्ह्यशनं भोग इति समानार्थकत्वादुभयोरिति चेदुच्यते । सायुज्यं नाम उभयोर्भोक्तव्ये विशेषाभावः । सार्ष्टिस्तु भोगस्य तरतमभावाभावः । यथाऽनुगृहीतं परिपूर्णब्रह्मानुभवाधिकारे श्रीमदाचार्यैः—

सायुज्यमुभयोरत्र भोक्तव्यस्याविशिष्टता ।
सार्ष्टिता तत्र भोगस्य तारतम्यविहीनता ॥ इति ।

अन्यत्र – यः प्रायशब्दः परं परत्र विद्यमानं चित्तं चित्तशब्दं प्रपद्य प्राप्य प्रायश्चित्ती बुभूषति तरां समस्ततया प्रायश्चित्तशब्दो भवितुमिच्छति तराम् । पूर्वं स्वन्तेन सुशब्दस्सुबुपलक्षकः विग्रहदशायां श्रूयमाणसुबन्तेनेति यावत् । तेन प्रायेण प्रायशब्देन अन्ते सयुजा सवर्णयुक्तेन भवितव्यं न तु प्राय इत्यव्ययेन, तस्य 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुब्लोपविधानेन सर्वदाऽप्यश्रूयमाणसुब्विभक्तिकत्वात्, स्वत एव सान्ततया अन्ते सयुजेति विधानस्यानावश्यकत्वाच्च । 'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः' इति प्रायशब्दस्यैव ह्रस्कारो विधीयते । स्वतस्सिद्धेऽपि प्रायशब्दस्य सुबन्तत्वे स्वन्तेनेति विशेषणमुक्ताविशेषार्थद्योतनायैवेति ध्येयम् । अन्यत्सर्वमव्यवहितपूर्वोदाहरणे निरूपितम् ॥

यथावा —

**ज्ञेयस्स सत्पदविदामादेशो भवति पूर्वपरयो-र्यः। एको येनाश्रुतमपि सर्वं स्पष्टं श्रुतं भवति॥**

अत्र सर्वप्रशासितुः परमात्मनः प्रकृतस्य शब्दशास्त्रीयैकादेशस्याप्रकृतस्य च श्लेषः। तथाहि—सः वक्ष्यमाणः अश्रुतश्रुतत्वकारणभूत आदेशः सत्पदविदां ‘सदेव सोम्येदम्’ इति श्रुतसद्वस्तुवेत्तृणां ‘पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु’ इत्यमरः। ज्ञेयः ज्ञातुं शक्यः। आदेशसच्छब्दयोरेकार्थकत्वादिति भावः। ज्ञेय इति ज्ञाधातुप्रयोगेण सद्विद्योपसंहारगतं ‘तद्धास्य विजिज्ञौ’ इत्येतत्प्रत्यभिज्ञाप्यते। सद्विद्यागतार्थप्रतिपादकत्वादस्य पद्यस्य। यद्वा—सत्पदविदां सतां ब्रह्मविदां पदं स्थानं पादं वा विन्दन्ति प्राप्नुवन्तीति तथोक्ताः तेषां, विन्दतेः क्विप्। ब्रह्मविदाचार्योपसदनशालिनामेवेत्यर्थः। ‘सर्वं वाक्यं सावधारणम्’ इति न्यायात्। सः पूर्वोक्तप्रकार आदेशः ज्ञेयः न तु केवलापरविद्याविदामनूचानमानिनां स्तब्धानामिति भावः। इदं च श्वेतकेतुर्नामोद्दालकस्य पुत्रो द्वादश वर्षाणि गुरुकुले वसन्नधिगतसाङ्गवेदो महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽभ्येत्य ब्रह्मविदग्रेसरस्योद्दालकस्य निजपितुस्संनिधिं तेन च ‘यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति’ इति पृष्टस्तदपरिज्ञानेन विगलितचित्तसमुन्नतिस्तदुपसदनेनैव तादृशमादेशं ज्ञातवान्न त्वन्यथेत्येतदभिसंधायोक्तमित्यवगन्तव्यम्। आदेशमेव विशिनष्टि—भवतीत्यादिना। यः पूर्वपरयोः पूर्वस्य चतुर्मुखादेः परस्य अर्वाचीनस्यास्मदादेश्च एकः अद्वितीयः आदेशः

आदिश्यतेऽनेनेत्यादेशः आदेष्टा प्रशास्ता भवति । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः । अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा । एकश्शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता । शास्ता विष्णुरशेषस्य । प्रशासितारं सर्वेषाम्' इत्यादिप्रमाणात् । आङ्पूर्वकाद्दिशेः करणे घञ्, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इत्यनुशासनात् । न च विवक्षितादेशकर्तृत्वरूपार्थविरोधश्शङ्क्यः 'विवक्षातः कारकाणां प्रवृत्तिः' इतिशाब्दिकोक्तनयात्कर्तर्येव करणान्तरनैरपेक्ष्येण साधकतमत्वविवक्षया तथा प्रयोगोपपत्तेः । आदेशमेव विशिनष्टि—येनेति । येन श्रुतेनेति यावत् । अश्रुतमपि सर्वं स्पष्टं यथा स्यात्तथा श्रुतं भवति । इदमुपलक्षणं श्रुतेन मतेन विज्ञातेन अश्रुतममतमविज्ञातं श्रुतं मतं विज्ञातं भवतीत्यस्य । अत्र 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतम्' इति सद्विद्यावाक्यार्थस्सर्वोऽपि प्रत्यभिज्ञापितः । अत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यत्र 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति, आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितं भवति' इति मुण्डकबृहदारण्यकवाक्यानुरोधेन येन श्रुतेनेत्याद्यर्थो वर्णितः । येनाश्रुतं श्रुतमित्यनेन उपादानत्वं प्रशासितृत्वार्थकादेशशब्देन चात्मस्वरूपमुक्तम् । तथाचात्मभूतमुपादानं सद्विद्यावेद्यमिति निष्पन्नोऽर्थः । अन्यत्सर्वं सुगमं ब्रह्ममीमांसाविदामित्यलं प्रपञ्चेन ॥

पक्षे—सत्पदविदां साधुशब्दशास्त्रवेतॄणां सः ज्ञेयः । यः पूर्वपरयोः एकः आदेशः भवति 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारविहितः 'आद्गुणः । वृद्धिरेचि । अकस्सवर्णे दीर्घः' इति गुणवृद्धिसवर्णदीर्घादिरेकादेशो विद्यते । येन उक्तविधेनादेशेन अश्रुतमपि

असंहितावस्थायां आदेशात्पूर्वं अप्राप्तश्रवणमपि ओकारौकारा-कारादि स्पष्टं श्रुतं भवति संहितायां विवक्षितायां प्राप्तश्रवणं भवति। यथा उप—इन्द्र इति स्थिते गुणादेशविधानात्प्रागश्रुत एकारः तदादेशविधानानन्तरं श्रूयते। यथाच कृष्ण एकत्व-मिति स्थिते अश्रूयमाण ऐकारो वृद्ध्यादेशविधानानन्तरं श्रू-यते। यथा चात्रैव पद्ये येन अश्रुतमित्यवस्थायामश्रुत आकारः आदेशविधानानन्तरं श्रूयत इत्यादि द्रष्टव्यम्॥

यथावा—

**इह तत्पुरुषेऽजादावुत्तरपद एव सति सदाऽ-धिपतौ। अनुशासनेन भायात्कदधिपतिः कोः कदा देशे॥८६३॥**

अत्र परमपुरुषस्य श्रीनिवासस्य प्रकृतस्य कदधिपतिरू-पतत्पुरुषस्य चाप्रकृतस्य श्लेषः। तथाहि—अजादौ अजस्य स्र-ष्टृतया प्रख्यातस्य ब्रह्मणोऽप्यादौ कारणभूते अधिपतौ 'एष भूताधिपतिः' इत्यादिश्रुते निरुपाधिकसर्वलोकेश्वरे। यद्वा—अजादौ अधिपतौ चतुर्मुखादेरीश्वरे 'स्वामीश्वराधिपति' इत्या-दिना अधिपतिशब्दयोगेन अजादावित्यत्र सप्तमी। स चासौ पुरुषश्च तत्पुरुषः। तस्मिन् 'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' इति श्रुतपरमव्योमनिलयतया प्रसिद्धे 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्' इति सर्वजगच्छरीरकतया श्रुते श्रीनिवासे इह अस्मिन् शेषा-चलरूपे उत्तरपदे उत्तमे स्थाने सदा न तु यदाकदाचित् सत्येव विद्यमान एव कोः भुवः 'गोत्रा कुः पृथिवी' इत्य-मरः। देशे प्रदेशे कदधिपतिः कुत्सितोऽधिपतिः आकालि-कापेक्षिकैश्वर्यवत्तया कुत्सनविषय ईश्वरंमन्योऽन्य इति भावः।

अनुशासनेन प्रशासितृत्वेन कदा भायात् । सर्वेश्वरेश्वरे सर्वप्रशासितरि श्रीनिवासे शेषाद्रौ देदीप्यमानवैभवे सति भुवि मितंपचैश्वर्यः कोऽपि प्रशास्तृतया न कदाऽपि भायादिति भावः ॥

अन्यत्र—तत्पुरुषे, एवेत्येतदिहान्वेति । तत्पुरुषसमासे विवक्षित एव न तु बहुव्रीहाविति भावः । तेन कूष्ट्रो राजेत्यादौ वक्ष्यमाणः कदादेशो न भवतीति ध्येयम् । अजादौ अज्वर्णादौ अधिपतौ अधिपतिशब्दे । अजादाविति विशेषणं वस्तुस्वरूपकथनमात्रपरं अधिपतिशब्दस्याजादितायाः स्फुटत्वात् । उत्तरपदे सति अनुशासनेन कोः कादित्यादिपदैः प्रत्यभिज्ञापितेन 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति सूत्रेण । कोः कुशब्दस्य उत्तरपदेन पूर्वपदस्याक्षेपात्पूर्वपदभूतस्येत्यर्थः । कदादेशे कदित्यादेशे सति सदा नित्यतयेत्यर्थः । कदधिपतिः भायात् । कदधिपतिरिति निष्पद्येतेत्यर्थः । उक्तसूत्रेण कदादेशस्य नित्यतया विधानादिति भावः ॥

यथावा—

**एको गोत्रे नियमादापत्यप्रत्ययः कृतश्शौरौ ।**
**नोत्पद्येत तदानीमन्यप्रत्ययपरम्पराऽनिष्टा ॥८६४**

अत्र भगवद्विषयध्यानस्य प्रकृतस्य गोत्रापत्यप्रत्ययस्याप्रकृतस्य च श्लेषः । तथाहि—गाः त्रायत इति गोत्रः गोपालः 'आतोऽनुपसर्गे' इति कः । तस्मिन् शौरौ भगवति वासुदेवे आपत्य आहत्येति यावत् । यदेति शेषः । आङ्पूर्वकात्पतेः क्त्वो ल्यप् । नियमात् एकः प्रत्ययः अविच्छिन्नस्मृतिसंततिः कृतः । तदानीं अनिष्टा भयहेतुतया हानिप्रदा अन्यप्रत्ययपरम्परा विजातीयप्रत्ययधारा नोत्पद्येत । विजातीयप्रत्ययानन्तरिततव-

मेव हि स्मृतिसंततेरविच्छेदः । अनिष्टेत्यनेन 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' इति श्रुत्यर्थस्सूच्यते । तथाहि तदर्थः—एष उपासकः एतस्मिन् परमात्मनि ध्यानस्य अन्तरं विच्छेदं अरं अल्पमपि यः कुरुते तस्य भयमुद्भवति, विदुषो ब्रह्मोपासनानिष्ठस्य तदतिरिक्तविषयस्पृहया निरन्तरं मननमकुर्वतः तदेव अमननं भयं, न हि तदपेक्षयाऽन्यद्भयमस्ति । उक्तं च महर्षिभिः—

यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवो न चिन्त्यते ।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिस्सा च विक्रिया ॥

इत्यादीति । 'हानिः इष्टहानिः, छिद्रं अनिष्टप्राप्तिरन्ध्रं, भ्रान्तिः तत्कृतचित्तस्खलनं, विक्रिया तेनाङ्गानामवशादयथायथव्यापारः' इति व्यासार्याः ।

पक्षे—गोत्रे 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' इत्युक्ते अपत्यत्वेन विवक्षिते पौत्रादिगोत्ररूपार्थे नियमात् 'एको गोत्रे' इति सूत्रेण कृतात् गोत्रे एक एव प्रत्ययस्स्यादिति नियमात् एकः आपत्यप्रत्ययः अपत्यार्थे विहितः प्रत्ययः यदोत्यध्याहारः । यदि कृतः कृतश्चेत् तदानीं शौरौ शौरिशब्दे, इदमुपलणमौपगवादीनां शब्दानाम् । अनिष्टा अन्यप्रत्ययपरंपरा नोत्पद्येत । अयं भावः—शूरस्य गोत्रापत्यमित्यर्थे शूरशब्दात् 'बाह्वादिभ्यश्च' इत्यनेन 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इति विहिताणपवादके इञि कृते पुनः 'तस्यापत्यम्' इत्यण्, ततः पुनस्तस्यापत्यमिति इञ्, इत्याद्यनिष्टप्रत्ययपरंपरा नोत्पद्यते । एवं उपगोर्गोत्रापत्ये अणि औपगवः ततः 'अत इञ्' इति इञ् औपगविः, ततः 'यञि-

ञोश्च' इति फक् औपगवायन इत्याद्यनिष्टप्रत्ययपरंपरा नोत्पद्येत 'एको गोत्रे' इति नियमादिति। अत्र—

गोत्रे स्वैकोनसंख्यानां प्रत्ययानां परंपरा।
यद्वा स्वद्व्यूनसंख्येभ्योऽनिष्टोत्पत्तिः प्रसज्यते॥
अपत्यं पितुरेव स्यात्ततः प्राचामपीति च।
मतभेदेन तद्वान्यै सूत्रमेतत्तथोत्तरम्॥

इति कारिकाऽर्थोनुसंधेयः। इति विश्रम्यते विस्तरभयात्॥

यथावा—

**यो देवेज्याशीलस्संमार्ष्ट्यखिलं ग्रहं पवित्रेण।**
**स्वकरधृतेनासाविह विवक्षितानुग्रहैकतानो हि॥**

अत्र अपामार्जनोक्तवराहनृसिंहादिभगवन्मन्त्रनिष्ठस्य पुंसः प्रस्तुतस्य यायजूकस्याप्रकृतस्य च श्लेषः। तथाहि—इह अस्मिन् लोके यः पुमान् देवेज्याशीलः देवस्य भगवतः इज्या जपस्तुत्यादिरूपमाराधनं 'वाग्यज्ञेनार्चितो देवः'—

इति वाग्भिः प्रशस्ताभिर्गभिष्यन्पूजितस्तया।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरस्सदा॥

इत्यादिभिर्जपस्तुत्यादेराराधनरूपताभिधानात्। देवेज्या शीलं स्वभावो यस्य स तथोक्तः। 'इज्या स्त्री यागदानार्चासंगेषु' इति रत्नमाला। असौ स्वकरधृतेन पवित्रेण कुशेन जात्येकवचनं, 'मार्जयेत्सर्वगात्राणि कुशाग्रैर्दालभ्यशान्तिकृत्' इत्युक्तेः। यद्वा—'अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाऽभ्युदीरिताः' इत्युक्तरीत्या स्वहस्तविन्यस्तेन मन्त्रपूतेनाम्भसा।

दधिकलशगोमयाम्बुषु कुशताम्रब्रह्मसूत्रमन्त्रेषु।
हेम्नयर्थे च पवित्रं त्रिषु पूते पुंसि शंभुपावकयोः॥

इति रत्नमाला । अखिलं सकलं ग्रहं डाकिनीपूतनादिभूतविशेषं –

> ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे ।
> सूर्यादौ पूतनादौ च सैंहिकेयोपरागयोः ॥

इति मेदिनी । संमार्ष्टि निरस्यतीति यावत् ॥

> सदा कराळवदनो नारसिंहो महारवः ।
> ग्रहानशेषान्निश्शेषान् करोतु जगतो हितः ॥
> शान्तिरस्तु शिवं चास्तु प्रणश्यत्वसुखं च यत् ।
> वासुदेवशरीरोत्थैः कुशैस्संमार्जितो मया ॥

इत्याद्यपामार्जनाध्यायोक्तक्रमेण वाराहनारसिंहादिमहामन्त्राभिमन्त्रितकुशोदकमार्जनेनाखिलान् ग्रहान् प्रणुदतीति भावः । तत्र हेतुमाह - विवक्षितेति । हि यस्मात् असावित्येतदत्राप्यनुषज्यते । असौ देवेज्याशीलः पुमान् विवक्षितानुग्रहैकतानः विवक्षितेषु वक्तुमिष्टेषु आदेशकारिषु विधेयेष्वित्यर्थः । 'विधेयो विनयग्राही वचनेस्थित आश्रवः' इति हि विधेयपर्यायाः पठ्यन्ते । न हि वक्तुमनिष्टेषु जनेषु विवक्षा कस्यचिदपि भवति । योऽनुग्रहः तस्मिन् एकतानः एकाग्रः 'एकतानोऽनन्यवृत्तिरेकाग्रैकायनावपि' इत्यमरः । विधेयजनानुग्रह एवोक्तरीत्या तदीयग्रहादिसर्वानिष्टनिवारणे हेतुरिति भावः । अनेन –

> अनाराधितगोविन्दा ये नरा दुःखभागिनः ।
> तेषां दुःखाभितप्तानां यत्कर्तव्यं दयाळुभिः ॥

इत्यपामार्जनोक्तप्रश्ने यद्दयाळुत्वमपामार्जनशान्तिकरणहेतुतयोक्तं तत्संगृहीतम् ।

पक्षे—हे देव! यः पुमान् इज्याशीलः यायजूकः असौ

स्वकरधृतेन पवित्रेण दशापवित्रेण अखिलं ग्रहं होमसाधन-पात्रविशेषं सर्वान्ग्रहानित्यर्थः । संमार्ष्टि संमार्जनेन संस्करोति । ननु 'ग्रहं संमार्ष्टि' इति संमार्जनकर्मणो ग्रहस्यैकत्वे श्रूयमाणेऽपि कथं सर्वान् ग्रहान् संमार्ष्टीत्युक्तमित्यत आह—इहेत्यादि । विवक्षिता नु ग्रहैकता नो हि इतिच्छेदः । हि यस्मात् इह 'ग्रहं संमार्ष्टि' इति वाक्ये ग्रहैकता ग्रहस्यैकत्वं ग्रहगतैकत्वरूपा संख्या नो विवक्षिता । न विवक्षितेत्यर्थः । नु इत्येतदनुनये 'नु स्यात्प्रश्ने विकल्पार्थेऽप्यतीतानुनयार्थयोः' इति विश्वः । एकत्वस्याविवक्षितत्वात्सर्वान् ग्रहान् संमार्ष्टीति संमार्गाधिकरणोक्तोऽर्थोऽत्रानुसंधेयः । अयं च संमार्गन्यायः जैमिनीयदर्शने तृतीयाध्याये मीमांसितः । तथाहि ज्योतिष्टोमे 'दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि' इति श्रूयते । तत्र संशयः किमेकस्य संमार्गः किं वा सर्वेषामिति । तदर्थं चिन्ता—किमत्रोद्देश्यगता संख्या विवक्षिता उताविवक्षितेति । यथा 'पशुना यजेत' इत्यत्र एकत्वश्रुतिबलादुद्देश्यगताऽपि संख्या विवक्षिता, एवमत्राप्युद्देश्यगता संख्या विवक्षिता भवितुमर्हति । तस्मादेकस्यैव ग्रहस्य संमार्ग इति पूर्वपक्षं प्रापय्य पशोरनेनैव वचनेन यागसंबन्धावगमाद्यागं प्रति पशोर्गुणभूतत्वाद्यावद्गुणं प्रधानावृत्त्यभावात्कियता पशुनेति परिच्छेदकाकाङ्क्षायां तत्परिच्छेदकत्वेनैकत्वसंख्या संबध्यत इत्युपादेयगतायास्संख्याया विवक्षितत्वं युक्तम् । ग्रहाणां तु वाक्यान्तरेण यागसंबन्धावगमात् संमार्गवाक्ये द्वितीयाश्रुत्या संमार्गं प्रति ग्रहस्य प्राधान्यावगमात् यावत्प्रतिप्रधानं गुणस्य संमार्गस्यावर्तनीयत्वात् कियन्तो ग्रहास्संमार्जनीया इत्याकाङ्क्षाया अनुदयादुद्देश्यग्रहगता संख्या न विवक्षिता । तस्मात्सर्वे ग्रहास्संमार्जनीया इति सिद्धान्तितम् ॥

यथावा—

यदि ननु निष्ठातोनो यदुपतिमहिळेभवत्प्रप-
दि भवति । अग्रेभवदश्च तदा भवेत्प्रपन्नोऽयमत्र
को विशयः ॥ ८६६ ॥

अत्र लक्ष्मीपदारविन्दप्रपन्नस्य प्रपन्नशब्दस्य च श्लेषः । तथाहि—ननु यदुपतिमहिळे! 'मामेकं शरणं व्रज' इत्यादि वदतो भगवतो वल्लभे! अनेन तस्या अपि ताद्धर्म्यं द्योतितम् । 'नित्यं तद्धर्मधर्मिणीम्' इति ह्युच्यते । भवत्प्रपदि भवत्याः पादाग्रे 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पुंवद्भावः । 'पादाग्रं प्रपदम्' इत्यमरः । निष्ठातः, सार्वविभक्तिकस्तसिः । तदेकतत्परतया तच्छरणवरणैकव्रततया वा 'निष्ठा तु नाशे निष्पत्तावन्ते तात्पर्ययाच्ञयोः' इति रत्नमाला । 'निष्ठोत्कर्षव्यवस्थयोः । क्लेशे निष्पत्तौ नाशेऽन्ते निर्वाहे याचने व्रते' इति हेमचन्द्रः । अनितीत्यनः प्राणिता 'अन प्राणने' पचाद्यच् । 'प्रपन्नश्चातको यद्वत्, धर्मं धारय चातकस्य कुशलिन्धाराधरैकान्तिनः' इत्याद्युक्तरीत्या त्वच्चरणशरणवरणैकान्तिकतैकधारक इत्यर्थः । यद्वा निष्ठातः प्रार्थनया । कोशस्तूक्तः । प्रार्थनापलक्षितानुकूल्यमुखाङ्गपञ्चकेन अनः उज्जीवितेत्यर्थः । यदि भवति तदा अयं प्रपन्नः स्वतन्त्रप्रपत्तिनिष्ठः पुमान् अग्रे प्रपत्त्युत्तरं भवं जन्म गर्भप्राप्तिं वा द्यति अवखण्डयतीति भवदः 'दो अवखण्डने' अस्मात् 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति कृतात्वात् 'आतोऽनुपसर्गे' इति कः । यद्वा -अग्रे भवं दायतीति भवदः 'दैपु शोधने' शोधनार्थकादस्माद्धातोः पूर्वोक्तरीत्यैव कः पुनर्जन्म शोधयति तत्संबन्धं निर्मार्ष्टीत्यर्थः । शोधयतेः 'सर्वपापविशुद्धात्मा' इत्यादौ क्षाळनार्थे प्रयोगदर्शनात् । त

च्छरीरावसान एवास्य निश्श्रेयसावाप्तेर्निरर्गळतया पुनर्भवप्रसक्तेरनवकाशादिति भावः। अग्रे भवदश्चेति चशब्देन स्वतन्त्रप्रपदननिष्ठोऽयं 'प्रारब्धं परिभुज्य कर्मशकलम्' इत्युक्तरीत्याऽभ्युपगतप्रारब्धं तच्छरीरावधिकमेवानुभूय 'प्रक्षीणकर्मान्तरः' इत्युक्तप्रक्रियया अनभ्युपगतप्रारब्धखण्डफलभोगदशरीरान्तरसंबन्धं धुनोति। 'न्यासेन क्षपयन्ननभ्युपगतप्रारब्धखण्डं च नः' इत्युक्तेः, न त्वङ्गप्रपदननिष्ठ इव संपूर्णप्रारब्धकर्मफलभोगार्थविद्यारम्भोत्तरकालिकशरीरान्तराण्यप्यनुभवतीति सूचितम्। अग्रे भवद इत्यस्य अग्रे प्रपत्त्युत्तरक्षणमेव भवद इत्यर्थविवक्षायां प्रपन्नोऽसावार्तः, प्राथमिकार्थपक्षे दृप्त इति वैलक्षण्य बोध्यम्॥

पक्षे—यदुपतिर्महिळेऽभवत्प्रपदीत्यत्र अभवादितिच्छेदः। भवतीति संबुद्ध्यन्तं पदम्। ननु भवति! पूज्ये! यदुपतिर्महिळे! प्रपदि प्रपूर्वकपदधातौ निष्ठातः निष्ठा क्तप्रत्ययः 'क्तक्तवतू निष्ठा' इत्यनुशासनात्। तस्याः यः त् क्तप्रत्ययसंबन्धितकारः तस्य। हलन्तोऽयं शब्दः। अग्रेभवदश्च क्तप्रत्ययापेक्षया पूर्वस्य धात्ववयवस्य दकारस्य च। अयमपि हलन्त एव। नः नादेशो यद्यभवत्, तदा अयं शब्दः प्रपन्नः भवेत् प्रपन्न इति निष्पद्येत 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति रेफदकाराभ्यां परस्य निष्ठातकारस्य तत्पूर्वस्यदकारस्य च नत्वानुशासनादिति भावः। अत्र उक्तेऽर्थे को विशयः न कोऽपि संदेह इत्यर्थः॥

यथावा—

**उपदिशतु हरिं स्तौत्विति न तुलोपो दृश्यते कदाऽप्यस्मिन्। निन्देति यदि प्रवदेदतोहिलोपः पुरा भवत्येव॥ ८६७॥**

अत्र भगवद्विषयकस्तुतिनिन्दाऽभ्यनुज्ञानयोस्सदसत्फलकयोः प्रकृतयोः स्तौतु निन्द इति तिङन्तशब्दयोः तुलोपाभावहिलोपवतोरप्रकृतयोश्च श्लेषः । तथाहि—हरिं स्तौतु इत्युपदिशतु जनानामिति शेषः। अस्मिन् उपदेष्टरि पुरुषे कदाऽपि लोपः श्रेयोहानिः न तु दृश्यते नैव दृश्यते मूढान् भगवन्नुतौ प्रवर्तयितुर्न कदाऽपि काचिदपि हानिर्भवति । प्रत्युत श्रेयोऽतिशय एव—

अज्ञानाय तु यो ज्ञानं दद्याद्धर्मोपदेशनम् ।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं न तत्फलम् ॥

इत्याद्युक्तेः । निन्द हे जनेति शेषः । त्वं भगवन्तं निन्द निन्दतेर्लोण्मध्यमैकवचनम् । इति प्रवदेद्यदि अतः अस्मादेव निन्दाप्रवर्तनवचनात् लोपः हानिः पुरा भवेदेव निकटागाम्येव अव्यवहितोत्तरलक्षणागाम्येव भवति । 'निकटागामिके पुरा' इत्यमरः। अस्मिन्नर्थे 'शीघ्रं गच्छ पुरा देवो वर्षति' इति प्रयोगश्च । भगवन्निन्दनप्रवर्तयितुस्सद्य एव सर्वश्रेयोहानिः संपद्यते इति भावः ॥

यो निन्देत्कमलाकान्तं निन्दयेद्वा पृथग्जनैः ।
न विघ्नस्तं महाराज यस्तस्य निरयो भवेत् ॥

इत्युक्तेः ॥

पक्षे—हरिं स्तौतु इत्युपदिशतु । अस्मिन् स्तौतु इति पदे तुलोपः तुवर्णलोपः न दृश्यते । लोपविधायकशास्त्राभावात् श्रूयत एवेत्यर्थः । निन्देति प्रवदेद्यदि अस्मिन् निन्देतिशब्दे अतोहिलोपः 'अतो हेः' इति सूत्रविहितो हिलोपः पुरा भवत्येव अभवदेवेत्यर्थः । 'पुरि लुङ्चास्मे' इति पुराशब्दयोगे भूते लट् ।

लोण्मध्यमैकवचनस्य सिपः 'सेर्ह्यपिच्च' इति ह्यादेशे 'अतो हेः' इति अतः परस्य हेर्लुगनुशासनात्। हिलोपानन्तरमेव हि निन्देति रूपं श्रूयत इति भावः॥

यथावा--

**रघुवरदिव्यकथामृतलिडभूद्यदि भुवि तदा बभूवैवायम्। एकः पुरुषः प्रथमस्तथोत्तमो भवति मध्यमो नैवेह॥ ८६८॥**

अत्र भगवत्कथामृतास्वादिनः पुंसः प्रकृतस्य भूधातोर्विहितस्य लिटोऽप्रकृतस्य च श्लेषः। तथाहि भुवि भूमौ रघुवरदिव्यकथामृतं लेढीति रघुवरदिव्यकथामृतलिट्, लिहतेः क्विप्। अभूद्यदि अयं पुमान् बभूवैव सत्तामलभतैव 'भू सत्तायाम्' इति हि धातुः 'भृशानुरक्तो मेधावी न भविष्यति लक्ष्मणः' इत्यादौ सत्तार्थकता च प्रसिद्ध्यति। सत्ता चात्मलाभः। भगवद्दिव्यकथामृतास्वादेनैवास्य सत्तालाभो नान्यथेति भावः। अद्यत्वे ईदृशो दुर्लभ इति द्योतनाय परोक्षभूतनिर्देशः। तमेव विशिनष्टि—एक इति। अयमित्यनुषज्यते। अयमेकः पुरुषः एक एव पुमान् 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात् इह अस्मिन् लोके तथा उत्तमः अनिर्वचनीयतया उत्तमः। तथाशब्दोऽनिर्वचनीयवाची 'तथा गतां ताम्' इत्यादौ तथा दर्शनात्। अत एव प्रथमः सर्वेषामग्रणीः भवति मध्यमो नैव भवति कथमीदृशो मध्यमस्स्यादिति भावः॥

पक्षे—दिव्यं कथामृतं यस्य तस्य संबुद्धिः हे रघुवर! भुवि भूधातौ लिट् 'परोक्षे लिट्' इति विहितो लिट् अभूद्यदि परोक्षवृत्तेर्भूधातोर्लिड्यदाऽभूत् तदा अयं भूधातुः बभू-

वैव । अभूदित्यनुषज्यते । बभूवेत्येव निष्पन्नोऽभूदित्यर्थः । उक्त-रूपनिष्पत्तेर्निस्संदिग्धत्वद्योतनाय भूतनिर्देशः । किमखिललिट्स्वपि बभूवेत्येव रूपं स्यादित्यत अह—एक इत्यादिना । इह अस्मिन् भूधातौ । अयमित्यनुषज्यते । अयं लिट् एकः एकत्वसंख्या-बोधकः प्रथमः पुरुषः प्रथमपुरुषैकवचनमिति भावः । भूधा-तोर्लिटस्तिपः 'परस्मैपदानां णल्' इत्यादिना णलादेशे बभू-वेति निष्पत्तेः । लिट्प्रथमपुरुषैकवचनस्यैवेदं रूपमिति भावः। न केवलमेतावदेव। तथा उत्तमः तद्वदेव एकत्वबोधक उत्त-मपुरुषश्च भवति। मिपो णल्यपि बभूवेत्येव रूपनिष्पत्तेः । नैव मध्यमो भवति मध्यमपुरुषैकवचनं तु न भवति । तत्र बभू-विथेत्येव हि रूपं न तु बभूवेति ॥

यथावा—

सर्वेषां वर्णानां प्रतिलोमानामुतानुलोमानाम्।
तुल्यार्थदोऽखिलात्मन् सन्न्यासो भवति हि स्वनि-
ष्ठानाम् ॥ ८६१ ॥

अत्र प्रकृतस्य भगवति भरन्यासस्य अप्रकृतस्य सन्न्या-सशब्दस्य च श्लेषः । तथाहि—हे अखिलात्मन्! भगवन्! भवति त्वयि सन्न्यासः प्रपदनं,

निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः ।
सन्न्यासस्त्याग इत्युक्तश्शरणागतिरित्यपि ॥

इति सन्न्यासशब्दस्य प्रपत्तिपर्यायतोक्तेः । स्वनिष्ठानां स्वश-ब्दस्सन्न्यासपरः स्वस्मिन्निष्ठा येषां ते तथोक्ताः तेषां प्रपदनै-कान्त्यभाजामित्यर्थः । सर्वेषां वर्णानां ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयजा-नामिति यावत् । अनुलोमानां अनुलोमजानां उत प्रतिलो-

मानां प्रतिलोमजानां वा 'अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः' इत्युभयत्रापि समासान्तोऽच् । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । उत्कृष्टवर्णजात्पुंसोऽपकृष्टवर्णजस्त्रियां जाताः अनुलोमजाः । अपकृष्टवर्णजात्पुरुषादुत्कृष्टवर्णजस्त्रियां जाताः प्रतिलोमजाः । तथा च स्मर्यते याज्ञवल्क्येन—

विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशस्स्त्रियाम् ।
अम्बष्ठश्शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि वा ॥
वैश्याशूद्र्योस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ ।
शूद्रायां करणो वैश्याद्विन्नास्वेष विधिस्स्मृतः ॥
ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहकस्स्मृतः ।
शूद्राज्जातस्तु चण्डालस्सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥
क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात्क्षत्तारमेव च ।
शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥
माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते ।
असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः ॥

इति । असन्तः प्रतिलोमजाः सन्तस्त्वनुलोमजा इति विज्ञेया इत्यर्थः । तुल्यार्थदः समानपुरुषार्थदायी वर्णाश्रमादिकक्ष्याविभागेन विनैव तत्तदभीप्सितसर्वविधपुरुषार्थप्रद इत्यर्थः ॥

अनन्योपायशक्तस्य प्राप्येच्छोरधिकारिता ।
प्रपत्तौ सर्ववर्णानां सात्विकत्वादियोगिनः ॥
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा ॥

इति भगवत्प्रपदनस्य सर्वाधिकारिकत्वसर्वपुरुषार्थप्रदत्वोक्तेः । एतदभिप्रायेणैव हि मूले भगवतोऽखिलात्मन्निति संबोधनम् ॥

पक्षे—सन्न्यासः सन्न्यास इति शब्दः । अयं च समो मकारस्यानुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति वैकल्पिकपरसवर्णे स-

न्यास इति छिन्नकारक एव ग्राह्यः । अन्यथा विवक्षितस्यानुलोमप्रतिलोमपाठयोरानुपूर्वीतौल्यस्य दुर्लभत्वात् । स्वनिष्ठानां स्वस्मिन्विद्यमानानां सर्वेषां वर्णानां अक्षराणां अनुलोमानां प्रतिलोमानां वा सतां तुल्यार्थदः समानाभिधेयबोधको भवति । भवतीत्येतदस्मिन्पक्षे तिङन्तम् । स्वनिष्ठवर्णा आनुलोम्येन वा पठ्यन्तां प्रातिलोम्येन वा । उभयथाऽपि तुल्यानुपूर्वीकताया एव दर्शनादानुलोम्यप्रातिलोम्यानादरेणायं सन्न्यास इति शब्दस्तुल्यार्थबोधक एव भवतीति भावः ॥

यथावा—

यदिवाऽक्रूरसहायो बलवानिह लोकपालकेन्द्रगतः । सौम्योनुग्रह एको भविताऽरिष्टस्य भङ्गदस्सद्यः ॥ ८७० ॥

अत्र भगवदनुग्रहस्य प्रकृतस्य सौम्यग्रहस्याप्रकृतस्य च श्लेषः । तथाहि—अक्रूरस्य अक्रूराख्यस्य सहायः त्रातेति यावत् । बलवान् आश्रितोज्जीवनौपयिकसामर्थ्यवान् सौम्यः अनुग्रः । अनेन सुखनिषेवणीयत्वं द्योतितम् । लोकपालकादीनां इन्द्रादीनामपि इन्द्रः ईश्वरः भगवान् 'एष भूताधिपतिरेष लोकपालः' इत्यनौपाधिकलोकपालत्वश्रवणात् । तं गतः प्राप्तः तदीय इत्यर्थः । एकः सहायान्तरनैरपेक्ष्येणैव स्वकर्तव्यसर्वकार्यनिर्वोढा अनुग्रहः कृपा इह यदिवा भविता अक्रूर इव मय्यपि स्याच्चेदिति भावः । अरिष्टस्य मदीयानादिकालप्रवृत्ताकृत्यकरणकृत्याकरणादिसर्वविधाशुभस्य भङ्गदः निर्मूलयिता सद्य एव भविता न तु विलम्बेन ॥

तावदार्तिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तथाऽसुखम् ।
यावन्नायाति शरणं त्वामशेषाघनाशनम् ॥

इत्युक्तन्यायेन त्वदनुग्रहावधिक एव ममाशुभस्पर्शो इति भावः ॥

पक्षे—

बुधभार्गवजीवानामेकतमः केन्द्रमागतो वलवान् ।
क्रूरसहायो यद्यपि सद्योऽरिष्टस्य भङ्गाय ॥

इति बालारिष्टभङ्गवादिपद्यार्थोऽनुसन्धेयः । तथाहि—हे लोकपालेति भगवतस्संबोधनम् । सौम्यः नु ग्रहः इतिच्छेदः । सौम्यः एको ग्रहः बुधभार्गवजीवानामन्यतम इति भावः । बलवान् स्थानदिक्कालचेष्टादिबलाढ्यः केन्द्रगतः लग्नचतुर्थसप्तमदशमान्यतमस्थानस्थितः क्रूरसहायः क्रूराः कुजादिदुष्टग्रहाः सहाया यस्य स तथोक्तः यदि वा स्यात् क्रूरग्रहयुतोऽपि वा सद्यः अरिष्टस्य बालारिष्टस्य भङ्गदः भविता । किमु तदयुक्त इति भावः ॥

यथावा—

**भगवन्विधो तवैतैस्सौम्यैरस्तारिपरिभवस्थितिभिः । अधियोगे ज्योतिर्भिर्जातास्सेनेशसचिवभूपास्स्युः ॥८७१॥**

अत्र भगवच्चन्द्रमसोः प्रकृताप्रकृतयोश्श्लेषः । तथाहि—भगवन्! पूर्णषाड्गुण्य! हे विधो! हे विष्णो! 'विधुर्विष्णौ चन्द्रमसि' इत्यमरः । सौम्यैः शुभैः अस्तारिपरिभवस्थितिभिः अस्ता निरस्ता अरिपरिभवस्य वैरिकर्तृकपराभवस्य स्थितिः यैस्तथोक्तैः निरस्तारिपरिभवा स्थितिर्येषां तैस्तथोक्तैरिति वा । परिहृतबाह्यान्तरवैरिवर्गैरित्यर्थः । एतैः तव ज्योतिर्भिः दृष्टिभिः कटाक्षैरित्यर्थः । 'ज्योतिर्भद्योतदृष्टिषु' इत्यमरः । 'ज्योतिरग्नौ दिवाकरे । पुमान्नपुंसकं दृष्टौ स्यान्नक्षत्रप्रकाशयोः' इति मेदिनी च । अधियोगे अधिकसंबन्धे सति जाताः जन्मवन्तो जनाः सेनेश-

सचिवभूपाः चमूपतिमन्त्रिराजानः यथायोगं स्युः भगवत्कटाक्षगोचराणां किं दुर्लभमिति भावः ॥

पक्षे—हे भगवन्! हे श्रीमन्! हे विधो! हे इन्दो! तव यत्रक्वा राशौ स्थितस्य तवेति भावः। अस्तारिपरिभवस्थितिभिः अस्तं सप्तमो राशिः अरिः षष्ठः परिभवोऽष्टमः। 'षष्ठं क्षतार्याह्वयं जामित्रास्तकळत्रमन्मथमद्यूनाभिधं सप्तमम्। रन्ध्रायुर्मरणं परास्वमृतिस्थानं वदन्त्यष्टमम्' इति माधवीयोक्तेः। तेषु स्थानेषु स्थितिर्येषां तैः तथोक्तैः सौम्यैः शुभैः बुधगुरुशुक्रैः ज्योतिर्भिः ताराग्रहैः। कोशस्तूक्तः। अधियोगे सर्वैश्शुभग्रहैर्यत्रक्वा स्थिताच्चन्द्रात् षष्ठसप्तमाष्टमराशिवर्तिभिः अधियोगो नाम राजयोगः क्रियते। तस्मिन् राजयोगे जाताः जन्मवन्तः सेनेशसचिवभूपाः क्रमात्स्युः ॥

सौम्यैस्स्मरारिनिधनेष्वधियोग इन्दोः।
तस्मिश्चमूपसचिवक्षितिपालजन्म ॥

इति वराहमिहिरोक्तेरिति भावः ॥

यथावा—

**पामरमपि पदलग्नं लघु कृत्वा निर्ममन्ततस्तमपि। परमात्मा कविवर्यो दर्शयति जनैस्सुदुर्गमं पारम् ॥ ८७२ ॥**

अत्र भगवान् प्रस्तुतः कविवर्यस्त्वप्रस्तुतः। तयोः श्लेषः। तथाहि—कविवर्यः कविभिर्विद्वद्भिर्वरणीयः। यद्वा—कवीनां वरेण्यः, पञ्चरात्रगीतादिप्रणेतृत्वात्। 'कविर्मनीषी' इति श्रुतेः। परमात्मा 'तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा' इति श्रुतस्सर्वान्तरात्मा नारायणः पदलग्नं स्वचरणं शरणं गतं पामरमपि

प्राकृतमपि जनं लघु क्षिप्रमेव निर्ममं 'ममेति द्व्यक्षरो मृत्युः' इत्युक्तदेहादिममतारहितं, ममेति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं, निर्गतं मम यस्येति विग्रहः । कृत्वा ततः निर्ममताहेतोः तमपि एवं कृतं जनमपि । निर्ममन्तत इत्यत्र 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णः । जनैः पामरैः 'जनो लोके महर्लोकात्परलोकेऽपि पामरे' इति मेदिनी । सुदुर्गमं अतिवेलदुर्लभं पारं 'तमसः पारं दर्शयति भगवान्' इति श्रुतं संसारसंतमसचण्डभानूयमानोपासनागोचरमात्मानं दर्शयति 'दृशेश्च' इति द्विकर्मकता। निश्श्रेयसभाजं विदधातीति भावः ॥

पक्षे—परमः श्रेष्ठः आत्मा बुद्धिर्यस्य स तथोक्तः । कविवर्यः काव्यकृदग्रणीः । पदलग्नं पदेषु सुप्तिङन्तात्मकेषु व्यवह्रियमाणेषु शब्देषु लग्नं अन्यतमत्वेन संबद्धं पामरं पामरशब्दमपि लघु यथातथा, निर्मं अन्तत इतिच्छेदः । अन्ततः मध्ये 'अन्तोस्त्री निश्चये नाशे स्वरूपेऽग्रेऽन्तिकेऽन्तरे' इति रत्नमाला । निर्मं निर्गतमकारं कृत्वा पामरशब्दे मध्यस्थमकारमुत्सार्येत्यर्थः । जनैः सुदुर्गः गन्तुमशक्यः दुर्विज्ञान इत्यर्थः । तादृशो मः मकारो यस्य तं तथोक्तम् । मकारोत्सारणे पुनर्मकारश्रवणं क्लृप्यमिति भावः । पारं पारशब्दं दर्शयति, पामरशब्दमुत्सारितमकारं पारं सन्तं दर्शयतीत्यर्थः ॥

यथावा—

देवेशाधीशस्स्याद्विदितो जगदीशवल्लभेयमवेः।
किमुत स देशाधीशो दृष्टमदृष्टं च वयमिहाब्रूम॥

अत्र भगवत्या श्रियाऽभिरक्षितस्य पुंसः देवेशाधीशशब्दस्य च श्लेषः । तथाहि—हे जगदीशवल्लभे! त्वं यं अवेः

रक्षेः। अवतेर्लिङ्युत्तमपुरुषैकवचनम्। स पुमान् देवेशानां लोकपालानामप्यधीशः विदितः प्रसिद्धः स्यात्। देशाधीशः देशानां ऐहलौकिकानां विषयाणां 'देशविषयौ' इत्यमरः। अधीशः राजा स्यादिति किमुत किमु वक्तव्यम्। नैतदाश्चर्यमिति भावः। इह अस्मिंस्त्वद्रक्षिते पुंसि विषये दृष्टं ऐहिकं फलं देशाधीशतावाप्तिरूपं अदृष्टं देवेशाधीशतावाप्तिरूपमामुष्मिकं फलं चेति वैपरीत्येन योज्यम्। वयं त्वत्प्रभावाभिज्ञा इति भावः। अब्रूम अवोचाम॥

पक्षे—जगदीशवल्लभेऽयमित्यत्र अयमिति छेदः। देवेशाधीशः देवेशाधीशशब्दः विदितस्स्यात् त्वया ज्ञात एव भवेत्। सोऽयं उक्तो देवेशाधीशशब्द एव अवेः वेकाररहितस्सन् सेः सयौ सयः इतिवद्वेश्शब्द एदन्तः। देशाधीशस्स्यात् देशाधीश इति निष्पद्येत। इह अनयोः देवेशाधीशदेशाधीशशब्दयोः वयं वे इति वर्णे वे इति प्रातिपदिकादमि अयादेशे सयमितिवद्द्वितीयैकवचनं दृष्टं देवेशाधीशशब्दे श्रुतं अदृष्टं देशाधीशशब्दे अश्रुतं च यथाक्रमं अब्रूमेति। काव्यार्थापत्तिसंकीर्णोऽयम्। एवं प्रागुपदर्शितेषूदाहरणेषु यथासंभवमलंकारान्तरसंकीर्णत्वं प्रतिभाशालिभिरून्नेयम्॥

यथावा—

**श्रीरम्या सैकावळ्यभिख्यया भात्यलंकृतिश्श्ला-**
**घ्या। साधुकृतार्थश्रेणीगृहीतमुक्ताकृतिर्यस्याः॥**

अत्र प्रस्तुतायाः श्रियः अप्रस्तुतयोः मुक्तावळ्येकावळ्यलंकारयोश्चेत्यर्थत्रयस्य श्लेष इति विशेषः। तथाहि, श्रीपक्षे—श्रीः रम्या सा एका वळ्यभिख्यया भाति अलं कृतिश्श्लाघ्या

साधु कृतार्थश्रेणी गृहीतमुक्ताकृतिः यस्याः इति छेदः। वल्यभिख्यया वलीनां त्रिवलीनां अभिख्यया शोभया रम्या। एका अप्रतिद्वंद्वा सा श्रीः अलं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा कृतिभिः विद्वद्भिः श्लाघ्या भाति। तामेव विशिनष्टि—साध्विति। यस्या इति पञ्चमी। यस्याः श्रियस्सकाशात् तदनुग्रहादिति यावत्। कृतार्थानां अनुष्ठितोपायतया कृतकृत्यानां श्रेणी पङ्क्तिः साधु यथा स्यात्तथा गृहीतमुक्ताकृतिः उपात्तमुक्तस्वरूपा भवतीति॥

मुक्तावलीपक्षे तु—श्रीरम्या सा एकावल्यभिख्यया भाति अलंकृतिः श्लाघ्या साधु कृता अर्थश्रेणीगृहीतमुक्ता आकृतिः यस्याः इतिछेदः। श्रिया लावण्यलक्ष्म्या रम्या रमणीया श्लाघ्या सा अलंकृतिः आभरणं एकावल्यभिख्यया एकावलीनाम्ना 'एकावल्येकयष्टिका' इत्यमरः। भाति, यस्याः एकावल्याख्यालंकृतेः आकृतिः स्वरूपं अर्थश्रेण्या अनल्पेन धनेनेत्यर्थः। गृहीताः क्रीताः मुक्ताः मौक्तिकानि यस्यास्सा तथोक्ता। साधु यथा स्यात्तथा कृता निष्पादितेति॥

एकावल्यलंकारपक्षे तु—पूर्वार्धे पूर्ववदेव छेदः। उत्तरार्धे तु—साधु कृता अर्थश्रेणी गृहीतमुक्ताकृतिः इति विशेषः। श्रिया काव्यलक्ष्म्या रम्या सा अलंकृतिः अलंकारः एकावल्यभिख्यया तन्नाम्ना श्लाघ्या सती भाति। यस्याः अलंकृतेः अर्थानां अभिधेयानां श्रेणी पङ्क्तिः गृहीतमुक्ता आकृतिः यस्यास्सा तथोक्ता। साधु कृता रचिता 'गृहीतमुक्तरीत्याऽर्थश्रेणिरेकावली मता' इति तल्लक्षणादिति॥

यथावा—

देवोत्तमस्वरूपासितभाभायात्सदात्मनिविडौ-

जाः । द्युमणिर्नलिनदळेक्षण इह सुतरां शूरविख्यातः ॥८७५॥

अत्र प्रकृतो भगवान् अप्रकृताविन्द्रादित्यौ त्रयाणामेषां श्लेषः । तथाहि, भगवत्पक्षे—स्वरूपासितभाः स्वरूपेण स्वभावेन असिता श्यामला भाः दीप्तिर्यस्य स तथोक्तः 'नीलतोयदमध्यस्था, श्यामाच्छबलं प्रपद्ये' इत्यादिश्रवणात् । सदात्मनिविडौजाः सतां ब्रह्मविदां आत्मनि मनसि । संश्चासावात्मा चेति कर्मधारयो वा । उभयथाऽपि विशुद्धे मनसीत्यर्थः । निविडौजाः अविरळप्रकाशः 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इति शाण्डिल्यविद्यायां विशुद्धमनोग्राह्यत्वभास्वररूपत्वयोश्श्रवणात् अत्र—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥
अन्तश्शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

इत्यादिश्रुतयोप्यनुसन्धेयाः । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिस्स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः । द्युमणिः दिवि परमे व्योम्नि मणिरिव विद्योतमानः 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति श्रुतेः । शूर इति विख्यातः 'शूरश्शौरिः' इति तन्नामसु पाठात् । यद्वा—शूरशब्दो यदुशब्दवत्तदपत्येषु लाक्षणिकः । शूरेषु यदुविशेषेषु विख्यातः येन स शौरिरित्यभिधीयते । द्युमणिशब्देन परत्वं शूरविख्यातशब्देन सौलभ्यं च दर्शितम् । देवोत्तमः चतुर्मुखादीनामप्युत्तमः 'यत्र देवानामधिदेव आस्ते' इत्यादिश्रुतेः । नलिनदळेक्षणः पुण्डरीकपलाशलोचनः भगवान् इह अस्मिन् लोके सुतरां भायात् ॥

इन्द्रपक्षे—स्वरूपासितभाः स्वरुणा वज्रेण 'शतकोटि-स्स्वरुः' इत्यमरः । उपासिता स्वस्मिन्नुपवेशिता तेन सेविता वा 'आस उपवेशने' अस्माण्णिजन्तात्कर्मणि क्तः । भाः प्रभावो यस्य स तथोक्तः वज्रायुधोन्मिषितप्रभाव इत्यर्थः । 'भाः प्रभावे मयूखेऽस्त्री' इति मेदिनी । द्युमणिः स्वर्लोकाभरणभूतः 'द्यौः स्त्री स्वर्गे च गगने' इति मेदिनी । नलिनस्य सहस्र पत्रस्य दलानीव ईक्षणानि यस्य स तथोक्तः सहस्राक्ष इति भावः । शूरः विक्रान्तः स चासौ विख्यातश्च वृत्रादिमहासुरवधप्रख्यातशौर्य इति भावः । देवोत्तमः निर्जरेषु श्रेष्ठः । सदा आत्मनि विडौजाः इति छेदः । विडौजाः इन्द्रः सुतरां आत्मनि बुद्धौ सदा भायात् इति ॥

आदित्यपक्षे तु—स्वरूपे स्वाकारे आसिता उपवेशिता । यद्वा—स्वरूपेण स्वभावेनैव आ समन्तात् सिता बद्धा भाः दीप्तिः यस्मिन् स तथोक्तः । 'षिञ् बन्धने' कर्मणि क्तः । 'मुदितं संदितं सितम्' इत्यमरः । स्वभावतो निश्चलदीप्तिरित्यर्थः । अथवा आसितं स्थितिः आसेर्भावे क्तः स्वरूपस्यासितं तेन भासत इति स्वरूपासितभाः, भासतेः क्विप्, स्वरूपस्थित्यैव भासमान इत्यर्थः । सदात्मनिविडौजाः सन् स्वस्मिन्विद्यमानः 'सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्' इत्यमरः । यः आत्मा परमपुरुषः 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' इति श्रुतेः । तेन निविडौजाः 'न तत्र सूर्यो भति' इत्यारभ्य 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादित्यादितेजसां तदुपजीव्यत्वश्रवणात् । नलिनदलेक्षणः दलयतीति दलं 'दल विशरणे' अस्माद्धातोर्णिजन्तात्पचाद्यच् । 'णेरनिटि' इति णिलोपः । दलेर्घटादिषु भोजेन पठिततया 'घटादयो मितः'

इति मित्त्वात् णिच्प्रयुक्तवृद्ध्यपवादको 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः। नलिनानां दलं नलिनदलं ईक्षणं दर्शनं यस्य स तथोक्तः कमलविकासकदर्शन इत्यर्थः। सुतरांशुः रविख्यातः इति छेदः। 'रोरि' इति रेफलोपे 'ढ्रलोपे' इति पूर्वस्याणो दीर्घस्संहितायाम्। सुतराः शोभनतराः अंशवः किरणाः यस्य स तथोक्तः। सुशब्दोऽत्र द्रव्यवाची। अतस्तस्माद्विहितस्य तरपो नामुप्रत्ययः, 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इति प्रतिषेधात्। रविरिति ख्यातः रविख्यातः। देवोत्तमः 'सुरोत्तमो धामनिधिः' इति सूर्यपर्यायेषु पाठात्। द्युमणिः आदित्यः इह भायादिति। अत्रार्थत्रयश्लेषः पूर्ववदेव, विशेषणविशेष्यव्यत्यासस्तु विशेष इति ध्येयम्॥

यथावा—

कमलपदायावाण्यावशगो गौर्यास्सदाऽपि साधुरतेः। सुमनोभवहार्यज इह निजपदलग्नांस्तनोति सत्कामान्॥ ८७६॥

अत्र भगवान् प्रस्तुतः ब्रह्मेशानस्मरा अप्रस्तुताः चतुर्णामेषां श्लेषः। तथाहि, भगवत्पक्षे—अजः न जायते स्मेत्यजः। भगवान् विष्णुः 'अजायमानः' इति श्रुतेः। 'अजश्छागे हरिब्रह्मविधुस्मरनृपे हरे' इति मेदिनी। गौर्याः हिरण्यवत्पिशङ्गवर्णायाः 'हिरण्यवर्णां, पिङ्गळां हेममालिनीम्' इत्यादिश्रुतेः। 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इत्यमरः। अनेन लावण्यसमृद्धिर्द्योतिता। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। सदाऽपि साध्वी प्रशस्ता रतिः भर्तृविषयकानुरागो यस्यास्सा तस्याः, अनेन प्रीत्यतिशय उक्तः। आभ्यां विशेषणाभ्यामनतिलङ्घनीयवचनत्वं सूचितम्।

कमलं पदं निवासस्थानं यस्यास्सा कमलपदा तस्याः पद्मालयायाः श्रियः । अनेन सौकुमार्यातिशयो व्यज्यते । तेन च तत्प्रार्थनाकरणे ग्लानिशङ्कयाऽवश्योपादेयत्वं तद्वचसो ध्वन्यते। वाण्याः 'किमेवं निर्दोषः क इह जगति' इत्याद्युक्तप्रकारायाः वाचः वशगः वश्यः । अत एव सुमनसां विदुषां भवं संसारं हरतीति सुमनोभवहारी सन् निजे स्वकीये पदे चरणे स्थाने वा लग्नान् तानेव सुमनस इति भावः । सत्कामान् सत्यकामान् आविर्भूतकल्याणगुणानित्यर्थः । तनोति । अनतिक्रमणीयश्रीवचनविभवविवशो भगवान्निश्शेषाविद्यानिवर्तनपूर्वकं स्वाश्रितानाविर्भूतगुणाष्टकान्विदधातीति निर्गलितोऽर्थः ॥

चतुर्मुखपक्षे—कमलपदायाः नलिनमृदुलचरणायाः गौर्याः 'या कुन्देन्दुतुषारहारधवळा' इत्युक्तरीत्या विशदवर्णायाः सदाऽपि साधुरतेः साधुषु सभ्येषु विद्वत्सु रतिः प्रीतिः यस्याः तथोक्तायाः वाग्देवतात्वादिति भावः । 'साधुस्त्रिषूचिते चारौ सभ्ये वार्धुषिके तु ना' इति रत्नमाला । वाण्याः सरस्वत्याः वशगः । सुमनसि विसप्रसूने पद्मे भवेन जन्मना 'जन्महरौ भवौ' इत्यमरः । हारी मनोहरः भगवन्नाभिनलिनजन्मेत्यर्थः । अजः चतुर्मुखः । निजपदलग्नान् सत्यलोकगतान् सत्कामान् रमणीयभोग्यवस्तुशालिनः तनोतीति ॥

ईशानपक्षे—कमलपदायाः पद्यत इति पदा पद्यतेः पचाद्यच् । कमलस्य कुरङ्गस्य पदा, कमलः कुरङ्गः पदं चिह्नं यस्यास्सेति वा तस्याः उभयथाऽपि कुरङ्गपाणेरित्यर्थः । 'स्यात्कुरङ्गेऽपि कमलः, पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इति चामरः । यद्यपि कुरङ्गपाणित्वमीशानस्यैव प्रसिद्ध्यति । तथाऽप्युमायास्तदर्धाङ्गतया तदुक्तिरिति ध्येयम् । अत एव 'दीप-

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamwadi Math, VARANASI
Acc. No. 948

कस्तूगायमाणनिजहरिणशावकानुधाव्यमानपार्ष्णिभागौ' इति ह रिणस्योभयसाधारण्योक्तिस्संगच्छते । यद्वा कमलानि उत्तम-महिळात्वसूचकरेखाकारपद्मानि पदे यस्यास्सेति । साधुरतेः रमणियवल्लभप्रीतेः । गौर्याः पार्वत्याः वाण्याः वाचः वशगः । मनोभवं मन्मथं हरतीति मनोभवहारी । सुष्ठु मनोभवहारी सु-मनोभवहारी कन्दर्पवैरीत्यर्थः । अजः ईशानः निजपदलग्नान् स्वचरणसक्तान् सत्कामान् विद्यमानमदनान् तनोतीति विरोधः, फलितमनोरथांस्तनोतीति परिहारः ॥

स्मरपक्षे तु—कमलपदायाः अरुणाम्बुजचरणाया गौर्याः अरुणवर्णायाः पातिव्रत्येन विशुद्धाया वा । 'गौरः पीतेऽरुणे श्वेते विशुद्धे चाभिधेयवत्' इति मेदिनी । रतेः रतिदेव्याः वाण्याः वाचः साधु यथा स्यात्तथा वशगः । तदाज्ञावशंवद इत्यर्थः । सुष्ठ मनसि चित्ते भवेन जन्मना हारी रम्यः म-नसिज इत्यर्थः । अजः स्मरः । कोशस्तूदाहृत एव । निजपदेषु स्वकीयवस्तुषु आलम्बनगुणाद्युद्दीपनविभावेष्वित्यर्थः । लग्नान् अभिषक्तान जनान् सत्कामान् ऊर्जितप्रेयसीसंभोगाभिलाषान् तनोतीति ॥

यथावा—

पुष्कलसच्छ्रीलक्षणहृद्यो यो वहुविरोचना-भिख्यः । विद्युद्भ्राजयतु हरिस्स वृत्रसंहननभिदुर-वरहेतिः ॥ ८७७ ॥

अत्र भगवान् प्रस्तुतः इन्द्रस्सूर्यश्चन्द्रो विद्युत्प्रकाशश्चा प्रस्तुताः । एतेषां पञ्चानां श्लेष इति पूर्वोदाहरणाद्विशेषः । त-थाहि, भगवत्पक्षे--यः हरिः पुष्कले अतिशोभने सती च सच्च

सती 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इति नपुंसकैकशेषः। सती अभ्यर्हिते च। श्रीश्च लक्षणं च श्रीलक्षणे लक्ष्मीश्रीवत्सौ हृद्ये उरस्स्थिते यस्य सः 'श्रीमान् श्रेष्ठः पुष्कलस्स्यात्सत्तमश्चातिशोभने' इत्यमरः। 'सत्साधौ धीरशस्तयोः। मान्ये सत्ये विद्यमाने त्रिषु साध्व्युमयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी। यद्वा पुष्कलानि पूर्णानि 'पूर्णश्रेष्ठौ तु पुष्कलौ' इति रत्नमाला। सन्ति प्रशस्तानि लक्षणानि सामुद्रिकोक्तमहापुरुषत्वज्ञापकाङ्गचिह्नान्वितैः हृद्यः मनोज्ञः। यथोच्यते श्रीरामायणादौ–

त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिसमस्त्रिषु चोन्नतः।

इत्यादिना। यद्वा पुष्कला श्रीमती सती साध्वी च या श्रीः लक्ष्मीः तस्याः लक्षणं नामैव हृद्यः तस्याः जगतो वा वशीकारमन्त्रो यस्य स तथोक्तः, हृदयस्य बन्धनो हृद्य इति विग्रहः। 'बन्धने चर्षौ' इति हृदयशब्दात् षष्ठ्यन्ताद्बन्धने यत्प्रत्ययो वेदेऽभिधेये। हृद्यो वशीकरणमन्त्र इत्याहुः। 'नारायणस्य किल नित्यजपस्त्वदीयं नाम प्रगल्भतमम्' इत्युक्तरीत्या भगवतो लक्ष्मीनाम नित्यजपार्हमिति भावः।

लक्षणं कार्षिके चिह्ने नाम्नि मुद्राङ्गसंपदोः।
हृद्यो वशिक्रियामन्त्रे हृद्यं धध्नचनुलेपने॥
हृत्प्रिये हृद्धिते हृज्जे.................... ॥

इति च वैजयन्ती। अथवा पुष्करा सती श्रीरेव लक्षणं जगदीश्वरत्वज्ञापकमुद्रा हृद्यं हृदयस्थं यस्य स तथोक्तः। बहु अधिकं विरोचनं प्रकाशो यस्यास्तथोक्ता अभिख्या कीर्तिर्यस्य सः बहुविरोचनाभिख्यः 'तस्य नाम महद्यशः' इति श्रुतेः। 'अभिख्या त्विड्यशोनामसु' इति रत्नमाला। वृत्रसंहननभिदुर-

वरहेतिः वृत्राश्शत्रवः तेषां संहननानि वपूंषि 'गात्रं वपुस्संहननम्' इत्यमरः। भिन्दन्तीति भिदुराः 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' इति कुरच्। वृत्रसंहननानां भिदुराः रिपुवपुर्भेदिन्य इत्यर्थः। वराः श्रेष्ठाः हेतयः सुदर्शनादीन्यायुधानि यस्य सः। 'ध्वान्तारिदानवा वृत्राः। वृत्रो मेघे रिपौ ध्वान्ते दानवे वासवे गिरौ' इत्यमरहेमचन्द्रौ। 'हेतिर्ज्वालाऽशुरायुधम्' इति वैजयन्ती। विद्युद्भाः विद्युत्तुल्यप्रकाशः 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' इति श्रुतेः। यद्वा वित् ज्ञानं 'व्यवहारविदे' इत्यादाविव विदेस्संपदादित्वाद्भावे क्विप्। विदा यौतीति विद्युत्। युधातोर्मिश्रणार्थकात्कर्तरि क्विप्। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुगागमः। विद्युत् भाः तेजो यस्य सः विद्युद्भाः। ज्ञानान्विततेजस्संपन्न इत्यर्थः। अत्र—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ॥

इत्युक्तेषु गुणेषु प्रत्याहारन्यायेनाद्यन्तयोर्ग्रहणं मध्यस्थानां शक्त्यादीनां चतुर्णामपि गुणानामुपलक्षकम्। तेन पूर्णषाड्गुण्यवत्त्वं दर्शितम्। सः हरिः जयत्विति॥

इन्द्रपक्षे—यः पुष्कले पुष्करे रलयोरभेदाश्रयणात् गगने सीदन्तीति पुष्करसदः द्युसदः, सदेः क्विप्। तेषां देवानां श्रीलक्षणानि साम्राज्यज्ञापकच्छत्रचामरादिचिह्नानि तैः हृद्यः हृदयप्रियः बहूनि सहस्रसंख्याकानि विरोचनानि विलोचनानि रलयोरभेदाश्रयणात् यस्य सः बहुविलोचन इत्यभिख्या प्रसिद्धिः यस्य स तथोक्त इति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। वृत्रस्य असुरविशेषस्य संहननं हननसाधनं हन्तेः करणे ल्युट्। यत् भिदुरं कुलिशं 'भिदुरं पविः' इत्यमरः। तदेव वरहेतिः उत्तमशस्त्रं यस्य स तथोक्तः। विद्युद्भाः वित् व्याकरणविषयकं

ज्ञानं 'वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्' इति श्रुतेः । ब्रह्मविषयकं ज्ञानं वा 'स होवाच मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये' इत्यादिना प्रतर्दनाय स्वात्मशरीरिकब्रह्मोपदेष्टृत्वश्रवणात् । युत् पौलोमादियुद्धं ताभ्यां भासत इति विद्युद्भाः 'समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । यद्वा विदि उद्भाः इतिच्छेदः । विदि पूर्वोक्तज्ञाने विषये उद्भाः उदञ्चद्दीप्तिः अप्रतिहतज्ञान इत्यर्थः । सः हरिः इन्द्रः जयत्विति ॥

सूर्यपक्षे—यः पुष्कराणां कमलानां सती या श्रीः संपत् शोभा वा तस्याः लक्षणं रक्षणं रलयोरभेदात् । हृद्यं हृदयहितं यस्य सः । वहु इति भिन्नं पदमग्रेऽन्वेति । विरोचनाभिख्यः विरोचननाभा 'चन्द्राग्न्यर्का विरोचनाः' इत्यमरः । यद्वा रोचनानां रक्तकह्लाराणां अभिख्या शोभा । विशिष्टा रोचनाभिख्या यस्मात्सः । रक्तकह्लारसुषमावह इत्यर्थः । 'रोचना रक्तकह्लारे गवां पित्ते वरस्त्रियाम्' इति रत्नमालावैजयन्त्यौ । वहु यथा स्यात्तथा । इदं भेदनक्रियाविशेषणम् । वृत्राणां पर्जन्यानां संहननं संघः 'अङ्गे संघे संहननम्' इति शेषः । तेषु भिदुराः वृष्ट्यर्थं मिळिताः वराः हेतयः किरणाः यस्य स तथोक्तः 'याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति' इति श्रुतेः । विद्युद्भाः विद्युद्वर्णः सः हरिः सूर्यः जयत्विति ॥

चन्द्रपक्षे—पुष्कलं पूर्णं सतां रोहिण्यादिनक्षत्राणां 'सत्कलीवमृक्षे' इति रत्नमाला । श्रियः संपदः रक्षणं हृद्यं हृदयप्रियं यस्य सः । ताराधीशत्वात्तस्येति भावः । यद्वा बहु यथा तथा पुष्करेषु पद्मेषु सती या श्रीः शोभा तस्याः लक्षणं चिह्नं नाम वा हरतीति पुष्करसच्छ्रीलक्षणहृत्, हरतेः क्विप् । पद्मशोभायाश्चिह्नं नामापि वा निश्शेषयितेत्यर्थः । अस्मिन्पक्षे यः

पुष्करसच्छ्रीलक्षणहृत् यः विरोचनाभिख्य इति यत्पदद्वयस्य योजना। विरोचनाभिख्यः विरोचनापरनामा। वृत्राणां ध्वान्तानां संहननस्य संघस्य भिदुराः भेदयितृचः वराः हेतयः अंशवो यस्य सः। विद्युत् विशेषेण द्योतमाना भाः प्रभावो यस्य सः। हरिः चन्द्रमाः जयत्विति॥

विद्युत्प्रकाशपक्षे तु—लिङ्गविपरिणामेन विशेषणानि योज्यानि। पुष्करं नक्षत्रं तादिव सती रमणीया। यद्वा पुष्करं अहिविशेषः जलधारा वा तादिव सती विद्यमाना वक्रतनुदीर्घोज्ज्वलरूपा॥

पुष्करमम्बुनि खे भे युधि वाद्यमुखेऽमरेऽपि धारायाम्।
द्वीपे भेषजभेदे सारसतीर्थाहिकरिकराग्रेषु॥

इति रत्नमाला। श्रीरस्यास्तीति श्रीला। सिध्मादित्वान्मत्वर्थीयो लच्। 'लक्ष्मीवान् लक्ष्मणश्श्रीलः' इत्यमरः। क्षणहृद्या अल्पकालरमणीया अचिररुचित्वात्। त्रयाणामपां कर्मधारयः। हरिः कपिलवर्णा। अत एव विरोचनाभिख्या। रोचना गोरोचना तस्याः अभिख्येवाभिख्या यस्यास्सा विशेषेण रोचनाभिख्या विरोचनाभिख्या। अथवा रोचनाः वरवर्णिन्यः तासां अभिख्येवाभिख्या यस्यास्सा उत्तमललनामणितुल्यशोभेत्यर्थः। अत एव प्रतीपालंकारः। बहु यथा तथा वृत्राणां जीमूतानां संहननं संघः तस्य भिदुराः वराः हेतयः ज्वालाः यस्यास्सा अम्बुदकदम्बसम्भेदनेनोन्मीलितत्वादिति भावः। विद्युद्भाः तटित्प्रकाशः जयत्विति॥

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥ इत्यमरः॥

यथावा—

राजा स लोकपालो जिष्णुस्समवर्तिताप्रथि-

तनामा। वर्षति तरां प्रचेताश्श्रीदो ननु सर्वतोमुखं कामम् ॥ ८७८॥

अत्रापि भगवानेव प्रस्तुतः। इन्द्रयमवरुणकुबेरचन्द्रा अप्रस्तुताः। षण्णामेषां श्लेषः। (१) भगवत्पक्षे—जिष्णुः जयशीलः। समवर्तिताप्रथितनामा। मया श्रिया सह वर्तते यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा समं समं वर्तत इति समवर्ती श्रीमत्तयैव विद्यमान इत्यर्थः। यद्वा—'समोऽहं सर्वभूतेषु' इत्युक्तरीत्या सर्वसमं वर्तत इति तथोक्तः। अथवा समेषु सर्वेषु चेतनाचेतनरूपवस्तुषु वर्तते अन्तः प्रविश्य नियन्तृतया विद्यत इति समवर्ती 'सर्वसाधुसमानेषु समं स्यादभिधेयवत्' इति मेदिनी। तस्य भावः समवर्तिता। तया प्रथितनामा प्रख्याताभिख्यः प्रकृष्टं चेतो यस्य स तथोक्तः महाशय इत्यर्थः। महोदार इति यावत्। महोदारता च पात्रलाघवं प्रदेयगौरवं चानादृत्य दायभागन्यायेन प्रत्युपकारनिरपेक्षं वितरणरासिकत्वं प्राज्यं दत्वाऽप्यतृप्तत्वं च। अत एव श्रीदः आश्रितेभ्योऽखिलसंपत्प्रदः राजा 'एक इद्राजा जगतः। एष ब्रह्मलोकस्सम्राट्। राजाधिराजस्सर्वेषां विष्णुर्ब्रह्ममयो महान्' इत्याद्युक्तरीत्या सकललोकाधिराजः सः एवं प्रसिद्धप्रभावः लोकपालः सर्वजगद्रक्षको भगवान् 'एष लोकपालः' इति श्रुतेः। सर्वतोमुखं अप्रतिहतं कामं मनोरथं अस्माकमिति शेषः। वर्षतितरां ननु अतिशयेन ददात्येव। ननुरवधारणे। यद्वा न नु इति पदद्वयम्। नुः पृच्छायां न वर्षतितरां नु। वर्षत्येवेति भावः॥

(२) इन्द्रपक्षे—समवर्तिताप्रथितं स्वरूपोचितवृत्तितया प्रसिद्धं नाम यस्य स तथोक्तः। प्रचेताः महामनाः श्रीदः आ-

श्रितलक्ष्मीप्रदः । राजा 'इन्द्रो राजा जगतः । इन्द्राय राज्ञे' इत्यादिश्रवणाद्राजतया प्रसिद्धः । लोकपालः जिष्णुः इन्द्रः 'जिष्णुर्लेखर्षभः' इत्यमरः । सर्वतोमुखं सलिलं 'पुष्करं सर्वतोमुखम्' इत्यमरः । कामं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा वर्षतितरां पर्जन्यवाहनतया वर्षस्य तदधीनत्वादिति ॥

(३) यमपक्षे—जिष्णुः जयशीलः प्रचेताः श्रीदः उक्त एवार्थः । राजा 'यमो राजा प्रमृणाभिः' इति श्रुतेरस्य राजत्वम् । समवर्तिताप्रथितनामा समवर्तीति प्रसिद्धाभिधानः । लोकपालः सर्वतोमुखं निरवधिकं कामं अभिलाषं वर्षतितराम् । स्वाश्रितानां प्रददातीत्यर्थः । 'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व' इति नचिकेतसं प्रति स्वेनैवोक्तत्वादिति भावः ॥

(४) वरुणपक्षे—प्रचेता इति विशेष्यम् । समं वर्तत इति समवर्तिता वर्ततेस्तृच् । अर्थः पूर्ववदेव । अप्प्रथितनामेति भिन्नं पदम् । अद्भिः प्रथितं व्यपदिष्टं नाम यस्य सः 'वरुणोऽपामधिपतिः' इत्यादिश्रुतेस्तन्नाम्नोऽद्भिः प्रथितत्वम् । राजा 'राजा त्वा वरुणो नयतु । यासां राजा वरुणः' इत्यादिश्रुतेरस्यापि राजत्वम । अन्यानि विशेषणानि यथोक्तार्थान्येव । सर्वतोमुखं जलं कामं वर्षतितरां सलिलाधिपतित्वात्तस्य पर्जन्यद्वारा वर्षणमिति ध्येयम् ॥

(५) कुबेरपक्षे—श्रीद इत्येतद्विशेष्यम् । अन्यानि विशेषणानि यथोदितार्थान्येव । राजा 'कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः' इति श्रुतिप्रसिद्धेरस्यापि राजत्वम् । एवं चाष्टानामपि दिगधीशानां लोकपालत्वाविशेषेऽपीन्द्रयमवरुणकुबेरा-

णामेव महादिगधीशतया राजत्वं श्रुत्या ख्यापितम् । न तु विदिगधीशानामग्निनिऋतिमरुदीशानानां तेषां राजत्वाश्रवणादेत्यवधेयम् । श्रीदः कुबेरः सर्वतोमुखं कामं वर्षति तरां 'स मे कामान् कामकामाय मह्यं, कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु' इति श्रुतेः ॥

(६) चन्द्रपक्षे तु—लोकपालः—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥

इत्युपक्रम्य 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इत्युक्तेश्चन्द्रस्यापि लोकपालत्वम् । अन्यानि विशेषणानि पूर्वोक्तार्थान्येव । राजा इदं विशेष्यं चन्द्र इत्यर्थः । 'सोम एव नो राजेत्याहुर्ब्राह्मणीः प्रजाः' इति श्रवणादस्य राजत्वम् । सर्वतोमुखं निरङ्कुशं यथा तथा कामं वर्षतितरां मन्मथमुद्दीपयतीति यावत् ॥

नन्वत्रोपपादितेषु सर्वेष्वप्यर्थेषु विशेषणानां विशेष्याणां चानियमात्कथमस्य श्लेषोदाहरणता 'सर्वदोमाधवः पायात्' इत्यादौ तन्नियमस्यैव दर्शनादिति चेत् उभयेषामपि श्लिष्टत्वनियमानतिक्रमादित्यवधेहि । विशेषणविशेष्योभयश्लिष्टत्वमेव हि श्लेषलक्षणम् । न हि विशेषणैर्विशेष्यैर्वा सर्वेष्वप्यर्थेष्वैकरूप्येणैव भाव्यमित्याग्रहः । तेषां श्लिष्टतानियममात्रस्यैवापेक्षितत्वादिति दिक् । एवं सर्वत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

यथावा—

**गोविसरोपात्तश्रीरुदारसत्त्वाऽधिदेवतामहती ।**
**वसुमत्ताविद्योता समुपाश्रयते परां काष्ठाम् ॥**

अत्रापि श्रियःपतिरेव प्रकृतः, बृहस्पतिदिवस्पतिपशुपति-ग्रहपतिवसुमतीनरपतयोऽप्रकृताः। सप्तानामेतेषां श्लेषः। तथाहि,

(१) श्रीपतिपक्षे—गोविसरोपात्तश्रीः गवां अपां विसरस्स-मूहः वाराशिः तस्मात् उपात्ता श्रीः लक्ष्मीः यया सा तथोक्ता

गौः क्रतौ वृषभे चन्द्रे वाग्भूदिग्धेनुषु स्त्रियाम्।
द्वयोस्तु रश्मिदृग्बाणस्वर्गवज्राम्बुलोमसु॥

इति रत्नमाला। 'विसरः प्रसरे व्रजे। श्रीर्वेषरचनाशोभाभार-तीसरळद्रुमे। लक्ष्म्यां त्रिवर्गसंपत्तिविधोपकरणादिषु। विभूतौ च गतौ च स्त्री' इति च मेदिनी। उदारं श्रेष्ठं सत्त्वं 'स्व-सत्ताभासकं सत्त्वं गुणसत्त्वाद्विलक्षणम्' इत्युक्तो गुणविशेषः यस्यास्सा 'यत्सत्त्वं स हरिर्देवः' इत्याद्युक्तश्शुद्धसत्त्वमयाप्रा-कृतदिव्यमङ्गळविग्रहेत्यर्थः। 'उदारो दक्षिणे ख्याते दानशौ-ण्डे महत्यपि' इति, 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ व्यवसायस्वभा-वयोः। गुणप्राणबलस्वान्तसत्तास्वस्त्री तु जन्तुषु' इति च र-त्नमाला। वसुमत्ताविद्योता वसवः देवविशेषाः प्रसिद्धाः म-त्ताः तृप्ताः यस्मात्सः वसुमत्तः। अविः आदित्यः तस्मिन् द्योतत इति द्योता 'असौ वा आदित्यो देवमधु' इत्युपक्रम्य 'तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' इति मधुविद्यो-क्तप्रक्रियया वसुतृप्तिहेतावादित्ये 'यश्चासावादित्ये' इत्याद्युक्त-रीत्या विद्योतमानेत्यर्थः॥

वसुर्ना देवभेदेषु योक्त्राग्निधनदांशुषु।
मधुरे तु त्रिषु क्लीबे सलिले धनरत्नयोः॥

इति रत्नमाला। 'हृष्टो मत्तस्तृप्तः' इत्यमरः।

अब्धिर्ना पर्वते सूर्ये मेषे मूषककम्बळे ।
प्राकारे भवने भासि स्त्री तु पुष्पवतीभुवोः ॥

इति रत्नमाला । महती देवता 'महते दैवतायाज्यं, दैवतानां च दैवतम्' इत्युक्तो भगवान् वासुदेवः परां काष्ठां स्थितिं श्रयते । सैव परमप्राप्येत्यर्थः । 'सा काष्ठा सा परा गतिः' इति हि श्रुतिः । 'काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि' इत्यमरः ।

काष्ठं दारुणि काष्ठा तु प्रकर्षे स्थानमात्रके ।
दिशि दारुहरिद्रायां कालमानप्रभिद्यपि ॥

इति हेमचन्द्रः ॥

(२) बृहस्पतिपक्षे—गोविसरेण वाक्प्रसरेण उपात्ता श्रीः देवाचार्यकविभूतिर्यया सा तथोक्ता । उदारं ख्यातं सतो भावस्सत्त्वं वैदुष्यं यस्यास्सा 'सन् सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः । वसुमत्ता तजस्विता ब्रह्मवर्चसमिति यावत् । सा च विद्या ऋग्वेदादिविद्या च वसुमत्ताविद्ये पूर्वनिपातप्रकरणस्य 'लक्षणहेत्वोः' इत्यादिसूत्रनिर्देशेनानित्यताया ज्ञापितत्वान्नेहाल्पाच्तरस्य विद्याशब्दस्य परनिपातविरोधः । वसुमत्ताविद्याभ्यां ऊता संततेति यावत् । 'ऊतं स्यूतम्' इत्यमरः । वेञः कर्मणि क्ते संप्रसारणम् । महती देवपूज्या देवता बृहस्पतिनामेति भावः । परां काष्ठां उत्कर्षं समुपाश्रयते ॥

(३) दिवस्पतिपक्षे—गोविसरेण नयननिवहेन लोचनसहस्रेणेत्यर्थः । उपात्ता श्रीश्शोभा यया सा तथोक्ता । उदारसत्त्वा महाव्यवसाया । वसवो देवविशेषाः तेऽस्य सन्तीति वसुमत् तस्य भावः वसुमत्ता 'शरदः कृतार्थता' इत्यादाविव सामान्ये नपुंसकम् । तया आविद्योता समन्तात्प्रकाशमाना । अ-

खिलदेवाधीशत्वात्सततमपि वसुसाहित्येन भासमानेत्यर्थः। महती देवता 'यो वृत्रमवधीत्तन्महेन्द्रस्य महेन्द्रत्वम्' इति श्रुत्युक्तरीत्या प्राप्तमहत्त्वा। देवता इन्द्ररूपा देवता। अपरां परा पश्चिमा सा न भवतीत्यपरा पूर्वेत्यर्थः। तां काष्ठां दिशं समुपाश्रितेति॥

(४) पशुपतिपक्षे—गौः वृषभः विसरतीति विसरा, पचाद्यच्। गवा विसरा गोविसरा। भिन्नं पदम्। वृषभचारिणीत्यर्थः। उपात्ता पीता श्रीः विषं यया सा तथोक्ता—

श्रीर्वेषरचनाशोभासंपत्सरलशाखिषु।
वाणीलक्ष्मलिवङ्गेषु विषे बिल्वेऽपि ...... ॥

इति रत्नमाला। अत एवायं श्रीकण्ठ इत्युच्यते। उदाराणि महान्ति सत्त्वानि भूतपिशाचादीनि यस्यास्सा तथोक्ता। भूतेशत्वादिति भावः। वसुरग्निः सोऽस्यास्तीति वसुमान् तस्य भावः वसुमत्ता फाललोचनाग्निमत्तेत्यर्थः। तया यः आविःभाः। उदाहृतः कोशो न विस्मर्तव्यः। तेन द्योता द्युतिमती। यद्वा वसुः धनदः वसुमत्ता तद्वता तया अद्रौ शैले कैलासनाम्नि। यद्वा वसुर्धनदः मत्तः हृष्टो यस्मिन् तस्मिन् अद्रौ कैलासगिरौ द्योतत इति तथोक्ता द्वयोरपि तयोः कैलासनिलयत्वादिति भावः। महती देवता महादेवत्वेन प्रसिद्धा देवता परां 'दिक्ष्वैशानी दिगुत्तमा' इति प्रशस्ततया स्मृतिप्रतिपादितां काष्ठां दिशं समुपाश्रयते॥

(५) ग्रहपतिपक्षे—गवां दिशां विसरेण निवहेन उपात्ता श्रीः प्रकाशो यस्यास्सा सर्वदिक्प्रकाशिकेत्यर्थः। अराण्यस्य सन्तीत्यरि चक्रं मत्वर्थीय इनिः। तन्नामकत्वात्कोका अत्र वि-

वाक्षिताः 'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः' इत्यमरः। अरिणां समूहः आरम्। सामूहिकं 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' आरस्य सत्त्वमन्तःकरणं आरसत्त्वं तदुल्लासितं ययेत्युदारसत्त्वा 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति बहुव्रीहौ लासितशब्दलोपः। वसवः किरणाः अस्य सन्तीति वसुमान् भूम्नि अतिशायने वा मतुप्। तस्य भावः वसुमत्ता तया अविद्योता अविर्मेषराशिः तस्मिन् द्योतत इति तथोक्ता मेषराशेस्तदुच्चस्थानत्वात्तत्र द्योतत इत्युक्तम्। यथोच्यते कार्तान्तिकैः—'स्वोच्चे प्रदीप्तः' इति। महती सर्वैस्त्रिसन्ध्यमभिवन्द्यमाना देवता सूर्याभिधानेत्यर्थः। परां 'दिशां प्राची' इत्युक्तरीत्या मुख्यां पूर्वां परां पश्चिमां च काष्ठां दिशं समुपाश्रयते उदयास्तमयार्थमिति भावः॥

(६) वसुमतीपक्षे—गावो धेनवः अवयः मेषाः सरांसि कासाराः आपः अन्यानि नद्यादिजलानि। सरसां आपः सरोऽपा इति वा। एतेषां समाहारः गोऽविसरोऽपं 'ऋक्पूरप्' इत्यादिना समासान्तोऽप्रत्ययः। तेन आत्ता श्रीश्शोभा यया तथोक्ता। उदाराः महान्तः सत्त्वाः जन्तवः यस्यां सा। यद्वा—आरः अङ्गारकः 'आरा चर्मप्रभेदिन्यां पुंसि भौमे शनैश्चरे' इति मेदिनी। स एव सत्त्वं गर्भो यस्यास्सा उत्कर्षेण आरसत्त्वा उदारसत्त्वा। सत्त्वशब्दो गर्भवाची। अत एव आपन्नसत्त्वेति गर्भिणीपर्यायशब्दश्श्रूयते। अङ्गारको हि वसुधागर्भोदितः। स हि 'रोहिताङ्गो महीसुतः' इत्यभिधीयते। वसुमत्ता रत्नवत्ता निधिरूपधनवत्ता वा यत इयं वसुमतीत्याख्यायते अवयः गिरयः। वसुमत्ता च अवयश्च वसुमत्तावयः तैः द्योतत इति तथोक्ता। यद्वा—विगतो द्योतो यस्यास्सा न भवतीत्यविद्योता। वसुमत्तया अविद्योता रत्नगर्भतया नित्यप्रकाशेत्य-

र्थः। महती विपुला देवता भूरूपा 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः' इत्यत्रशब्दाभिलपनीयाया भुवो देवतात्वश्रवणात्। परां काष्ठां श्रयते सर्वा दिशो व्याप्नोतीत्यर्थः॥

(७) नरपतिपक्षे—गोविसरात् तत्तद्देशभूनिवहात् दृष्टिप्रसरणात् बाणप्रयोगाद्वा उपात्ता सामन्तवर्गादुपाहृता श्रीः विभूतिः यया सा तथोक्ता उदारं सत्त्वं बलं प्राणो वा यस्यास्सा वदान्यचित्ता वा। वसुभिः धनैः मत्ता तृप्ता। अविभिः प्राकारैः भवनैः भाभिर्वा सर्वैर्वा द्योतत इति तथोक्ता। उदाहृतः कोशो न विस्मरणीयः। महती देवता भूपतिरूपा 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' इति स्मरणात्। परां काष्ठां उत्कृष्टां स्थितिं आधिराज्यपदमिति यावत्। समुपाश्रितेति॥

एवमष्टानां नवानां दशानां ततोऽप्यधिकानां वाऽर्थानां श्लेषश्शक्यः कर्तुं, अथाऽपि भगवत्या भारत्या भूयान् स्यात्क्लेश इति भिया विश्रम्यते॥

एवं प्रकृताप्रकृततदुभयगोचरतया श्लेषत्रैविध्यं प्रपञ्चितम्। तत्र सभङ्गाभङ्गरूपवैलक्षण्यं च सामान्यतः प्रदर्शितम्। इदानीं विशिष्य तद्भेदः प्रपञ्च्यते। अत्र कौस्तुभकारः—"श्लेषस्सभङ्गोऽभङ्गश्च। विभिन्नानुपूर्वीकशब्दप्रतिसन्धानबोध्यार्थान्तरकत्वं सभङ्गत्वम्। समानानुपूर्वीकशब्दप्रतिसन्धानबोध्यार्थान्तरकत्वमभङ्गत्वम्। द्विविधोऽप्ययं श्लेषोऽर्थालङ्कार एव। अर्थान्तरस्य वाक्यार्थानन्वये नानार्थकपदसद्भावेऽपि श्लेषव्यवहारविरहात्। आद्यश्चाष्टधा—वर्णपदलिङ्गभाषाविभक्तिप्रकृतिप्रत्ययवचनभेदात्" इत्यभाणीत्। तथाहि—

आद्योऽष्टधा वर्णपदलिङ्गभाषाविभक्तिभिः ।
प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां च वचनैश्श्लेष ईरितः ॥७७

---

तत्र च वर्णश्लेषः.

---

विभक्त्यादिवशाद्यत्र नानावर्णैकरूपता ।
श्रूयते स हि विद्वद्भिर्वर्णश्लेष इतीर्यते ॥ ७८ ॥

यत्रानेकेषां वर्णानां विभक्त्यादिबलादैकरूप्यं श्रूयते स वर्णश्लेष इत्यभिधीयते ॥

यथा—

श्रेयोहेतौ शुभकरभूषणवेणौ समुल्लसज्जानौ ।
त्वयि भगवति विनिविशतां चित्तं देवेश्वरे मम दयाळौ ॥८८१॥

अत्र लक्ष्मीश्रीनिवासयोश्श्लेषः। तत्र लक्ष्मीविषये हे देवेश्वरे! देवानामीश्वरा ईशाना तस्यास्संबुद्धिः । 'स्थेशभास' इत्यादिना वरजन्तत्वान्न ङीप् । हे भगवति! श्रेयसां हेतौ कारणे 'श्रेयो न ह्यरविन्दलोचनमनःकान्ताप्रसादादृते संसृत्यक्षरवैष्णवाध्वसु नृणां संभाव्यते कर्हिचित्' इत्युक्तेः । शुभकराणि भूषणानि यस्यां सा तथोक्ता वेणिः प्रवेणी यस्यास्सा तथोक्ता तस्याम् । इदन्तोऽयं वेणिशब्दः । 'वेणृ निशामनवादित्रादानगमनज्ञानचिन्तासु' इति भौवादिकाद्धातोरौणादिक इन् प्रत्ययः ।

'वेणिप्रवेणी' इत्यमरः। 'करणश्रोणिवेणयः' इति स्त्रीकाण्डे निगमः 'देवस्स त्वामसूत द्विषदुपमृदितस्त्वर्वधूवेणिबन्धा' इति मुरारिमिश्रप्रयोगश्च । समुल्लसन्ती रत्नमुकुराकारतया दीप्यमाने जानुनी यस्याः तस्यां तथोक्तायाम् । दया आळिस्सखी यस्याः तस्यां तथोक्तायां दयापरवशायामिति यावत् । त्वयि मम चित्तं विनिविशताम् । विनिपूर्वकाद्विशतेर्लोट् 'नेर्विशः' इत्यात्मनेपदम्॥

श्रीनिवासपक्षे तु—देवेश्वरे इत्यत्र देवेति च्छेदः । हे देव! श्रेयस्यः प्रशस्यतराः हेतयः दिव्यायुधानि यस्य तस्मिंस्तथोक्ते। शुभः करयोः हस्तयोः भूषणं अलंकारभूतः वेणुः यस्य तस्मिन् गानकृते पाणिगृहीतवेणावित्यर्थः। समुल्लसन्ती कल्याणदिव्यविग्रहवत्तया प्रकाशमाना जाया यस्य तस्मिन् समुल्लसज्जानौ 'जायाया निङ्' इति बहुव्रीहौ समासान्तो निङ् 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपः। 'सुमज्जानये विष्णवे' इति श्रुतिरत्र प्रत्यभिज्ञाप्यते। दयाळौ कृपाशालिनि 'स्पृहि गृहि पति दयि' इत्यादिना कर्तर्याळुच्। ईश्वरे अनौपाधिकनिर्देशादसंकुचितैश्वर्यवति भगवति त्वयि चित्तं निविशताम् । अत्र हेतौ वेणौ जानौ दयाळौ इत्यत्र हेति हेतु वेणि वेणु जानि जानु दयाळि दयाळु पदानां सप्तमीविभक्ताविकारोकारावेकोच्चारणविषयतया श्लिष्टाविति वर्णश्लेषोऽयम् । ईश्वरे भगवतीत्यत्र संबुद्धिसप्तमीविभक्त्योर्वक्ष्यमाणरीत्या श्लेषश्चाभ्युच्चीयते ॥

यथावा—

हृदयं सदाऽऽशराशौ दुर्गतिवाराशितरणदिव्यतरौ। कलशोदधिभवने मम कस्मिंश्चिद्दैवते चिरं लगतात् ॥८८२॥

अत्रापि श्रीश्रीनिवासयोरेव श्लेषः । अशरारौ अहिंस्ने अनुग्रहमयत्वेनाज्ञातनिग्रहे इत्यर्थः । पक्षे—आशरारावितिच्छेदः । आशराणां रक्षसां अरौ विरोधिनि 'क्रव्यादोऽस्रप आशरः' इत्यमरः । दुर्गतिर्दारिद्र्यं वाराशिरिव दुर्गतिवाराशि. तस्य तरणे दिव्यतरौ कल्पशाखिनि 'दारिद्र्यार्णवतारिणीम्' इत्याद्युक्तेः । 'दुर्गतिर्नरके नैस्व्ये' इति मेदिनी । पक्षे—दुर्गतिः नरकः स एव वाराशिः तस्य तरणे दिव्या अद्भुता तरिः नौः तस्यां दिव्यतरौ । कलशोदधौ दुग्धजलधौ भवनं जन्म निवासश्च यस्य तस्मिंस्तथोक्ते कस्मिंश्चिद्दैवते श्रीरूपे श्रीनिवासरूपे च मम हृदयं सदा लगतात् । अत्र सदाऽऽशरारौ दिव्यतरौ इत्यत्र अशरारु आशरारि दिव्यतरु दिव्यतरिपदानां सप्तमीविभक्तावुकारेकारयोर्वर्णयोश्श्लेषः ॥

यथावा—

**स्वात्मनि चोदयमानं त्वां सुधियोऽब्जाक्ष सर्वदातरणौ । एकं हन्त विदन्तो मुक्ता विन्दन्त्यमन्दमानन्दम् ॥ ८८३ ॥**

सर्वस्य दाता सर्वदाता तस्य संबुद्धिः सर्वदातः ! 'य आत्मदा बलदाः' । 'सकलफलप्रदो हि विष्णुः' इत्युक्तरीत्या आत्मपर्यन्तसर्वस्वदानशीलेत्यर्थः । हे अब्जाक्ष! अनेन "तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणि" इति विवक्षितश्रुत्यर्थस्स्मारितः । अणौ अणुपरिमाणे 'एषोऽणुरात्मा' इति श्रुतेः । स्वात्मनि 'स्वत्वमात्मनि सञ्जातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम्' इत्युक्तरीत्या स्वामिनस्स्वस्य स्वभूते आत्मनि प्रत्यगात्मनि सुधियः

सुप्तानि ज्ञानेन्द्रियाणि चोदयमानं प्रेरयन्तमित्यर्थः । अनेन 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इति श्रुतिः प्रत्यभिज्ञाप्यते । यद्वा—'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः' इत्युक्तरीत्याऽन्तर्यामितया स्थित्वा 'स नो देवश्शुभया स्मृत्या संयुनक्तु' इत्युक्तप्रकारेण स्वप्राप्त्यौपयिकीर्धियः प्रेरयन्तमित्यर्थः । अत्र 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' इत्येतत् स्मर्तव्यम् । नैतावदेव, स्वात्मनि स्वशरीरभूते 'यस्यादित्यश्शरीरम्' इति श्रुतेः । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिस्स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः । सर्वदा तरणौ च उदयमानं इति छेदः । तरणौ चेत्यन्वयः, आदित्ये च सर्वदा उदयमानं प्रकाशमानं त्वां अनेन च सन्दर्भेण 'स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये' इति श्रुतिखण्डः प्रत्यभिज्ञाप्यते । एकं उभयत्र विद्यमानमभिन्नम् । अनेन उदाहृतश्रुतिशेषस्थं 'स एकः' इत्येतत्प्रत्यभिज्ञाप्यते । विदन्तः जानन्तः । अनेन 'स य एवं वित्' इत्येतत् । सुधियः विपश्चितः मुक्तास्सन्तः, अनेन 'अस्माल्लोकात्प्रेत्य' इत्युक्तार्चिरादिमार्गगमनपूर्वकवितमःपदप्राप्तिरुक्ता । अमन्दमानन्दं विन्दन्ति । अनेन 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति' इति श्रुत्यर्थस्समगृह्यत । उदाहृतश्रुत्यर्थो व्यासार्यैरित्थमभिवर्णितः 'सर्वोऽपि विद्वानस्माल्लोकात्प्रेत्यान्नमयादिसमष्टिव्यष्टिविभूतिकं निरतिशयानन्दं परमात्मानं भोग्यभूतं भोक्ता सन्ननुभवति' इति । हन्तेतीदृशार्थपरिचिन्तनजनितहर्षे । अत्र तरण्यणुशब्दयोस्सप्तमीविभक्तौ इकारोकारयोर्वर्णयोश्श्लेषः पूर्ववदेव । सर्वदातः अणौ सर्वदा तरणौ इतिच्छेदाद्वक्ष्यमाणपदश्लेषश्च । एषु श्रेयोहेतावित्यादिषु त्रिषूदाहरणेषु हेतौ वेणौ इत्यादौ हेतुहेतिवेणुवेणीत्यादिविभिन्नानुपूर्वीक शब्दयोरेकोच्चारणगोचरतया प्रतिसन्धानेनार्थद्वयस्य बोधितत्वा-

त्सभङ्गश्लेषसामान्यलक्षणानुगतिः । हेतौ इत्यादौ 'अच्च घेः' इत्यदादेशोत्तरमानुपूर्वीभेदाभावेऽप्यादेशिनि भेददर्शनाद्विभिन्नानुपूर्वीकत्वं द्रष्टव्यम । एवमन्यत्राप्यूह्यम् ॥

---

## पदश्लेषः.

---

**पदश्लेषस्स यश्श्लेषः पदभेदनिबन्धनः ॥ ७९ ॥**

यथा वा—

**समुपनतवत्सलक्ष्मास्निग्धमनास्सत्सुहृद्यनित्यश्रीः । कलिकल्मषहृत्पद्मा कल्याणगुणाम्बुधिस्स्वभूरव्यात् ॥ ८८४ ॥**

अत्र श्रीश्रीशयोः श्लेषः । श्रीपक्षे—समुपनतेषु शरणागतेषु वत्सला वात्सल्यशालिनी या क्ष्मा भूर्देवी तस्यां स्निग्धं स्नेहशालि मनो यस्यास्सा । भुवः 'लक्ष्मीप्रियसखीं देवीम्' इति विशेषितत्वश्रवणात् । सत्सुहृद्यनित्यश्रीः सती साध्वी 'सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्' इत्यमरः । सुहृद्या अतिमात्रहृदयप्रिया सतां सुहृद्या वा नित्या अनश्वरी श्रीः शोभा संपत्तिर्वा यस्यास्सा तथोक्ता । कलिकल्मषहृत् कलिकलुषहारिणी । कल्याणाः गुणाः यस्यास्सा । स्वेन भवतीति स्वभूः, स्वेच्छायत्तजन्मा न तु कर्मकृतजनिः अम्बुधौ स्वभूः अम्बुधिस्वभूः । पद्मा श्रीः अव्यात् पायात् । इति ॥

श्रीशपक्षे तु वत्से—वक्षसि 'उरो वत्सं च' इत्यमरः । लक्ष्म श्रीवत्साख्यं चिह्नं तत् समुपनतं प्राप्तं येन सः समुप-

नतवत्सलक्ष्मा । सत्सु ब्रह्मवित्सु स्निग्धमनाः 'स च मम प्रियः' इति गानात् । हृद्या वक्षस्स्था नित्या 'नित्यैवैषा जगन्माता' इत्युक्तेः श्रीः लक्ष्मीः यस्य स तथोक्तः । कलिक ल्मषहृत्पत् मा इति च्छेदः । कलिकल्मषं हरत इति तथोक्तौ पदौ चरणौ यस्य स तथोक्तः 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ॥

यावत्स पादपद्माभ्यां पस्पर्शेमां वसुन्धराम् ।
तावत्पृथ्वीपरिष्वङ्गे समर्थो नाभवत्कलिः ॥

इत्येतदत्रानुसंहितम् । कल्याणगुणाम्बुधिः स्वभूः भगवन् 'केशवो माधवस्स्वभूः' इत्यमरः । मा मां अव्यादिति योजना अनन्वादेशेऽपि वैकल्पिको मादेशो भवत्येव 'एते वांनावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः' इत्युक्तेः । पद्मा इत्यत्र संहितायामनुनासिकनकारादेशाभावः, 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इति तस्य वैकल्पिकत्वानुशासनात् । अत्र 'समुपनतवत्सलक्ष्मा' इत्यादौ पदभेदनिबन्धनः श्लेषः । अयमेव सभङ्गश्लेष इति काव्यदर्पणकृत् ॥

---

## लिङ्गश्लेषः.

---

**लिङ्गश्लेषस्स विज्ञेयो ह्रस्वदीर्घसमासतः ।**
**स्त्रीपुंनपुंसकानां चेच्छब्दानां तुल्यरूपता ॥**

ह्रस्वैर्दीर्घैर्वा वर्णैः लघोर्दीर्घत्वेन दीर्घस्य लघुत्वेन वा समासैर्वा स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानां सारूप्यं वर्ण्यते चेत्स लिङ्गश्लेष इत्यर्थः ॥

यथा—

किमपि महस्स्वानस्मान् श्रेयो नयता दधत्क-
राग्रेऽब्जम् । मातृत्वभाक्त्रिजगतां नितरां जाग्र-
न्नतेप्सितविधाने ॥ ८८५ ॥

अत्रापि श्रीश्रीशयोरेव श्लेषः। त्रिजगतां मातृत्वं जननीत्वं पदत्रयेण मितिकर्तृत्वं च भजतीति मातृत्वभाक् । भजतेर्ण्विः । नितरां नतानां ईप्सितविधाने जाग्रत् जागरूकं जागरूकश्च । पक्षे—'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । कराग्रे अब्जं पद्मं शङ्खं च दधत् दधानं दधानश्च । किमपि महः तेजस्त्वेनाध्यवसितं वस्तु विशेषणमहिम्ना श्रीरूपमिति लभ्यते । स्वान् स्वकीयान् अस्मान् श्रेयः कल्याणं नयताम् ॥

पक्षे—महस्स्वानित्येकं पदम् । महस्स्वान् तेजस्वी विशेषणमहिम्ना भगवानिति लभ्यते । अस्मान् किमपि श्रेयो नयतामिति योजना । महस्वानित्यत्र 'तसौ मत्वर्थे' इति भसंज्ञायां न पदकार्यरुत्वादि । अस्मिन्पक्षे सकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वं बोध्यम् ॥

यथावा —

पद्मानुरागिशुभदृक्छुकवागमृताब्धिजाततय-
शोभाक् । पायादेव महोज्ज्वलभामामणिहारिहृ-
त्सततमस्मान् ॥ ८८६ ॥

अत्रापि श्रीश्रीशयोरेव श्लेषः। श्रीपक्षे—प्रथमैकवचनान्तानि विशेषणानि । श्रीशपक्षे संबुद्ध्यन्तानीति द्रष्टव्यम् । पद्मेषु अ-

नुरागिणी शुभा दृक् यस्यास्सा कमलसुहृन्नयनेत्यर्थः। शुकस्य कीरस्य वागिव वाक् यस्यास्सा शुकवाक्। अमृताब्धिजा दुग्धाम्बुधिजानिता। ततं विस्तृतं यशो भजत इति ततयशोभाक्। महोज्ज्वला अत्युज्ज्वला भाः यस्यास्सा। मा मणिहारिहृत् इति छेदः। मणिहारोऽस्मिन्नस्तीति तथोक्तं हृत् वक्षो यस्यास्सा। मा लक्ष्मीः सततं अस्मान् पायाद्देव रक्ष्यादेव नात्र संदेह इति भावः॥

भगवत्पक्षे—पद्मायां लक्ष्म्यां अनुरागिणी शुभा दृक् यस्य सः तस्य संबुद्धिः। शुकस्य शुकमहर्षेः वाक् श्रीभागवतरूपा सैव अमृताब्धिः तस्माज्जातमिति शुकवागमृताब्धिजं आततं च यद्यशः तद्भजतीति तथोक्तः तस्य संबुद्धिः श्रीभागवतप्रख्यातविपुलकीर्ते! इत्यर्थः। महोज्ज्वलभामामणिहारिहृदित्येकं पदं समस्तम्। ज्वलतीति ज्वला पचाद्यच्। महसा ज्वला महोज्वला 'अनचि च' इति जकारस्य द्वित्वम्। या भामामणिः लक्ष्मीः तया हारि मनोहरं हृत् वक्षः यस्य तस्य संबुद्धिः। पायाः देवेतिच्छेदः। हे देव! भगवन्! सततं अस्मान् पायाः अव्याः, पाधातोराशीर्लिङि मध्यमैकवचनम्। पूर्वत्र प्रथमैकवचनम्। अनयोः पद्ययोः दधत् इत्यादीनां पुंनपुंसकलिङ्गानामेकोच्चारणगोचरत्वाल्लिङ्गश्लेषः। ईदृशं च लिङ्गश्लेषोदाहरणमलङ्कारकौस्तुभकृदुदाहरणानुरोधेन। वस्तुतस्तु तन्मतेन नेदमुदाहरणं, तेन हि वर्णाद्यष्टविधश्लेषाणां सभङ्गत्वं प्रतिज्ञाय 'विभिन्नानुपूर्वीकशब्दप्रतिसन्धानबोध्यार्थान्तरकत्वं सभङ्गत्वम्' इति सभङ्गतां परिष्कृत्य—

उन्निद्राब्जपरिष्कृतप्रवरदोः प्रह्वीभवद्दैवतः
श्रेणीमौळितटावघट्टितमणिज्योत्स्नासमुल्लासितात्।

उन्मीलद्धनसारसन्ततिसदृक्फुल्लारविन्दाभदृ-
ग्रूपं कैटभभेदिनो मदनजिद्वा चन्द्रिका वाऽवतु ॥

इत्युदाहृत्य 'अत्र दोरित्यादीनां रूपं क्लीवपुंस्त्रीलिङ्गेषु समानम्' इत्युक्तम्। एवं च तदुदाहरणे लिङ्गत्रयस्य दधदित्याद्यस्मदुदाहरणे पुंनपुंसकलिङ्गयोश्चानुपूर्व्या एकाकारतया विभिन्नानुपूर्वीकतायाः कथमप्यदर्शनान्न भवतीदं सभङ्गविशेषलिङ्गश्लेषोदाहरणं, अपितु हर्यादिशब्दवदभङ्गश्लेषोदाहरणमेव ॥

ननु हर्यादिशब्देषु लिङ्गभेदाभावादानुपूर्व्या अविभिन्नत्वमस्तु प्रवरदोरित्यादौ दधदित्यादौ च तत्सद्भावाद्विभिन्नत्वमानुपूर्व्या इति चेन्न, लिङ्गभेदस्य तदप्रयोजकत्वात्। शब्देष्वानुपूर्वी नाम अव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेन पूर्वपूर्ववर्णविशिष्टचरमवर्णत्वरूपा। सा च प्रदर्शितस्थले अविभिन्नैव दृश्यत इति कास्ति विभिन्नानुपूर्वीकता। न च पुंनपुंसकादिरूपार्थभेदात्तद्भेदनिर्वाहः, अर्थभेदस्यापि तदप्रयोजकत्वात्। लिङ्गस्य शब्दवृत्तिताभ्युपगमेऽपि न लिङ्गमानुपूर्वीघटकं भविष्यति। लिङ्गं हि नाम स्त्रीत्वपुंस्त्वादिरूप उदात्तत्वानुदात्तत्वादिवत्कश्चन शब्दवृत्तिधर्मः पृथगेवानुपूर्व्याः। अत एव 'तटादिशब्देषु समानानुपूर्वीकेषु लिङ्गत्रयम्' इति वैयाकरणभूषणोक्तं संगच्छते। लिङ्गस्याप्यानुपूर्व्यन्तःपातित्वाभ्युपगमे 'अब्जेन त्वन्मुखं तुल्यं कमलानां त्वदीक्षणे' इत्यादावप्यब्जकमलपदयोर्लिङ्गभेदप्रयुक्तानुपूर्वीभेदेन सभङ्गश्लेषत्वापत्तिः। इष्टापत्तौ च तत्राभङ्गश्लेष इति सकलालङ्कारिकाभिमतिविरोधप्रसङ्गः। तस्मान्न लिङ्गमानुपूर्वी भवितुमर्हतीति विभिन्नानुपूर्वीकताया उपदर्शितोदाहरणगतप्रवरदोरित्यादिशब्देष्वसम्भवात्तेषां सभङ्गावान्तरलिङ्गश्लेषोदाहरणत्वं न युज्यते 'बिभ्रन्नीलोत्पलरुचिं हरिरव्यात्तदक्षि वा' इति का-

व्यदर्पणकृतो लिङ्गश्लेषोदाहरणं तु तन्मते सम्यगेव । तस्या भङ्गतायामप्यविरोधात् । तेन ह्यष्टविधश्लेषान्तःपातिपदश्लेषमुदाहृत्यायमेव सभङ्गश्लेष इत्युक्तम् । न तु भेदान्तरस्याभङ्गत्वं सभङ्गत्वं वा कण्ठतः । तस्मात् पदश्लेषातिरिक्तानां वर्णादिश्लेषाणां यथायथं सभङ्गे अभङ्गे वा श्लेषे अन्तर्भाव इति तदाशय उन्नीयते । साहित्यदर्पणकारस्तु—

"श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ।
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ।

इत्यादिना अष्टविधान् श्लेषान्निरूप्य,

पुनस्त्रेधा सभङ्गोथाभङ्गस्तदुभयात्मकः ॥

इति पुनस्त्रिधा विभज्य 'एतद्भेदत्रयं चोक्तभेदाष्टके यथासम्भवं ज्ञेयम्" इत्यभाणीत् । एवंच काव्यदर्पणादिमते 'विभ्रन्नीलोत्पलरुचिम्' इत्यादेः दधदित्यादेश्चाभङ्गश्लेषत्वेऽपि लिङ्गश्लेषोदाहरणत्वं निरर्गळमेव । अलङ्कारकौस्तुभमते तूपपादितप्रकारेण तदीयलक्षणासङ्गतेः 'प्रवरदोः' इत्यादितदीयलिङ्गश्लेषोदाहरणमसमीचीनमेव । इदं तु तन्मतेऽप्युदाहरणं भविष्यति—

यथा—

**त्वमखिलजगदानन्दी त्वमशुभहारी त्वमेव शुभकारी । न्यस्य परमात्मनीने मनोरमे त्वयि हरेऽत्र परमेनः ॥ ८८७ ॥**

अत्रापि श्रीश्रीशयोरेव श्लेषः । भृशं आत्मने परमात्मने हिता आत्मनीना । तस्यास्संबुद्धिः हे आत्मनीने! 'आत्मन्विश्वजन'

इत्यादिना हितार्थे खप्रत्ययः । 'आत्माध्वानौ खे' इति प्रकृतिभावः। हे रमे! त्वं अखिलजगत् आनन्दयतीत्यखिलजगदानन्दी त्वं अशुभं हरतीत्यशुभहारी त्वमेव शुभं करोतीति शुभकारी च। सर्वत्र कर्मण्यणि 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्। अत्र त्वयि अस्यां त्वयि मनो न्यस्य परं भरन्यासोत्तरकालिकं पुनः अघं 'कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः। हरे हरामि । पुर्वाघस्य विनष्टत्वादुत्तराघस्याश्लेषादिति भावः । हृञस्ताङि लट्युत्तमैकवचनम् ॥

भगवत्पक्षे - आत्मनि इने मनोरमे परमे नः इति छेदः। हे हरे! त्वं भृशं अखिलजगत् आनन्दयतीति तथोक्तः त्वं अशुभहारी। त्वमेव शुभकारी च। आभ्यां विशेषणाभ्यां—

अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसंततिम्।
स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्म तन्मंगळं परम् ॥

इति प्रमाणार्थस्संगृहीतः। सर्वत्र 'सुप्यजातौ' इति णिनि-मनोरमे सौन्दर्यसौशील्यादिकल्यणगुणैश्चित्तापहारिणि इने सः वैश्वरे परमे आत्मनि सर्वान्तरात्मनि अत्र अस्मिन् त्वयि नः अस्मान् न्यस्य न्यस्याः। त्वयि न्यस्तभरान् कुर्या इत्यर्थः। निपुर्वकादस्यतेर्दैवादिकाल्लोण्मध्यमैकवचनम्। अत्र जगदानन्दीत्यादिविशेषणत्रये स्त्रीपुल्लिङ्गयोश्श्लेषः, तयोरैकरूप्येण श्रवणात् । आनन्दत्यादेः ङ्यन्तत्वणिन्यन्तत्वकृता विभिन्नानुपूर्वीकेति तादृशशब्दप्रतिसन्धानबोध्यत्वादर्थद्वयस्य सामान्यलक्षणसंगतिः । न्यस्य हरे इत्यत्र सुप्तिङ्प्रत्यययोश्श्लेषः । आत्मनीने मनोरमे परमेनः इत्यत्र पदश्लेषश्चेत्यपि विभावनयिम् ॥

यथावा—

साधुजनपक्षपाता सकलपरित्यक्तवायसत्राता।
सुरराड्बहुमानेता सुमहाश्श्रीस्स्फुरतु मम जगन्मा-
ता ॥ ८८८ ॥

अत्रापि भगवतो लक्ष्म्याश्च श्लेषः। साधुजनपक्षस्य पाता रक्षिता। साधुजने पक्षपातो यस्यास्सा तथोक्ता च। सकलपरित्यक्तस्य 'स पित्रा च परित्यक्तः' इत्युक्तरीत्या सकललोकोपेक्षितस्य वायसस्य इन्द्रात्मजस्य काकस्य त्राता पालयिता। उक्तविधो वायसस्त्रातो यया सा च। इदं च पाद्मोत्तरे प्रसिध्यति। जगतां माता पदत्रयेण मितिकर्ता जननी च। सुरराट् देवानामधीशः। बहु इति भिन्नं पदमुत्तरान्वयि। मानेता श्रीनायकः। पक्षे—सुरराडित्यादि समस्तं पदं, सुरराज इन्द्रस्य बहुमानेन अतिशयितेन पूजनेन इता युक्ता। इणः क्तः। तत्पूजितेत्यर्थः। प्रसिध्यतीदं वैष्णवे पुराणे। सुमहती अतिपूज्या श्रीः लक्ष्मीः संपत्तिर्वा यस्य स तथोक्तः। इदं मानेतेत्यस्यैव विशेषणम्। पक्षे—सुमहाः शोभनतेजाः। सुमहेत्यादन्ततया वा छेदः। शोभनोत्सवेत्यर्थः। श्रीः लक्ष्मीः मम स्फुरतु प्रकाशताम्। अत्र पुंस्त्रीलिङ्गयोरेकोच्चारणविषयतया लिङ्गश्लेषः। साधुजनपक्षपातृत्वसाधुजनपक्षपातात्वादिरूपविभिन्नानुपूर्वीकशब्दप्रतिसंधानेनार्थद्वयबोधात्सभङ्गत्वमिति ध्येयम्॥

## भाषाश्लेषः.

---

**भाषाश्लेषस्तु भिन्नार्थनानाभाषैक्यतो भवेत् ॥ ८१**

भिन्नार्थकानां नानाभाषाणां श्लेषणे भाषाश्लेषः ॥

यथा—

**वाहासमं सहजसंपरिणाहिदयारसं सरलभासम् । सुगळन्तमोहमीडे कमलावासंतमहिहरेसन्तम् ॥ ८८१ ॥**

अत्र सांस्कृती भाषा भगवत्परा, प्राकृती तु लक्ष्मीपरा। तथा हि, भगवत्पक्षे—वाहासमं वाहाभिः भुजाभिः असमं असदृशं सकलभुवनरक्षणविचक्षणलोकोत्तरचतुर्बाहुमित्यर्थः । सहजसंपरिणाहिदयारसं सहजः निसर्गसिद्धः संपरिणाही अतिविपुलः दयारसः यस्य तं तथोक्तम्। सरलभासं सरला उदारा भाः यस्य तं तथोक्तम् । सुगळं शोभनः रेखात्रयलक्षणवत्तया कल्याणः गळः कण्ठो यस्य तं तमोहं तमः अज्ञानं हन्तीति तथोक्तम् 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति हन्तेर्डः, सुगळशब्दान्त्यानुस्वारस्य 'वा पदान्तस्य' इति वैकल्पिकः परसवर्णः। हरति संहरतीति हरः अहीनां हरः अहिहरः नागान्तकः तस्मिन् सन्तं स्थितं तार्क्ष्यवाहनमित्यर्थः। कमलावासं श्रीनिवासं ईडे स्तौमि ॥

लक्ष्मीपक्षे—वाहासमं बाधाशमां, शमयतीति शमा, पचाद्यच्। बाधायाः जगत्पीडायाः शमा तां तथोक्ताम् । "खघधथभां हः' इति सूत्रेण बाधाशब्दधकारस्य हकारः । 'शो-

स्सल्' इत्यनेन शमशब्दशकारस्य सकारः 'स्वरस्य विन्द्वमि' इति समाशब्दाकारस्य ह्रस्वः। एवमुत्तरत्रापि। सहजसं सहयशसं यशसा सहितां 'तेन सहेति'। इत्यादिना समासे 'वोपसर्जनस्य' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्सभावाभावः। 'आदेर्जः' इति यशश्शब्दयकारस्य जः। 'अन्त्यहलोऽश्रदुदी'' इत्यन्त्यसकारलोपः। 'स्नमदामशिरोनभोनरि' इति यशश्शब्दस्य पुंस्त्वेऽपि बहुव्रीहौ स्त्रीत्वम्। ह्रस्वः पूर्ववत्। परिणाहिदयारसं विपुलकरुणारसाम्। 'प्रायो लुक्कगचजतदपयवाम्' इत्यत्र प्रायोग्रहणाद्दयाशब्दयकारस्य नलुक्। 'समासे वाक्यविभक्त्यपेक्षया भिन्नपदत्वमपीष्यते' इत्युक्तत्वात् सुदोह इत्यादाविव दयाशशब्ददकारस्य न लुक्। सरलभासं सरलभाषां उदारागिरामित्यर्थः। 'शोस्सल्' इति षकारस्य सकारः। भासमित्यस्य समासे पूर्ववद्भिन्नपदत्वेन भकारस्यादितया 'खघथधभां हः' इति न हकारादेशः, 'अखोः' इत्यनुवृत्तेः। ऐकपद्यविवक्षायामपि प्रायोग्रहणानुवृत्तेः 'पट्टणभवो' इत्यादाविव न हकारः ह्रस्वः प्राग्वदेव। सुगळन्तमोहामिति समस्तं पदम्। सुगळन्मोहां सुगळन्तेत्यत्र 'शतृशानचोः' इति सूत्रेण न्तादेशः। ततो मोहशब्देन सुष्ठु गळन्तो मोहो यस्या इति पञ्चमीबहुव्रीहिः। सर्ववैचित्यनिवारयित्रीमित्यर्थः। ह्रस्वः अहिहरे अहिधरे शेषाद्रौ स्थितामित्यध्याहारः। समासस्यैकपदत्वविवक्षया धकारस्यानादित्वलाभात् 'खघथध' इत्यादिना हादेशः। सन्तं शान्तां प्रसन्नामिति यावत्। तं तां कमलावासं पद्मावासां। ईडे। उड्वादेराकृतिगणत्वान्नेह लत्वम्। अत्र संस्कृतप्राकृतभाषयोरेकोच्चारणविषयतया भाषाश्लेषः। एवं शौरसेन्यादिभाषाश्लेषोऽप्यूह्यः॥

## विभक्तिश्लेषः.

सुपां तिङां च श्लेषश्चेद्विभक्तिश्लेष ईरितः ॥

केवलसुपां केवलतिङां मिळितानां वा सुतिङां श्लेषश्चेत्स विभक्तिश्लेष इत्युच्यते ॥

यथा—

उरुगायान्यथ च सदानन्दानि महामहांसि भूयांसि । फणिशिखरिशिखरसीमनि विलगन्ति जगन्ति चावन्ति ॥ ८१० ॥

अत्रापि भगवतो लक्ष्मयाश्च श्लेषः । तथाहि—उरुः विपुलः गायः कीर्तिः येषां तानि । अथ च सन् आनन्दो येषां तानि । भूयांसि अतिबहूनि । बहुत्वं चात्र वैपुल्यं न तु सङ्ख्याविशेषः । बहुशब्दस्य 'बहुषु बहुवचनम्' इत्यादौ सङ्ख्यायामिव 'अल्पं वा बहु वा यस्य' इत्यादावल्पत्वप्रतियोगिवैपुल्येऽपि प्रयोगदर्शनात् 'बहु स्यात्र्यादिसङ्ख्यासु विपुलेऽप्यभिधेयवत्' इति मेदिनी । वैपुल्यं चात्र गुणतस्स्वरूपतश्च । तथाचानन्तकल्याणगुणानि सर्वव्यापीनि चेत्यर्थः । महामहांसि तथात्वेनाध्यस्तो भगवानित्यर्थः । फणिशिखरिशिखरसीमनि विलगन्ति अवतिष्ठन्ते । तत्र हेतुमभिप्रयन्नाह—जगन्ति लोकान् अवन्ति रक्षन्ति च । लगतेरवतेश्च लट्प्रथमबहुवचनम् ॥

पक्षे फणिशिखरिशिखरसीमनि विलगन्ति विद्यमानानि जगन्ति अवन्ति त्रायमाणानि । भूयांसि उक्तोऽर्थः । महामहांसि द्वितीयाबहुवचनम् । तत्त्वेनाध्यवसितां श्रियमित्यर्थः । उरु

अधिकं यथा स्यात्तथा गायानि गायेयं तद्यशःकीर्तनं करवाणीत्यर्थः। अथच गानानन्तरं च सदा सर्वदा नन्दानि नन्देयं प्रमोदेयेत्यर्थः। उभयत्र प्रार्थनायां लोडुत्तमैकवचनम्। अत्र विलगन्तीत्यादौ सुप्तिङ्विभक्त्योः श्लेषः॥

यथावा—

चरणाम्बुजशरणगतं कंचिदपि त्वं पुराऽपि न निरास्थः। अद्यत्वेऽच्युत मदवनविषयेऽपि तथैव को विशयः॥ ८९१॥

हे अच्युत! आश्रितरक्षणव्रतान्नच्यवतीत्यच्युत इति निरुक्तिः तस्य संबुद्धिः। इदं च प्रकृतविवक्षितार्थोपस्कारकं, चरणाम्बुजशरणगतं कंचिदपि जातिवृत्तादिनिहीनमपीति भावः। पुराऽपि पूर्वमपि न निरास्थः न निराकार्षीः। निःपूर्वकादस्यतेर्लुङि सिपि च्लेरङि 'अस्यतेस्थुक्' इति थुक्। अद्यत्वे मदवनविषये मद्रक्षणविषयेऽपि तथैव न निरास्थ एव निरपेक्षो न किंतु सापेक्ष एवेति भावः। निर्गता आस्था यस्य निरास्थः न निरास्थः ननिरास्थः। 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु योषिति' इति मेदिनी। अत्र तिङ्सुब्विभक्त्योः श्लेषः॥

यथावा—

सुमनोहृत्सरसीरुहनिवासभागब्जलोचनाऽनर्घश्रीः। शिशिरकृपासारस्स्याद्भूयान्मयि सर्वदा च भवतस्तप्ते॥ ८९२॥

अत्र श्रीश्रीपतिविषयकः प्रथमासंबुद्धिविभक्त्योः श्लेषः।

श्रीपक्षे सुमनोहृदिति व्यस्तं पदं, अतिमनोहारिणीत्यर्थः। स-मस्तं सरसीरुहविशेषणं वा। सरसीरुहे निवासभाक्। अन-र्घश्रीः दिव्यशोभा। सर्वं ददातीति सर्वदा च। अखिलाभीष्ट-दात्रीत्यर्थः। एवंविधा अब्जलोचना श्रीरित्यर्थः 'पद्मदलाय-ताक्षि' इत्येतदत्र स्मर्तव्यम्। शिशिरकृपासारस्स्यात्। ल्यब्लोपे पञ्चमी। शीतलदयासरसतां प्राप्येत्यर्थः। द्वितीयसकारस्य 'अ-नचि च' इति द्वित्वमर्थान्तरानुरोधात्। भवतः संसारेण। सा-र्वविभक्तिकस्तासिः। तप्ते मयि भूयात् सन्निधत्तामित्यर्थः॥

श्रीपतिपक्षे तु—सुमनसां विदुषां हृत्सरसीरुहे निवास-भाक् सद्भिर्ध्येयेत्यर्थः। संबुद्ध्यन्तमिदमब्जलोचनेत्यस्य विशेष-णम्। एवमग्रेऽपि। अनर्घा श्रीः लक्ष्मीर्यस्य तस्य संबुद्धिः। हे अब्जलोचन! भगवन्! पुण्डरीकाक्ष! भवतः तव भूयानिति छेदः अतिबहुः शिशिरः कृपासारः तप्ते आध्यात्मिकादिता-पग्रस्ते मयि सर्वदा सदा स्यात् प्रसरतादिति यावत्। अत्र पदश्लेषोऽपि द्रष्टव्यः॥

यथावा—

भक्तार्थदया सततं सुरेषु दत्ताभयाऽलमुदधि-जया। ननु सर्वभूतधात्र्यादरतस्तत्रेऽखिलं भु-वनमेतत्॥ ८९३॥

अत्र भूश्रीविषयकः प्रथमातृतीययोः श्लेषः। भक्तानां अर्थं अभीष्टं पुरुषार्थं ददातीति भक्तार्थदा तथोक्तया। पक्षे भक्तेभ्य इयं भक्तार्था 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्त-व्यम्' इति समासो विशेष्यलिङ्गता च। तादृशी दया कृपा यस्यास्सा तथोक्ता सततं सुरेषु देवेभ्य इत्यर्थः। 'सममब्रा-

क्षणे दानम्' इत्यादाविव संप्रदानस्यैवाधिकरणत्वविवक्षया सप्तमी। अलं दत्ता आभा दीप्तिः यया सा तथोक्ता तया। पक्षे सुरेषु विषये दत्तं अभयं यया सा तथोक्ता। उदधेः क्षीरोदाज्जाता उदधिजा। तया तथोक्तया। पक्षे उत् उत्कृष्टः आध्र अधिकः जयः यस्यास्सा तथोक्ता। सर्वभूतानां धात्र्या सविव्या लोकमात्रा। श्रियेत्यर्थः। अखिलं एतद्भुवनं दरतः संसारभयात् तत्रे त्रातम्। कर्मणि लिट्। 'भीत्रार्थानाम्' इति पञ्चमी। पक्षे सर्वभूतधात्री आदरत इति छेदः। सर्वभूतधात्री भूः 'भूतधात्र्यब्धिमेखला' इत्यमरः। आदरतः आदरात् अखिलं एतद्भुवनं तत्रे त्रायते स्म। त्रायतेः कर्तरि लिट्। अत्र सर्वभूतधात्र्यादरत इत्यत्र पदश्लेषोऽपि वेदितव्यः॥

यथावा—

क्षेमकृतो दामभृतस्स्थेमपुषस्सकलदुरितनाममुषः। सरसीरुहवासिन्यास्सदृशा ददतां श्रियं ममापाङ्गाः॥ ८९४॥

अत्र सरसीरुहवासिन्यास्सदृशा इति तदपाङ्गानां विशेषितत्वात् क्षेमकृत इत्यादीनि पदानि तस्यास्तेषां चाविपरिणामेनैव विशेषणानीति बोध्यम्। अत एव षष्ठीप्रथमयोर्विभक्त्योः एकवचनबहुवचनयोश्च श्लेष इत्यवधेयम्॥

यथावा—

नमदवनास्वप्नतरावम्लानौ सर्वसंपदामवनौ।
हृदयमनुविहरतां फणिगिरिधामनिविष्टपादौ नः॥

अत्र भगवत्पक्षे सप्तम्याः तत्पादपक्षे प्रथमायाश्च विभक्तेः

श्लेषः । तथाहि--नमतां नन्तॄणां अघने प्रीणने विषये अस्व-प्नतरुस्सुरद्रुमः तस्मिंस्तथाभूते सर्वेप्सितदातरीति भावः । पक्षे नमद्वने अतिशयेनास्वप्नौ अस्वप्नतरौ अतिजागरूकावित्यर्थः । प्रथमाद्विवचनम् । एवमग्रेऽपि । अम्लानौ अविद्यमाना म्लानिः हर्षक्षयो यस्य तथोक्ते । पक्षे न म्लानौ अम्लानौ ग्लानिवि-हीनावित्यर्थः । सर्वसंपदां अवनौ भूमौ आधारभूत इत्यर्थः । पक्षे रक्षकावित्यर्थः । फणिगिरिः धाम स्थानं यस्य तस्मिन् फणिगिरिधामनि । विष्टपानां लोकानामादौ प्रथमे जगत्कारण-भूते परस्मिन् ब्रह्मणि नः अस्माकं हृदयं चित्तं अनुविहर-ताम् । लग्नं भवत्वित्यर्थः । अनुपूर्वकात् हृञस्तङि लोट्प्रथम-पुरुषैकवचनम् । पक्षे फणिगिरिधामनिविष्टपादौ इति समस्तं पदम् । फणिगिरिरिति यद्धाम स्थानं तस्मिन् निविष्टः स्थितः श्री-निवास इत्यर्थः । तस्य पादौ चरणौ । नः हृदयं चित्तं अनु 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वि-तीया' इति हृदयशब्दाद्द्वितीया । विहरतां क्रीडताम् । हृञः प-रस्मैपदिनो लाट्प्रथमपुरुषद्विवचनम् । 'तस्थस्थमिपां तांतं-तामः' इति तसस्तामादेशः । अत्रैकवचनद्विवचनयोः इकारो-कारयोः इकाराकारयोर्वर्णयोश्च श्लेषः ॥

यथावा—

द्राघीयोविख्यातावतिप्रशस्तौ नितान्तपरिपु-ष्टौ । चेतोहरौ सदाऽऽस्तां दोषौदास्यं वितन्वतोऽ-स्य मम ॥ ८१६ ॥

द्राघियसी विख्यातिर्यस्य तस्मिन् तथोक्ते इति भगव-त्पक्षे । द्राघीयो यथा स्यात्तथा विख्यातौ द्राघीयांसाविति वि-

ख्याताविति वा तद्भुजपक्षे। एवमग्रेऽपि। अतिशयिता प्रशस्ति· र्यस्य सः अतिप्रशस्तिः तस्मिन्। पक्षे अतिशयेन प्रशस्तौ। नितान्ता परिपुष्टिर्यस्य तथोक्ते। पक्षे नितान्तं परिपुष्टौ पुष्टिमन्तौ। हरौ उक्तविधे भगवति दोषौदास्यं दोषेषु औदास्यं उदासीनतां वितन्वतः अस्य मम चेतः कर्तृ सदा आस्तां उपविशतात् 'आस उपवेशने' लोट्प्रथमपुरुषैकवचनम्। पक्षे चेतोहराविति समस्तं पदम्। सदा स्तां दोषौ दास्यं इति छेदः। अस्य प्रस्तुतस्य भगवतः दोषौ बाहू 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः। दास्यं शेषत्वं वितन्वतः विस्तारयतः मम सदा चेतोहरौ चित्तहारिणौ स्तां भवताम्। अस्तेर्लोट्प्रथमपुरुषद्विवचनं, 'श्नसोरल्लोपः' इत्यकारलोपः। अत्र सप्तमीप्रथमयोर्विभक्त्योः तदेकवचनद्विवचनयोश्च श्लेषः। सदास्तामित्यत्र पदश्लेषः। तिङ्विभक्तिवचनश्लेषश्च॥

यथावा—

**आदृतसुमनस्सेवे शुभगुणमहिते सदाऽपि लक्ष्मिपदे। घनरुचिभूम्नि यशस्विनि ननु मेधावति मनोहरे भवति॥ ८१७॥**

अत्र श्रीश्रीनिवासयोर्विषये क्रमेण संबुद्धिसप्तम्योर्विभक्त्योश्श्लेषः। तथाहि, श्रीपक्षे—आदृतसुमनः सेवे शुभगुणमहि ते सदा अपि लक्ष्मि पदे ननु मेधावति मनोहरे भवति इति छेदः। आदृताः सुमनसो बुधाः यया सा आदृतसुमनाः तस्यास्संबुद्धिः हे आदृतसुमनः! शुभगुणानां महि! निवासभूमे! घनः सान्द्रः रुचिभूमा यस्यास्सा तस्यास्संबुद्धिः हे घनरुचिभूम्नि! 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति वैकल्पिको ङीप्। यश-

स्विनि ! पूर्ववत्संबुद्धिः । मेधा अस्या अस्तीति मेधावती तस्या-स्संबुद्धिः । मनोहरे ! मनोज्ञे ! हे भवति ! पूज्ये मातरिति वा । हे लक्ष्मि ! सदाऽपि ते तव पदे चरणे सेवे भजे इति ॥

भगवत्पक्षे तु—आदृतसुमनस्सेवे शुभगुणमहिते सदा अपि लक्ष्मिपदे ननु मे धावति मनः हरे भवति इतिच्छेदः । ननु हरे ! हे भगवन् ! आदृता सुमनसां विबुधानां सेवा येन त-स्मिंस्तथोक्ते । शुभगुणैः महितः तास्मिन् । लक्ष्म्याः पदं स्थानं लक्ष्मिपदं तस्मिंस्तथोक्ते श्रीनिवासे इत्यर्थः । लक्ष्मीशब्दस्या-ङ्यन्ततया समासे 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इति वैकल्पि-को ह्रस्वः 'लक्ष्मणो लक्ष्मिसंपन्नः' इतिवत् । घनस्याम्बुदस्य रुचिभूमेव रुचिभूमा यस्य तास्मिन् । यशस्विनि 'तस्य नाम महद्यशः' इत्युक्तरीत्या कीर्तिमति । भूम्नि प्रशंसायां वा म-त्वर्थीय इनिः । भवति त्वयि मे मनः चित्तं धावति प्रवर्तते । अत्र पदश्लेषादिकमपि द्रष्टव्यम् ॥

यथावा—

स्वामिनि जगतां लक्ष्मीकामिनि वरदे विभा-
वतिमनोज्ञे । भवतान्मनस्त्वयि शुभे भवरहिते
पद्मजातहृन्महिते ॥ ८१८ ॥

अत्रापि पूर्ववदेव संबुद्धिसप्तम्योः श्लेषः । तथाहि, ल-क्ष्मीपक्षे—वरदेवि भावति मनोज्ञे भवतात् मनः त्वयि शुभे भवरहिते इति छेदः । हे स्वामिनि ! ऐश्वर्यशालिनि ! जगतां लक्ष्मीं कामयते इति लक्ष्मीकामिनी । तस्यास्संबुद्धिः । जगता-मैश्वर्यदानाभिलाषिणीत्यर्थः । भाः अस्या अस्तीति भावती त-स्यास्संबुद्धिः । तेजस्विनीत्यर्थः । मनोज्ञे मनोहारिणि । शुभे

कल्याणि। भवरहिते कर्मकृतजन्मविधुरे । पद्मानां जातं वृन्दं 'जातं जनसमूहयोः' इति विश्वः। तस्य हृदि मध्यदेशे कर्णिकायामित्यर्थः। महिते पूजिते 'पद्मे स्थितां, तां पद्मनेमिम्' इति च श्रुतेः। हे वरदेवि! वरा च सा देवी च वरदेवी तस्यास्संबुद्धिः देवदिव्यमहिषीत्यर्थः। 'देवी कृताभिषेकायाम्' इत्यमरः। त्वयि मनः कर्तृ, ममेति शेषः। भवतात् वर्तताम्। भवतेर्लोट्प्रथमैकवचनम्। 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्' इत्याशीरर्थे तोस्तातङ्। त्वय्येव लग्नं भवत्वित्यर्थः॥

भगवत्पक्षे—वरदे विभौ अतिमनोज्ञे भवतात् मनः तु अयि शुभेभवरहिते इति छेदः। जगतां स्वामी ईश्वरः तस्मिन् वरदे अभीष्टप्रदे। विभौ सर्वव्यापिनि। अतिमनोज्ञे। शुभः 'मङ्गळानां च मङ्गळम्' इत्युक्तेः। स चासौ इभवराय गजेन्द्राय हितः शुभेभवरहितः गजेन्द्रहितकारीत्यर्थः। तथोक्ते। यद्वा—शुभः निश्श्रेयसरूपकल्याणकरः इभस्य गजस्य वरः वरदानमिति यावत्। तस्मै हितः तास्मिन्। पद्मजातो ब्रह्मा तस्य हृदा मनसा महितः पूजितः तस्मिन् लक्ष्मीकामिनि श्रियःपत्यौ। अयि मनः! हे हृदय! भवतात् भूयाः। तुशब्दोऽवधारणे। भगवत्येव सक्तं भूया इत्यर्थः। भवतेरेव लोण्मध्यमैकवचने हेः आशिषि तातङ्। अत्र स्त्रीपुंसलिङ्गयोश्श्लेषः। वरदेविभावतिमनोज्ञे इत्यादौ पदश्लेषः। भवतादित्यत्र पुरुषश्लेषश्चेति बोध्यम्॥

यथावा—

कुवलयदळासितिम्नश्श्रिय आकाङ्क्षाम्यपाङ्गरुचिभूम्नः। भगवत उच्चमहिम्नः प्रगुणतमैश्वर्यदानानिस्सीम्नः॥ ८११॥

अत्र लक्ष्मीकटाक्षविषये द्वितीयायाः भगवद्विषये पञ्चम्याश्च विभक्तेः श्लेषः । तद्वहुवचनैकवचनयोश्च श्लेषः । तथाहि—कुवलयदलस्य असितिमेवासितिमा येषां तान् कुवलयदळासितिम्नः । भगवतः श्रीनिवासादपि उच्चमहिम्नः अतिशायेतवैभवान् । अत एव प्रगुणतमं अतिमात्रऋजु यदैश्वर्यं तस्य दाने निस्सीम्नः उद्वेलानित्यर्थः । 'ऋजावजिह्मप्रगुणौ' इत्यमरः । श्रियः लक्ष्म्याः अपाङ्गानां कटाक्षानां रुचिभूम्नः प्रकाशातिशयान् आकांक्षामि । लक्ष्मीकटाक्षरुचयो मयि प्रसरन्त्वित्याशास इति भावः ॥

पक्षे—कुवलयदळासितिम्न इत्यादीनि भगवत इत्यस्य विशेषणानि पञ्चम्येकवचनान्तानि । नीलोत्पलदळश्यामलादित्यर्थः । अपाङ्गस्य अनङ्गस्य रुचिभूमेव रुचिभूमा यस्य तस्मात् कन्दर्पतुल्यसौन्दर्यादित्यर्थः । उच्चमहिम्नः निरतिशयभूम्नः प्रगुणतमैश्वर्यदाननिस्सीम्नः उक्त एवार्थः । भगवतः उक्तविधात् श्रीनिवासात् श्रियः मुक्तैश्वर्यपर्यन्तास्संपदः आकांक्षामि अभिलष्यामीति । अत्र भगवत इत्यत्र पञ्चमीषष्ठ्येकवचनयोः श्रिय इत्यत्र षष्ठ्येकवचनद्वितीयाबहुवचनयोश्च श्लेषः ॥

यथावा—

**घनकरुणानुत्तानां भजेयशोभाभृतां सुबहुदानाम् । सरसीरुहधामधृतां परंपरां मादृशां श्रियमवित्रीम् ॥ १०० ॥**

अत्र श्रीविषये तत्कटाक्षविषये च द्वितीयाषष्ठ्योर्विभक्त्योः श्लेषः । तथाहि घनया करुणया अनुत्ताना न उत्ताना

गम्भीरा तां तथोक्ताम्। 'निम्नं गभीरं गम्भीरमुत्तानं तद्विपर्यये' इत्यमरः। 'त्रिष्वागाधात्' इत्युक्तेर्भेद्यलिङ्गता। पक्षे—घनकरुणया नुत्तानां प्रेरितानामिति षष्ठीबहुवचनम्। एवमग्रेऽपि। 'नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूतविद्धाक्षिप्तेरिताः समाः' इत्यमरः। नुदेर्निष्ठायां 'नुदविदोन्दीत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्' इति नत्वविकल्पानुशासनात् निष्ठातस्य पूर्वस्य दस्य च न नत्वं, किंतु चर्त्वम्। भजे यशोभाभृताम् इति छेदः। यशश्च भा च यशोभे ताभ्यां भृतां पूर्णाम्। अत्र भाशब्दस्य द्वन्द्वे अल्पाच्तरत्वनिमित्तकपूर्वनिपाताभावो न दोषाय। 'समुद्राभ्राद्धः, लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यादिनिर्देशेन तस्य प्रकरणस्यानित्यताज्ञापनात्। यद्वा—यशसो भा प्रकाशः तया भृतामिति विग्रहः। पक्षे—भजेयेति छेदः। शोभां बिभ्रतीति शोभाभृतः तासाम्। सुबहु दानं वितरणं यस्यास्ताम्। पक्षे सुबहु ददतीति सुबहुदाः तासां 'आतोऽनुपसर्गे' इति कः। सरसिरुहमेव धाम स्थानं तेन धृतां कमलालयामित्यर्थः। पक्षे—सरसीरुहाणां धाम त्विषं धरन्तीति तथोक्तानाम्। धृञः क्विप्। परं अतिमात्रं परां उत्तमां मादृशां मद्विधानां अवित्रीं पालयित्रीं श्रियं लक्ष्मीं भजे सेवे। लट्। पक्षे—श्रियं संपदं अवित्रीं अवतेस्तृन्। 'न लोक' इति षष्ठीनिषेधात्कर्मणि द्वितीया। मायाः श्रियः दृशः कटाक्षाः तासां मादृशां परंपरां रेखां भजेय सेवेय, लिङ्। अत्रोक्तयोर्विभक्त्योरेकवचनबहुवचनयोश्च श्लेषः। भजेयशोभेत्यत्र परंपरामित्यादौ च पदश्लेषश्चानुसन्धेयः॥

यथावा—

**दुरितभिदे सर्वविदे नतनिवहेष्टार्थकल्पभूमिरु-**

हे । कमलाप्रख्यातिभृते नमोऽस्तु मम दैवते स-
दाऽब्जधृते ॥ १०१ ॥

अत्र भगवद्विषये चतुर्थ्याः श्रीविषये सप्तम्याश्च विभक्तेः श्लेषः । तथाहि—दुरितानि भिनत्तीति दुरितभित् तस्मै दुरितभिदे । 'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप् । पक्षे—भिनत्तीति भिदं 'इगुपधज्ञा' इत्यादिना कः । तस्मिन् । एवमग्रेऽपि । सर्वविदे सर्वं वेत्ति विन्दति वा सर्ववित् तस्मै 'यस्सर्ववित्' इति श्रुतेः । पक्षे—सर्वज्ञे इति, नतनिवहेष्टार्थानां कल्पभूरुट् कल्पतरुः तस्मै । अभीप्सितार्थप्रदायेत्यर्थः । पक्षे —कल्पभूमिरुहः तस्मिन् । कमलया श्रिया या प्रख्यातिः तां बिभर्तीति कमलाप्रख्यातिभृत् तस्मै श्रीनिरूपितस्वरूपायेत्यर्थः । 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, सुमज्ञानये विष्णवे' ।

यदपाङ्गाश्रितं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
यस्य वक्षसि सा देवी प्रभाऽग्नेरिव तिष्ठति ॥
स वै सर्वेश्वरश्श्रीमान् कल्याणगुणसागरः ।

इत्यादिश्रुतिपुराणवचनान्यत्रानुसन्धेयानि । पक्षे कमलेति प्रख्यात्या भृतं पूर्णं तस्मिन् । अब्जं शङ्खं धरतीत्यब्जधृत् तस्मै । पक्षे—पद्मेन धृते इत्यर्थः । 'पद्मे स्थिताम्' इत्यादिश्रुतेः । मम दैवते महालक्ष्मीरूपे दैवते । सदा नमः अस्तु । पक्षे—दैव ते इति पदद्वयम् । हे मम दैव ! मद्भागधेयरूप ! भगवन् ! ते तुभ्यं नमः अस्तु । 'नमस्स्वस्ति' इत्यादिना चतुर्थी । अत्र पदश्लेषोऽपि द्रष्टव्यः ॥

यथावा—

**प्रभवेऽखिलभुवनानां विभवे तत्तादृशे स्वमात्मानम् । सुरराजश्रीजीवनदयालवे ननु समर्पये महिते ॥ १०२ ॥**

अत्रापि पूर्ववदेव श्लेषः । हे सुरराज ! देवाधीश ! हे श्रीजीवन ! श्रियो लक्ष्म्या जीवनभूत ! श्रीर्जीवनं यस्य तस्य संबुद्धिर्वा हे श्रीनिवासेत्यर्थः । अखिलभुवनानां प्रभवे अधीश्वराय । विभवे व्यापकाय च । तत्तादृशे अवाङ्मनसगोचरस्वरूपस्वभावविभवायेति भावः । तत्तादृक्छब्दस्तादृक्छब्दसमानार्थकः । यथा तत्तुल्यशब्दस्तुल्यशब्दसमानार्थकः । सः तादृक् यस्य स तथोक्त इति वा । असदृशायेति तदर्थः । दयालवे कृपाशालिने 'स्पृहिगृहि' इत्यादिना कर्तर्यालुच्प्रत्ययः । ते तुभ्यं स्वं 'स्वत्वमात्मनि सञ्जातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम्' इत्युक्तप्रकारेण स्वभूतं आत्मानं समर्पयेमहि । संपूर्वकादर्पयतेर्लिङुत्तमबहुवचनम् ॥

पक्षे—अखिलभुवनानां प्रभवो जगत्कारणभूत इत्यर्थः । तस्मिंस्तथोक्ते । सुरराजश्रीजीवनदयालवे इति समस्तमेकं पदम् । सुरराजश्रिय इन्द्रैश्वर्यस्य जीवनः जीवयिता दयाया लवो लेशः यस्य तस्मिन्, प्रसिद्ध्यतीदं वैष्णवे पुराणे । महिते पूज्ये तत्तादृशे विभवे विभूतौ भगवत्यां श्रीमहालक्ष्म्यामित्यर्थः । श्रीभागवते—'वक्षोनिवासमकरोत्परमं विभूतेः' इति लक्ष्मीर्विभूतित्वेन हि व्यपदिश्यते । ननुरवधारणे । लक्ष्म्यामेवेत्यर्थः । स्वं आत्मानं समर्पये । संपूर्वकादर्पयतेर्लङुत्तमैकवचनम् । अत्र शेषिदंपत्योरात्मनिक्षेप उक्तः ॥

यथावा—

भवमयपाशलवित्रे भजमानानां विशालशुभनेत्रे। निखिलचराचरधात्र्या निजमात्मानं निवेदयेपत्ये ॥ १०३ ॥

अत्रापि पूर्ववदेव श्लेषः। भगवत्पक्षे—भजमानानां भक्तानां भवमयस्संसाररूपः यः पाशः तस्य लविता छेत्ता तस्मै तथोक्ताय, लूञस्तृच्। विशालं विपुलं शुभं निश्श्रेयसरूपं कल्याणं तस्य नेता प्रापयिता तस्मै, णीञस्तृच्। निखिलचराचरधात्र्याः सकललोकजनन्याः श्रियः पत्ये भर्त्रे निजं आत्मानं निवेदये अर्पये—

सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने।
निवेदयत मां क्षिप्रं विभीषणमुपस्थितम्॥

इत्यत्रैव 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि संप्रदानम्' इत्युक्तरीत्या संप्रदानसंज्ञायां पतिशब्दस्य चतुर्थी॥

श्रीपक्षे—भजमानानां भवमयपाशस्य लवित्रं दात्रं तस्मिन्। 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' इति लूनातेरित्रच् 'दात्रं लवित्रम्' इत्यमरः। छेत्तरीत्यर्थः। विशाले शुभे नेत्रे यस्य तस्मिन्। निखिलचराचरधात्र्याः सकलभूतधात्र्याः भुवः। यद्वा—निखिलाः पूर्णाः चराचराः जङ्गमस्थावराः यस्यां सा तथाविधायाः धात्र्याः भुवः 'विपुला गह्वरी धात्री' इत्यमरः। निवेदयेऽपत्ये इत्यत्र अपत्ये इति छेदः। अपत्ये दुहितरि। 'सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी। आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोस्समे' इत्यमरः। भगवत्यां जनकनन्दिन्यामित्यर्थः। निजं आत्मानं नि-

वेदये। 'निवेदयीत स्वात्मानं विष्णावमलतेजसि' इत्यत्रेव संप्रदानस्याधारत्वविवक्षया अपत्यशब्दात्सप्तमी। अत्र पदलिङ्गश्लेषावपि द्रष्टव्यौ॥

यथावा—

सुन्दर्यग्रण्यां परदैवतवामभ्रुवामुदारधियाम्।
अञ्जलयो निपतन्तस्तञ्जनयन्त्यखिलसंपदं तासाम्॥ १०४॥

अत्र षष्ठीसप्तम्योर्विभक्त्योः श्लेषः, तद्बहुवचनैकवचनयोरपि। सुन्दरीणां अग्रण्यां अग्रगण्यायाम्। उदारधियां महाप्रज्ञायां वदान्यमनीषायां वा। परदैवतस्य भगवतः वामभ्रुवां ललनायां लक्ष्म्याम्। सर्वत्र 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामादेशः। निपतन्तः श्रीविषये अहमहमिकया समुदयन्त इत्यर्थः। तासां सुन्दर्यग्रण्यामित्यादिविशेषणविशिष्टानामित्यर्थः। तासामित्युक्त्या प्रदर्शितानां सप्तम्येकवचनान्तानां पदानां षष्ठीबहुवचनान्तत्वं ज्ञापितम्। तथाहि—सुन्दरीणां अग्रण्यां अग्रगण्यानां, अनद्यन्तत्वादामो न नुट्। उदारधियां महामतीनाम्। पराणि च तानि दैवतानि चतुर्मुखादयो देवाः तेषां याः वामभ्रुवः महिलाः पराश्च ताः दैवतवामभ्रुवश्चेति वा तासां 'बृन्दारका दैवतानि' इत्यमरः। वाणीरुद्राणीन्द्राणीप्रभृतीनां सुरसुदतीनामित्यर्थः। उभयत्र 'वाऽमि' इति नदीसंज्ञाया विकल्पितत्वेन तदभावादामो न नुट्। अखिलसम्पदं जनयन्तीति योजना॥

## प्रकृतिश्लेषः

अश्लिष्टप्रत्ययकृता प्रकृत्योश्चेत्सरूपता ।
स एष प्रकृतिश्लेषो द्विधा सुप्तिङपेक्षया ॥

नानारूपयोः प्रकृत्योः अश्लिष्टप्रत्ययकृतं चेत्सारूप्यं स प्रकृतिश्लेषः । द्विवचनं बहूनामप्युपलक्षकम् । स च सुप्रत्ययापेक्षस्तिङ्प्रत्ययापेक्षश्चेति द्विप्रकारकः । अश्लिष्टेति प्रत्ययविशेषणं प्रत्ययश्लेषे अतिप्रसङ्गवारणाय । प्रत्ययाश्लिष्टतायां स एव हि भविष्यति ॥

तत्राद्यो यथा—

चित्रं हरिकृपया यः कृपया यो देवतान्तरस्यापि । वृद्धिं भजेत स पुमान् सुकृतीशस्तोमहाव्यसनरुत्स्यात् ॥१०५॥

यः हरिकृपया वृद्धिं भजेत स पुमान् सुकृती पुण्यवान् शस्तः समस्तलोकस्तुतः महान्ति व्यसनानि विपदः रुणद्धीति महाव्यसनरुत् । रुधेः क्विपि जश्त्वचर्त्वे । विपल्लुपविधुरस्स्यात् । विभीषणादिवदिति भावः । योऽपि देवतान्तरस्य कृपया वृद्धिं भजेत सोऽपि पुमान् उक्तविध एव भवेदिति चित्रम् ! वस्तुतस्तु सुकृतीशस्तोमहेतिच्छिन्नं समस्तमिदं पदम् । सुकृतीशाः पुण्यवदग्रगण्याः तेषां स्तोमं व्यूहं हन्तीति सुकृतीशस्तोमहा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति हन्तेर्विच् । न तु क्विप् 'ब्रह्मभ्रुणवृत्रेषु क्विप्' इत्यत्र चतुर्विधनियमाश्रयणात् । एतेन 'मातृहा वै त्वमसि पितृहा वै, विश्रुतात्मा सुरारिहा, पुमान्

भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा' इत्यादिप्रयोगा व्याख्याताः । व्य-सनैः 'मृगयाऽक्षा दिवास्वप्न' इत्याद्युक्तैः कामजैर्दशभिः 'पैशुन्यं साहसं द्रोहः' इत्याद्युक्तैरष्टभिः क्रोधजैश्च दोषैः रोदिति अश्रु विमुञ्चतीति तथोक्तः । रुदेरश्रुविमोचनार्थकात्क्विप्, चर्त्वम् । उक्तविधव्यसनवर्गक्षुभितहृदयो भवेत् । रावणादिवदिति भावः । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इत्यमरः । अत्र रु-धिरुधोः किञ्चिन्निमित्तकं सारूप्यमिति प्रकृतिश्लेषः । सुकृतीत्यादौ पदश्लेषोऽपि ॥

यथावा—

साधुसमित्यग्रेसरयुद्बो बहुशास्त्रविज्जयति श-त्रून् । स हि विरचितशुभरक्षोवैरियशस्तुद्भवेन्म-हाधीरः ॥ १०६ ॥

अत्र भगवद्भक्तो विद्वान् प्रस्तुतः अप्रस्तुतस्तु शूरः तयोः श्लेषः । यः पुमान् साधूनां विदुषां समितौ सभायां ये अ-ग्रेसराः तैर्यौतीत्यग्रेसरयुत् । 'यु मिश्रणे' इत्यस्मादादादिका-द्धातोः क्विपि तुक् । सत्सङ्गशालीत्यर्थः । अन्यत्र साधु यथा स्यात्तथा समितौ युद्धे 'समितिस्सांपराये स्यात्सभायां सङ्ग-मेऽपि च' इति मेदिनी । ये अग्रेसराः तैः युद्ध्यत इति त-था । युद्ध्यतेः क्विप् । जश्त्वचर्त्वे । बहूनि शास्त्राणि वेत्तीति तथा । विदेः 'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप् । चर्त्वम् । पक्षे श-स्त्राणां समूहश्शास्त्रं बहु यच्छास्त्रं तेन विध्यतीति तथा । वि-ध्यतेः क्विपि जश्त्वचर्त्वे । शत्रून् कामादिनित्यवैरिणः, पक्षे अरातीन् जयति अभिभवति । सः महाधीरः महाविद्वान् अति-धैर्यवांश्च पुमान् । 'धीरस्स्यात्त्रिषु पण्डिते । स्वच्छन्दे धैर्ययु-

के च' इति मेदिनी। विरचितं शुभं मङ्गळं येन तत्तथोक्तं यत् रक्षोवैरियशः दैत्यारिकीर्तिः तत् स्तौतीति तथोक्तः जगन्मङ्गळभगवद्दिव्ययशोविषयकप्रबन्धप्रणेता पराशरव्यासादिवदिति भावः। स्तौतेः क्विपि तुक्। पक्षे विरचिता शुभानां कल्याणानां रक्षा शुभा वा रक्षा येन स तथोक्तः। विशिष्य जगत्क्षेमङ्कर इत्यर्थः। भिन्नं पदम्। वैरिणां यशः तुदतीति तथोक्तः। तुदतेः क्विप्। भवेत्। अत्र यौतियुध्यतोः वेत्तिविध्यत्योः यशश्शब्दोपपदकस्तौतितुदत्योश्च क्विपि सारूप्यमितीदृशप्रकृत्योस्सुप्प्रकृत्यपेक्षयोः श्लेषः। उत्तरार्धे पदश्लेषोऽपि॥

यथावा—

त्वदभिमुखो भवमुक्स्यात्त्वद्विमुखश्चापि पन्नगनगेन्द्रो। उभयोरपि महती रुक्प्रभवत्यनयोरितीदमाश्चर्यम्॥ १०७॥

त्वदभिमुखः त्वाद्विमुखश्चापि भवमुक् भवं संसारं मुञ्चतीति तथोक्तः। मुचेः क्विप् 'चोः कुः' इति कुत्वम्। पक्षे भवे संसारे भवेन वा मुह्यतीति तथोक्तः। मुहेः क्विपि 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' इति हस्य वैकल्पिकं घत्वं, जश्त्वचर्त्वे। अनयोरुभयोरपि महती रुक् रुचिः दीप्तिः 'स्युः प्रभारुग्रुचिः' इत्यमरः। रुचेर्दीप्त्यर्थकात्क्विप्। पक्षे रुक् रोगः "स्त्री रुग्रुजा च' इत्यमरः। रुजेः क्विप्। उभयत्र जश्त्वचर्त्वे। अत्र भवशब्दोपपदकयोर्मुञ्चतिमुह्यत्योः केवलयो रुचिरुज्योश्च क्विपि सारूप्यमिति प्रकृतिश्लेषः॥

यथावा—

भवपाशबन्धमुडिति त्वां त्वत्तोऽन्यं च नाथ निगदामः। जानात्यनेकधातुप्रकृतिज्ञोऽन्ते बुधस्तदाकूतम् ॥ १०८ ॥

हे नाथ! त्वां त्वदन्यं चतुर्मुखादिकं च भवपाशबन्धमुडिति निगदामः। विविधश्लेषवक्तारो वयमिति भावः। तदाकूतं उभयत्र तादृशशब्दप्रयोगाभिप्रायं तु अन्ते निर्णयावसरे अनेकधा बहुप्रकारेण निस्सन्दिग्धमिति भावः। प्रकृतिं जगत्कारणभूतं परं ब्रह्म भवबन्धनिदानभूतां मूलप्रकृतिं च जानातीति प्रकृतिज्ञः 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः। योनौ लिङ्गे पौरवर्गे' इति मेदिनी। योनिः कारणम्। लिङ्गं चिह्नं 'प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता' इत्यादौ मूलप्रकृताविव 'वासुदेवः परा प्रकृतिः, प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादौ प्रकृतिशब्दो हि जगत्कारणेऽपि प्रयुक्तः। यद्वा—प्रकृतिं तव त्वदन्यस्य च स्वभावं जानातीति तथोक्तः। भवपाशच्छेत्तृत्वं तव स्वभावः। भवपाशमुग्धत्वं त्वदन्यस्येति जानन्निति भावः। अथवा अनेके बहवः ये धातवः धातारः तत्तदण्डान्तर्वर्तिनश्चतुर्मुखाः तेषां प्रकृतिः कारणं 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। धातुशब्दो धाञ्धातोः 'सितनिगमिमसिसिच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन्' इत्यौणादिकतुन्प्रत्ययेन निष्पन्नतया उदन्तः 'धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः' इत्यत्र व्यासार्यैरेवमेव निष्पादितः॥

पक्षे—अन्ते भवपाशबन्धमुडित्यत्रावसाने विद्यमानाः अनेके ये धातवः 'मुट आक्षेपप्रमर्दनयोः, मुष स्तेये, मुह वैचित्ये'

इति धातवः क्रमेण तुदादौ क्र्यादौ दिवादौ च पठिताः। तद्रूपाः प्रकृतीः क्विप्प्रत्ययप्रकृतीः जानातीति तथा। बुधः परावरतत्त्ववित् शाब्दिकश्च जानाति। भवपाशबन्धं मुटतीति वा मुष्णातीति वा विग्रहे क्विपि अयं शब्दो भगवद्विषयः भवपाशबन्धेन मुह्यतीति विग्रहे क्विपि निष्पन्नो भगवदन्यविषयः तयोरत्र श्लेष इति तदभिप्रायं वेत्तीत्यर्थः। अत्र मुटमुषमुहीनां क्विप्प्रत्यये सारूप्यम्। मुटिमुष्योर्जश्त्वचर्त्वे। मुहेस्तु 'वा द्रुहमुह' इति वैकल्पिकघत्वाभावे 'हो ढः' इति ढत्वे जश्त्वचर्त्वे इति बोध्यम्॥

यथावा—

त्वं विमृडसि स्वतोऽच्युत भक्ततेरागसां तथाऽघानाम्। योगक्षेमाणामपि बहुधातुविशेषविद्विदं विद्यात्॥ १०१॥

हे अच्युत! त्वं स्वतः स्वभावादेव विमृट् विशेषेण मृडति सुखयतीति तथोक्तः। अपरिच्छिन्नसुखस्वरूप इत्यर्थः। 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' इत्यादौ तथा श्रवणात्। तथा भक्ततेः तत्संबन्धिनां इदमुत्तरत्राप्यन्वेति। आगसां अपराधानां विमृट् विशेषेण मृष्यति क्षमत इति विमृट्। महापराधसहिष्णुरित्यर्थः। किंच—अघानां तदीयानां दुःखानां विमृट्। विशेषेण मार्ष्टि शोधयतीति तथा। सकलव्यसननिश्शेषयितेत्यर्थः। अपिच योगाः अलभ्यलाभाः क्षेमाः लब्धपरिपालनानि तेषां विमृट् विमृशतीति विमृट् विचारयितेत्यर्थः।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

इति गानात्। इदं तु उक्तं भगवतो गुणजातं सर्वमपि बहुधा 'बहुभ्यश्श्रोतव्यं बहुधा श्रोतव्यम्'।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यो मतिमान्नरः ।
सर्वतस्सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥

इत्युक्तप्रक्रियया बहुप्रकारेण। विशेषवित्तु तुरवधारणे । शास्त्रार्थतत्त्ववेत्तैव विद्यात् जानीयात्। नान्यः

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥

इत्युक्तप्रकारः स्थूलमतिरिति भावः। बहवो ये धातुविशेषाः तद्विदेव अमुमर्थं जानीयात् । नान्यः अशाब्दिक इत्यर्थोऽप्युपस्कार्यः। अत्र क्रमेण 'मृड सुखने' तौदादिक, 'मृष तितिक्षायाम्' दैवादिकः, 'मृजू शुद्धौ' आदादिकः, 'मृश आमर्शने। तौदादिकः। एषां चतुर्णां धातूनां विपूर्वकाणां क्विप्यैकरूप्यम्। पूर्वोदाहरणे त्रयाणामैकरूप्यमिति ध्येयम् । अत्र विपूर्वकात् मृडेः क्विपि चर्त्वे मृषेः जश्त्वेन डत्वे चर्त्वे च मृजिमृशिभ्यां तु 'व्रश्च' इत्यादिना षत्वे जश्त्वेन डत्वे चर्त्वे विमृाडिति तुल्यं रूपम् ॥

एवमाद्यस्सुप्प्रत्ययापेक्षः प्रकृतिश्लेषो निरूपितः । तिङ्प्रत्ययापेक्षो द्वितीयः प्रकारो यथा--

**अवशाद्यस्त्वां नाम्ना जुहाव यश्चाध्वरेषु नियमात्ते । फलमुभयोरप्यनयोर्जलजाक्ष निरङ्कुशो बत ददासि ॥ ९१० ॥**

यः अजामिळादिः अवशात् हठात् त्वां नाम्ना नारायणाद्यभिधानेन जुहाव आहूतवान् 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' इति भौवादिकाद्धातोर्लिट् । 'अभ्यस्तस्य च' इत्यभ्यस्तीभविष्यतो ह्वेञस्संप्रसारणं, ततो द्वित्वम् । यश्च यजमानः उपरिचरवसुप्रभृतिः नियमात्—

ये तु वार्कनिषन्निष्ठास्तत्तत्संस्कारसंस्कृताः ।
ते वै भागवताश्शुद्धा वासुदेवैकयाजिनः ॥

इत्युक्तप्राक्रियया शुद्धयाजित्वरूपपारमैकान्त्यादित्यर्थः । अध्वरेषु ते तुभ्यं जुहावेति योजना । हुतवान् त्वामुद्दिश्य हविर्दत्तवानित्यर्थः । 'हु दानादनयोः' अस्माज्जौहोत्यादिकाद्धातोर्लिट् । दानं चेह प्रक्षेपः । स च वैधे आधारे हविषश्चेति स्वभावाल्लभ्यत इत्याहुः । अत्र लिटि ह्वयतिजुहोत्योः प्रकृतेरैकरूप्यमिति तिङ्प्रत्ययापेक्षप्रकृतिश्लेषोऽयम् ॥

यथावा—

**तस्याः कियदिव भाग्यं या त्वां गर्भे जगन्निवासाधात् । यस्याश्च शिशुरिव भवान् स्तन्यं शौरे जगत्सविता ॥ १११ ॥**

हे जगन्निवास ! इदं च संबोधनं विवक्षितगर्भधारणार्हत्वस्याश्चर्यावहत्वं द्योतयितुम् । या देवकीति भावः । त्वां गर्भे अधात् दध.र दधातेर्लुङ् । तस्याः भाग्यं कियत् अपरिच्छिन्नमित्यर्थः । इवशब्दो वाक्यालंकारे । जगतां सविता जनकः इदमपि विवक्षितस्तन्यपानाद्भुतत्वव्यञ्जनाय । शिशुरिव प्राकृतस्तनंधय इव यस्याः यशोदाया इति भावः । स्तन्यं अधात्

पपा तस्याश्च भाग्यं कियदिवेति योजना । 'धेट् पाने' लुङ् 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' इति वैकल्पिकस्सिचो लुक् । अत्र धाञ्धेटोः प्रकृतेरैकरूप्यम् ॥

यथावा—

**वरयति विनतानखिलानुरगधराधरकृपा यश-श्चैषाम् । क्षोदयति रिपूनेषां तदीयसेनाश्च यदिह निश्शेषम् ॥ ११२ ॥**

उरगधराधरकृपा कर्त्री अखिलान् विनतान् वरान् श्रेष्ठान् करोति वरयति । वरशब्दाण्णिच् । एषां विनतानां यशः कीर्तिं च उरुं विपुलं करोति वरयति । उरुशब्दाण्णाविष्ठवद्भावे 'प्रियस्थिर' इत्यादिना वरादेशः । तत्र हेतुमाह—क्षोदयतीत्यादिना । यत् यस्मात् एषा भगवत्कृपा एषां विनतानां रिपून् क्षुद्रान् कृपणान् करोति क्षोदयति । क्षुद्रशब्दाण्णाविष्ठवद्भावे 'स्थूलदूर' इत्यादिना तस्य यणादिपरलोपः पूर्वस्य गुणश्च । तदीयाः विनतरिपुसम्बन्धिनीः सेनाश्च निश्शेषं यथा स्यात् तथा क्षोदं करोति क्षोदयति । क्षोदशब्दाण्णिच् । चूर्णयतीत्यर्थः । 'चूर्णे क्षोदः' इत्यमरः । अत्र वरोरुशब्दयोः क्षुद्रक्षोदशब्दयोश्च णिजन्तयोस्तिप्यैकरूप्यात्प्रकृतिश्लेषः ॥

यथावा—

**कलयति विषयं तव यं करुणारसमेदुरः कटाक्षलवः । लोकेश्वरदयिते तं लोके बृन्दयति तस्य विभवांश्च ॥ ११३ ॥**

हे लोकेश्वरदयिते! करुणारसमेदुरः तव कटाक्षलवः यं पुमांसं विषयं कलयति गोचरयति तं पुमांसं लोके सर्वस्मिन् जने वृन्दयति वृन्दारकं मुख्यं करोति। वृन्दारकशब्दाण्णाविष्ठवद्भावे 'प्रियस्थिर' इत्यादिना तस्य वृन्दादेशः सर्वोपजीव्यं करोतीत्यर्थः। 'वृन्दारकौ रूपिमुख्यौ' इत्यमरः। तस्य विभवांश्च वृन्दयति वृन्दानि करोति संपुञ्जयति। तस्मिन्नेव समाहारयतीत्यर्थः। वृन्दशब्दात् 'तत्करोति' इति णिच्। अत्र वृन्दारकवृन्दशब्दयोर्णिजन्तयोस्तिप्यैकरूप्यम्। आद्ययोरुदाहरणयोश्शुद्धधातुरूपप्रकृत्योरैकरूप्यम्। अनन्तरयोस्तु ण्यन्तनामधातुलक्षणप्रकृत्योरिति वैलक्षण्यं बोध्यम्॥

यथावा—

त्वद्भुक्तशेषमनघं भक्त्याऽच्युत येन भक्ष्यते पुंसा। स ह्यातिवाहिकैरपि हुतवहमुख्यैरितीदमाश्चर्यम्॥ ११४॥

हे अच्युत! अनघं त्वद्भुक्तशेषं येन भक्ष्यते अद्यते स पुमान् अर्चिरादिकैरातिवाहिकैरपि भक्ष्यते हि इत्येतदाश्चर्यम्॥ सेविष्यत इति तु तत्त्वम्। भगवन्निवेदितशेषप्रसादास्वादनमहिम्ना अर्चिरादिकैरातिवाहिकैरपि मान्यते पुमान् किमुतान्यैरिति भावः।

निवेदितहविश्शेषं भुक्त्वा भगवतोऽनघम्।
व्यपोह्य सर्वपापानि मोक्षमृच्छत्यसंशयम्॥

इति भगवच्छास्त्रीयप्रमाणार्थ इहानुसन्धेयः। अत्राद्येऽर्थे भक्षधातोः कर्मणि यकि लट्, द्वितीये भजधातोर्लृटि स्यप्रत्यये

'चोः कुः' इति कुत्वे 'इण्कोः' इति स्यावयवसस्य षत्वम्। अत्र भक्षेर्भजेश्च यक्स्यप्रत्ययकृतं सारूप्यम्। यद्यपि प्रत्ययविधावुद्देश्यत्वं प्रकृतित्वमिति भक्षिभज्योस्तिङ्निरूपितप्रकृतित्वात्तयोर्नैकरूप्यं, तथाऽपि प्रत्ययनियतपूर्ववृत्तित्वं तदित्यभ्युपगमेन भक्ष्येत्यनयोस्तिङ्पूर्ववृत्तितया प्रकृतिभूतयोरैकरूप्यमिति निर्वोढव्यम्। यद्वा प्रकृतिश्लेष इत्यस्याङ्गश्लेष इत्यर्थः। तथा सतीदृशोदाहरणस्यापि संग्रहो निरर्गळ एव, भक्ष्येत्यनयोस्तिङ्निरूपिताङ्गत्वेन तयोश्चैकरूप्यात्। 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' इति ह्यङ्गलक्षणम्॥

उक्तस्योभयविधप्रकृतिश्लेषस्य सङ्करोऽपि संभवति। यथा—

दृश्ये योगिवरैस्त्वयि निहितात्माऽहं त्वया दयार्द्रदृशा। त्वन्नाम वहन्नास्ये नरकाराते पुरा नरके॥ ११५॥

योगिवरैः सूक्ष्मदर्शिभिः दृश्ये 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इत्युक्तप्रकारेण द्रष्टुं योग्ये दृशेः 'ऋदुपधात्' इति क्यप्। त्वयि निहितात्मा विन्यस्तात्मा अहं त्वया कर्त्रा दयार्द्रदृशा करणेन। यद्वा दयार्द्रदृशेति बहुव्रीहिः त्वयेत्यस्यैव विशेषणम्। दृश्ये इति आवृत्त्या योजना। दृष्टो भवामीत्यर्थः। दृशेः कर्मणि यकि लडुत्तमैकवचनम्। आस्ये मुखे त्वन्नाम वहन् त्वन्नामोच्चारयन्निति यावत्। नरके निरये पक्षे वहन्नास्ये इत्यत्र न आस्ये इति छेदः। पुरेति निश्चयद्योतको निपातः। पुरा नास्ये इति योजना। निश्चयेन क्षिप्तो न भविष्यामीत्यर्थः। क्षेपणार्थकादस्यतेराङ्पूर्वकात्कर्मणि लडु-

त्तमैकवचनम्। अयं च लट् पुराशब्दयोगाद्भविष्यदर्थे। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति स्मरणात्। अत्र ङि इट् इति सुप्तिङ्प्रत्ययप्रकृत्योः क्रमेण क्यच्यगन्तयोः ण्यद्यगन्तयोः दृश्येत्यनयोः आस्येत्यनयोश्च प्रकृत्याः श्लेष इति तयोस्सङ्कीर्णता। उभयत्र धात्वैक्येऽपि प्रत्ययभेदकृतं भेदमादाय प्रकृतिश्लेषनिर्वाहः। 'अस्यन्ते वर्णाः येन अस्यते ग्रासो वाऽस्मिन्निल्यास्यम्। 'असु क्षेपणे' 'कृत्यल्युटो बहुळमिति ण्यत्' इत्यमरसुधायाम्। आस्यन्दते आम्लादिना प्रस्रवतीत्यास्यम्। 'स्यन्दू प्रस्रवणे' 'अन्येभ्योपि दृश्यत इति डः' इत्यपि तत्रैव व्युत्पादितम्। अस्मिन्पक्षे तु आस्ये इत्यत्र धातुभेदात्प्रकृतिभेदः स्पष्ट एवेत्यलम्। न केवलमत्र प्रकृतिमात्रश्लेषः, किन्तु प्रत्ययश्लेषोऽपीति विच्छित्तिविशेषो ज्ञेयः॥

न केवलं सुप्तिङ्प्रत्ययापेक्ष एव प्रकृतिश्लेषः, किन्तु तद्धितप्रकृत्यपेक्षोऽपि संभवति॥

यथा—

त्वामाश्रितः प्रथीयांस्तद्विभवश्चापि नाथ तव घृणया। त्वत्प्रतिकूलस्तु भवेत्साधीयांस्तद्विपत्तिनिवहश्च॥ ११६॥

हे नाथ! त्वामाश्रितः पुमान् तव घृणया कृपया प्रथीयान् प्रथा नाम गुणवत्ताप्रख्यातिः साऽस्यास्तीति प्रथावान् अतिशयेन प्रथावान् प्रथीयान् भवेत्। प्रथाशब्दान्मतुबन्तादीयसुनि 'विन्मतोः' इति मतुपो लुक्। तद्विभवः भगवदाश्रितस्य विभवोऽपि प्रथीयान् अतिशयेन पृथुः अतिविपुल इत्य-

र्थः। पृथुशब्दादीयसुनि 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रेफादेशः। त्वत्प्रतिकूलस्तु तव घृणयेत्येतदत्रापि संबध्यते। घृणया जुगुप्सया 'जुगुप्साकरुणे घृणे' इत्यमरः। अनर्होऽयमिति त्वत्कर्तृकजुगुप्सयेत्यर्थः। साधीयान् आधिना सह वर्तत इति साधिः। अतिशयेन साधिः साधीयान् निरतिशयमनोव्यथ इत्यर्थः। भवेत्। तस्य त्वत्प्रतिकूलस्य विरक्तिनिवर्होऽपि साधीयान् अतिशयेन बाढः अतिमात्रदृढ इत्यर्थः। बाढशब्दादीयसुनि 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' इति साधादेशः। 'गाढबाढदृढानि च' इत्यमरः। अत्र प्रथावत्पृथुशब्दयोः साधिबाढशब्दयोश्च प्रकृतेस्तद्धितप्रत्यये परे ऐकरूप्यम्॥

तिङ्तद्धितप्रकृतिप्रत्ययोभयश्लेषोऽपि संभवति। यथा—

**असुलभमाशासै कथममृतं श्रीशादघी महानन्दात्। इत्यङ्ग मा त्रपिष्ठा इह कतिकति तेन नामृतं गमिताः॥ १९७॥**

अघमस्यास्तीत्यघी। नित्ययोगे मत्वर्थीय इनिः। नित्यदुःखीत्यर्थः। 'अंहोदुःखव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः। महानन्दात् 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' इत्युक्तनिरवधिकानन्दात्। इदमुभयोरतिमात्रानानुरूप्यं द्योतयितुम्। श्रीशात् भगवतः असुलभं दुर्लभं अमृतं निश्श्रेयसं कथं आशासै अपेक्षिषीय। श्वेव देवभोग्यं पुरोडाशमिति भावः। 'एत ऐ' इति लोडुत्तमस्य एकारस्य ऐआदेशः। इति एवं अङ्ग! इदं कस्यचिद्वा स्वस्य वा संबोधनम्। मा त्रपिष्ठाः मा लज्जिष्ठाः 'त्रपूष् लज्जायाम्' अस्माल्लुङि ऊदित्वाद्वैकल्पिक इट्। माङ्योगादडभावः। ईदृशोऽ-

हं तादृशाशासने कथं न त्रपेयेत्यत्राह—इहेत्यादिना। इह अस्मिन् लोके तेन श्रीशेन कतिकति त्रपिष्ठा इति योजना। अतिशयेन तृप्राः त्रपिष्ठा जनाः। तृप्रं दुःखमिति माधवः। अयं चात्र तद्वति वर्तते। त्वत्तोऽप्यतिशयित दुःखा इत्यर्थः। तृप्रशब्दादतिशायनेऽर्थे इष्ठनि 'प्रियस्थिर' इत्यादिना त्रपीत्यादेशः। अमृतं न गमिताः भूयांस एव निश्श्रेयसं नीताः। त्वं कुतस्तदाशासनाय लज्जस इति भावः। अत्र त्रपधातोः तृप्रशब्दस्य च प्रकृतेः क्रमेण इडाश्लिष्टथांसि तिङि इष्ठनि तद्धिते चैकरूप्यम्। एवं प्रत्यययोरप्यैकरूप्यमिति ध्येयम्॥

---

## अथ प्रत्ययश्लेषः.

---

प्रकृतिप्रत्ययौघस्यानेकस्य प्रत्ययैर्यदि।
श्लिष्टैस्सरूपता सोऽयं प्रत्ययश्लेष उच्यते॥

यत्रानेकेषां प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां तद्घटकप्रत्ययश्लेषनिमित्तकं सारूप्यं दृश्यते सोऽयं प्रत्ययश्लेषः। इमे च प्रकृतिप्रत्ययश्लेषलक्षणे रुद्रटानुरोधेन वर्णिते। वस्तुतस्तु—

स एष प्रकृतिश्लेषः प्रकृत्योः श्लिष्टता यदि।
श्लिष्टतायां प्रत्यययोः प्रत्ययश्लेष इष्यते॥

इत्येतावती एव लक्षणे अलं, काव्यप्रकाशाद्यनुरोधित्वात्। 'विभक्तेर्वैचित्र्यस्य विशेषहेतुतया पृथगुपादानात्प्रत्ययपदं तदतिरिक्तपरम्' इति काव्यप्रदीपकारः॥

यथा—

कमिता श्रियो मदागः क्षमिता यत्रावभासते
वितता । अमिता ममतापाळिश्शमितानेनाप्स्यते
तथाऽभिमता ॥ ११८ ॥

श्रियः कमिता भगवान् । अनेन पुरुषकारसान्निध्यमुक्तम् । मदागः ममापराधं क्षमिता सोढा क्षमतेर्लुट् । ऊदित्त्वाद्वैकल्पिक इट् । तत्र हेतुमाह—यत्रेति । यत्र यस्मिन् श्रीवल्लभे वितता विस्तृता क्षमितेति योजना । क्षमत इति क्षमी । क्षमेः 'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्' इति घिनुण् प्रत्ययः । 'नोदात्तोपदेशस्य' इति वृद्धिनिषेधः । तस्य भावः क्षमिता महापराधसहिष्णुता अवभासते । अथ तत्कार्यमाह—अमिता मम तापाळिः आध्यात्मिकादितापपरंपरा शमिता शमिष्यति । शाम्यतेर्लुट् । भगवता मदागसि क्षान्ते मम तापत्रयव्यथा नङ्क्ष्यत्येवेत्यर्थः । न केवलमेतावदेव, तथा अनेन मयेत्यर्थः । अभिमता शास्त्रसम्मता शमिता शाम्यतीति शमी पूर्ववदेव घिनुण्, वृद्ध्यभावश्च । तस्य भावः शमिता 'शान्तो दान्तः' इति श्रुता शान्तता भगवदुपासनौपयिकीति भावः । आप्स्यते लप्स्यते । अत्र क्षमिता शमितेति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य तास्तल्प्रत्ययश्लेषनिमित्तकं सारूप्यमिति प्रत्ययश्लेषः ॥

यथावा—

अग्राहि हृदा भगवान् दुर्विषयस्येन्द्रियं च निखिलं मे । धन्येनाभावि मया मम भवकान्तारचारदुःखमपि ॥ ११९ ॥

भगवान् हृदा मनसा मयेति शेषः । अग्राहि अगृह्यत ध्यात इत्यर्थः । ग्रहेः कर्मणि लुङि चिण् । मे मम निखिलं इन्द्रियं चक्षुरादिकं च इदं कर्तृ, दुर्विषयस्य कर्मणि षष्ठी । अग्राहि अग्राहकं भवतीति शेषः । ग्रहेः कर्तरि 'नन्दिग्रहि' इति णिनिः । अत एव मया धन्येन कृतार्थेन अभावि । भवतेर्भावे लुङि चिण् अभूयत । मम भवकान्तारचारदुःखमपि अभावि न भावि अभावि । इतःपरं पुनर्न भविष्यतीत्यर्थः । 'भविष्यतिगम्यादयः' इति भविष्यत्यर्थे 'भुवश्च' इत्यौणादिक इनिः । स च णित् । 'आङ्णित्' इत्यतो णिदित्यनुवृत्तेः । ततो नञ्समासः । अत्र अग्राहि अभावीत्युभयत्रापि चिण्णिन्योः प्रत्यययोरैकरूप्यम् ॥

यथावा—

जगतामादिरभूस्त्वं तव महिमा त्वनिदमादिवचसोऽपि । अभवस्त्वं फणिशैले त्वामाश्रित्याहमपि भवानि हरे ॥ १२० ॥

हे हरे! त्वं जगतां आदिः 'यतो वा इमानि' इत्युक्तरीत्या कारणं अभूः आसीः । भवतेर्लुङ् मध्यमैकवचनम् । तव महिमा तु अनिदमादिवचसोऽपि अभूः अविषयः 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः । नञो भूशब्देन समासः । त्वं एवंजगत्कारणभूत इति भावः । फणिशैले अभवः जगदवनार्थमर्चात्मना प्रादुरासीरित्यर्थः । भूधातोर्लङ्मध्यमैकवचनम् । त्वां आश्रित्य अहमपि विषयमरुमरीचिकाहारिणायमानहृदयोऽपीति भावः । अभवः पुनर्जन्मविधुरः भवानि प्रार्थनायां लोट् । भवितुमाशासे

इत्यर्थः । अत्र अभूः अभवः इत्युभयत्रेऽपि सिप्सुप्रत्यययोरैकरूप्यम् ॥

यथावा—

**आचार्याणामभिमुखमतनोर्मां दूरतोऽस्य बाधा मे । त्वरितं हरेर्ममाखिलदुरितं तस्याम्ब मां प्रियं तनुयाः ॥ १२१ ॥**

हे अम्ब! मां आचार्याणामभिमुखं अतनोः अकरोः । तनोतेर्लङि मध्यमैकवचनम् । अस्य अतनोरित्यावर्त्यते । अतनोः कामस्य बाधा मे मम दूरतो भवति । आचार्याभिमुख्येन कामादयो मां न स्पृशन्तीति भावः । मम अखिलं दुरितं पूर्वमुत्तरं चाघं हरेः अपनुदेः । हृञस्संभावनायां लिङ्मध्यमपुरुषैकवचनम् । मां तस्य हरेरित्येतदत्रावर्त्यते । हरेः भगवतः प्रियं 'सच मम प्रियः' इत्युक्तरीत्या प्रीतिविषयं तनुयाः कुर्याश्च । तनोतेस्संभावनायां लिङ् । आचार्याभिमुख्यदात्री त्वं उत्तरपूर्वाघश्लेषविनाशपूर्वकं परमे व्योम्नि भगवन्नित्याकिंकरं कुर्या एवेति संभावये ॥

योमे गर्भगतस्यापि वृत्तिं कल्पितवान् प्रभुः ।
शेषवृत्तिविधानाय स किं सुप्तोऽथवागतः ॥

इति न्यायादिति भावः । अत्र अतनोः हरेः इत्यत्र सिप्ङसोरैकरूप्यम् ॥

यथावा—

**त्वामाश्रितस्य पातो न किंतु सोऽपि त्वया**

दयाजलधे । त्वच्चरणौ मामेवं किमन्यदवशिष्यते-ऽर्थनीयं मे ॥ १२२ ॥

हे दयाजलधे ! त्वां आश्रितस्य पातः अधोगतिः पततेर्भावे घञ् । न भवति । किंतु, त्वया सोऽपि पातः रक्षितः पातेः कर्मणि क्तः । अनेनानिष्टनिवारणमिष्टप्राप्तिश्चोच्यते । 'पातस्तु रक्षिते । पतने च' इति रत्नमाला । आश्रितस्यैवंविधातिशयलाभे तव किमायातमित्यत्राह—त्वदिति । त्वच्चरणौ मां, अहमपि न किं तवाश्रित इति भावः । एवं पातः रक्षतः । पातेर्लट् प्रथमपुरुषद्विवचनम् । एवमिति साभिनयनिर्देशः । आश्रितान्तरं त्वमेक एव रक्षसि । मां तु त्वच्चरणौ द्वौ रक्षत इति तदपेक्षया ममैवातिशयलाभ इति भावः । अन्यत् अनिष्टनिवारणेष्टप्रापणरूपरक्षाणादन्यत् किं ममाशास्यं सर्वस्यापि प्रार्थनीयस्यात्रैवान्तर्गतत्वादिति भावः । अत्र द्वितीयतृतीययोरर्थयोस्सुबन्तकृत्प्रत्ययस्य क्तस्य तिङन्ततस्प्रत्ययस्य चैकरूप्यमिति प्रत्ययश्लेषः प्राथमिकपदश्लेषेण संकीर्ण इति पूर्वेभ्यो विशेषः ॥

---

## अथ वचनश्लेषः.

---

स भवेद्वचनश्लेषः श्लिष्यन्ति वचनानि चेत् ॥

सुब्विभक्तीनां तिण्विभक्तीनां वा वचनानि श्लिष्टानि चेद्वचनश्लेष इत्यर्थः ॥

यथा—

खेलन्ती हरिहृदये तुदती विपदः प्रपुष्णती विभवान्। लक्ष्मीस्तच्चरणे वा रुन्धां मम चापलानि दीव्यन्ती ॥ १२३ ॥

अत्र खेलन्ती दीव्यन्ती इत्यनयोः 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति शीनद्योः परयोर्नित्यं नुम्। तुदती इत्यत्र तु न नुम्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पेन विहितत्वात्तस्य। रुन्धां निरुद्धानि करोतु कुरुतामिति चार्थः। 'रुधिर् आवरणे' अस्मादात्मनेपादिनो लोटि प्रथमपुरुषैकवचनम्। पक्षे तस्मादेव धातोः परस्मैपदिनो लोट्प्रथमपुरुषद्विवचनम्। अत्र खेलन्ती इत्यादिसुबन्तेषु रुन्धामिति तिङन्ते चैकवचनद्विवचनयोः श्लेषः। लिङ्गश्लेषोऽप्यत्र द्रष्टव्यः॥

यथावा—

सुमहामहास्स्वयंभूकृतबहुधामान ऊर्जितार्चाविभयः। सुश्रीकमनास्सततं सर्वात्मानः परश्रियं सन्दधताम् ॥ १२४ ॥

अत्र श्रीपरवासुदेवस्य श्रीवेंकटाचलादिदिव्यदेशस्थार्चावताराणां च श्लेषः। प्रथमपक्षे—सुमहत् महः तेजो यस्य स तथोक्तः। स्वयंभुवा वेधसा कृतः बहुधा बहुप्रकारः मानः पूजा यस्य सः। ऊर्जितौ अर्चा श्रीवेङ्कटाचलादिगतोऽर्चावतारः, विभवः रामकृष्णाद्यवतारश्च यस्य येन वा स तथोक्तः। सततं शोभना श्रीः लक्ष्मीः यस्मिंस्तत् सुश्रीकं मनो यस्य सः सुश्रीकमनाः। 'अस्या देव्या मनस्तस्मिंस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठि-

तम्' इत्युक्तरीत्याऽनवरतमपि लक्ष्मीलालसमानस इत्यर्थः। सर्वेषामात्मा अन्तः प्रविश्य नियन्ता परः परवासुदेवः नः अस्माकं श्रियं सर्वप्रकारसमृद्धिं संदधतां संधत्ताम्। 'दध धारणे' अस्माद्धौवादिकाल्लोट्प्रथमपुरुषैकवचनम्।

द्वितीयपक्षे तु—इमानि विशेषणानि बहुवचनान्तानि, विभव इति विशेष्यानुरोधात्। सुमहान् महः उत्सवः नित्योत्सवपक्षोत्सवादिः येषां ते। 'मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः। अदन्तोऽयं महशब्दः। स्वयं आत्मना अनितरप्रेरणमित्यर्थः। भुवि कृतानि आश्रितानि बहूनि धामानि वेंकटाचलादिस्थानानि यैस्ते तथोक्ताः। ऊर्जिताः ऊर्जस्वलाः अर्चाः पूजाः प्रतिकृतयो वा येषां ते तथोक्ताः। 'अर्चा पूजाप्रतिमयोः' इति मेदिनी। श्रिया लक्ष्म्याः कमनाः कामयितारः सुष्ठु श्रीकमनाः सुश्रीकमनाः। सुष्ठु लक्ष्म्याः अभिरूपा वा 'कमनः कामुके कामेऽभिरूपेऽशोकपादपे' इति मेदिनी। सर्वेषां चेतनाचेतनानां आत्मानः विभवः प्रभवः जगदीश्वरा इत्यर्थः। तत्तद्दिव्यदेशार्चाबहुत्वप्रयुक्तं बहुवचनम्। सततं परश्रियं श्रेष्ठां संपदं संदधताम्। दधातेर्जौहोत्यादिकाल्लोट्प्रथमबहुवचनम्। अत्र सुमहामहा इत्यत्र सुबन्ते संदधतामित्यत्र तिङन्ते च प्रथमैकवचनबहुवचनयोः श्लेषः। स्वयंभूकृतेत्यादौ तु पदश्लेष इति वेदितव्यम्। परश्रियमित्यत्र समस्ततायां शकारस्य 'अनचि च' इति वैकल्पिकं द्वित्वम्॥

यथावा—

सकृदपि वामित्रतया रघुनन्दन यस्त्वया पुर-

स्क्रियतेऽलम् । भोक्ताचतुरश्राणां रसाभृतां प्राणदं सविषयं वाऽयम् ॥ १२६ ॥

हे रघुनन्दन! यः पुमान् मित्रतया सुहृत्त्वेन पक्षे अमित्रतया असुहृत्त्वेन त्वया सकृदपि वा पुरस्क्रियते पूज्यते आद्रियत इति यावत् । पक्षे अभियुज्यत इत्यर्थः । 'पुरस्कृतः पूजितेऽरात्यभियुक्तेऽग्रतः कृते' इत्यमरः । सः अयं उक्तविध एष पुमान् । चतस्रः अश्रय कोटयो येषां तेषां तथोक्तानां 'स्त्रियः पाळ्यश्रिकोटयः' इत्यमरः । 'सुप्रातसुश्व' इत्यादिना बहुव्रीहावजन्ततया निपातितोऽयम् । चतुर्दिगन्तविद्यमानानामिति यावत् । रसाभृतां भूपालानां प्राणदं शक्तिप्रदं विषयं देशं 'देशविषयौ' इत्यमरः । वाशब्दो भिन्नक्रमः । अलं भोक्ता वा भोक्ष्यत्येव पालयिष्यत्येवेत्यर्थः । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' अस्माल्लुट् । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थे च तदव्ययम्' इति विश्वः ॥

अन्यत्र—सः अमित्रतया अभियुक्तः पुमान् भोक्ता अचतुरः श्राणां इति छेदः । अलं अचतुरः अकुशलः । नभृता अभृता रसेन अभृता रसाभृता तां नीरसामित्यर्थः । श्राणां यवागूं 'यवागूरुष्णिका श्राणा' इत्यमरः । भोक्ता अभ्यवहर्ता पातेत्यर्थः । भुजेस्तृन् । अत एव 'न लोक' इति निषेधात् श्राणेत्यत्र न कर्मणि षष्ठी किंतु द्वितीयैव । प्राणं द्यतीति प्राणदं असूच्छेदकम् ।

देहान्तरानिले प्राणो जीवात्मपरमात्मनोः ।
आयुरिन्द्रियसत्त्वेषु प्रणवे काव्यमर्मणि ॥

इति रत्नमाला । अयं अविद्यमानयकारं विषयं विषमित्यर्थः ।

शब्दार्थयोस्तादात्म्यं न प्रस्मर्तव्यम्। तद्वा भोक्ता । त्वदभियुक्तो दुर्गतो यत्र क्वा कदन्नाभ्यवहारेण जीवति। तथा जीवितुमानिच्छुर्गरळं वा पिबति। न तु त्वदग्रतः पराक्रमत इति भावः। अत्र चतुरश्राणां रसाभूतामित्यत्र षष्ठीबहुवचनद्वितीयैकवचनयोश्श्लेषः पदश्लेषसंकीर्णः । भोक्तेत्यत्र सुबन्तकृत्तिङोः श्लेषः। अयमित्यत्र पदश्लेषसंकीर्णः प्रथमाद्वितीययोर्विभक्त्योश्श्लेषश्च ॥

यथावा—

**सर्वविदो भजतान्नश्श्वेतस्सुगुणादिमान्यदुवरीयान्। अप्रतिहतप्रभावान्महास्वभावान् दुरन्तदुरितनुदः ॥ १२७ ॥**

अत्र भगवतो भागवतानां च श्लेषः । तथाहि—वेत्तीति विदः, इगुपधलक्षणः कः। सर्वस्य विदः सर्वविदः सर्ववित् 'यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्' इति श्रुतेः। सुगुणादिमान् सुगुणाः सत्यकामत्वादयः कल्याणगुणाः आदयो येषां ते सुगुणादयः आदिशब्देन स्वरूपरूपादीनां ग्रहणम्। तेऽस्य सन्तीति तथोक्तः। नित्ययोगे अतिशायने वा मतुप्। अप्रतिहता च सा प्रभा च तद्वान्। 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्याद्युक्तसूर्याद्यभिभावुकादिव्यप्रभाशाली। तत्र हेतुः महती च सा स्वभा च तद्वान् महास्वभावान् लोकोत्तरस्वयंप्रकाशस्वरूपः न ह्यस्य प्रकाशस्सूर्यादेरिवान्याधीनः। यद्वा भाः प्रभावः 'भाः प्रभावे च दीप्तौ च' इति मेदिनी। महाप्रभावशालीत्यर्थः। नुदतीति नुदः, इगुपधलक्षणः कः । दुरन्तं यद्दुरितं तस्य नुदः पूर्वोत्तराघनिर्धूनन इत्यर्थः। अतिशयेन उरुः वरीयान् उरुशब्दादीयसुनि

'प्रियस्थिर' इत्यादिना वरादेशः । यदुषु वरीयान् यदुवरीयान् यदुकुलोत्तंसो भगवान् नः चेतः भजतात् हृदि सं निधत्तामित्यर्थः ॥

पक्षे—भज तान् नः इति छेदः । नः अस्माकं चेतः! हे मनः! सर्वं विदन्तीति सर्वविदः तान् विदेः क्विप्। सर्वज्ञानित्यर्थः। शोभनाः गुणाः 'अष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गळमकार्पण्यमस्पृहा' इत्यादिगौतमाद्युक्ता महागुणाः येषां ते सुगुणाः तेषु आदिमाः अग्रिमाः तांस्तथोक्तान् आदिशब्दाद्भवार्थे 'अग्रादिपश्चाड्डिमच्' इति डिमच्। अप्रतिहतप्रभावान् अकुण्ठितमहिमशालिनः। महान् स्वभावो येषां ते तथोक्तान् उत्तमशीलान् दुरन्तं दुरितं नुदन्तीति तथोक्तान्, नुदेः क्विप्। तान् प्रसिद्धान् यदुवरस्य इमे यदुवरीयाः तान्। गहादेराकृतिगणत्वाच्छः। भागवतानित्यर्थः। भज सेवस्व। भजतेः परस्मैपदिनः लोण्मध्यमैकवचनम्। पूर्वत्र लोट्प्रथमैकवचनम्। अत्र सुगुणादिमानित्यादौ पदश्लेषसङ्कीर्णे एकवचनबहुवचनयोः श्लेषः। एवं प्रथमाद्वितीययोर्विभक्त्योरपि। यदुवरीयानित्यादौ तु वचनविभक्तिश्लेषः पूर्ववदेव। इयांस्तु विशेषः—ईयसुन्छरूपतद्धितप्रत्ययान्तप्रकृत्योः तत्रापि उरुवरशब्दरूपपरमप्रकृत्योश्च श्लेष इति ॥

यथावा—

व्रजजनतानां न्यरुणस्त्वं वर्षीयानुपप्लवान्
शौरे। अपिच गरीयान् दोषान् काळिन्द्याः काळियोद्धृतेर्व्यधुनोः ॥ १२८ ॥

हे शौरे! वर्षीयान् ज्यायान् पुराणपुरुष इति भावः।

अतिशयेन वृद्ध इति विग्रहः । वृद्धशब्दादीयसुनि 'प्रियास्थिर' इत्यादिना वर्षादेशः । त्वं व्रजजनतानां नन्दव्रजजनसमूहानां वर्षीयान् अतिवृष्टिसंबन्धिनः गोवर्धनयागावसरक्रुद्धवृद्धश्रवः-कलितानिति भावः । उपप्लवान् उपद्रवान् न्यरुणः न्यगृह्णाः । अपिच गरीयान् अतिशयेन गुरुः गुरूणामपि गुरुः प्रथमाचार्य इत्यर्थः । 'त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्' इत्युक्तेः । 'गुरुर्गुरुतमः' इति नामसहस्रपाठाच्च । काळीयस्य तन्नाम्न आशीविषस्य उद्धृतेः उत्सारणात् काळिन्द्याः यमुनायाः गरीयान् गरः गरळं तत्संबन्धिनः । गहादित्वाच्छः । एवं वर्षीयानित्यत्रापि दोषान् व्यधुनोः निराकार्षीः । अत्र प्रथमैकवचनद्वितीयाबहुवचनयोः श्लेषः । अन्यत्सर्वं यदुवरीयानित्यत्रेव बोध्यम् ॥

यथावा—

**गाते तवाब्जतुलनां ग्रीवा नयने नखानि च मुरारे । व्यतिपाते जगदखिलं कृपा तव दृशौ भुजाश्च चत्वारः ॥ १२१ ॥**

हे मुकुन्द ! तव ग्रीवा अब्जतुलनां शङ्खतौल्यं गाते गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । नयने आब्जतुलनां पद्मसाम्यं गाते गच्छतः । नखानि च अब्जतुलनां चन्द्रसाधर्म्यं गाते गच्छन्ति । 'गाङ् गतौ' अस्माज्जौवादिकात् क्रमेण लट्प्रथमपुरुषैकवचनद्विवचनबहुवचनानि । बहुवचने 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्य अत् । तव कृपा अखिलं जगत् व्यतिपाते कर्मव्यतिहारेण रक्षति । कर्मव्यतिहारो नाम क्रियाविनिमयः । दृग्भुजयोग्यं पालनं करोतीत्यर्थः । तव दृशौ अखिलं जगत् व्यतिपाते कृपाभुजयोग्यं पालनं कुर्वाते । चत्वारो भुजाश्च व्यतिपाते कृपादृ-

ग्योग्यं पालनं कुर्वन्तीत्यर्थः । व्यतिपूर्वकात्पातेः 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यात्मनेपदे क्रमेण लट्प्रथमपुरुषैकद्विबहुवचनानि । अत्र गाते व्यतिपाते इति च वचनत्रयेऽपि तुल्यरूपमिति वचनश्लेषः । अयं शुद्धः न तु पूर्ववत्सङ्कीर्णः इति विशेषः ॥

'अमीषामष्टानां श्लेषाणां मध्ये यस्य यस्मिन्नन्तर्भावः प्रतिभाति तत्र तद्भिन्नत्वं विवक्षणीयम्' इत्यलङ्कारकौस्तुभकारः । एते श्लेषभेदाः प्रागुपदर्शितेषु प्रकृताप्रकृतादिश्लेषोदाहरणेष्वपि यथायथं संभवन्तीति ध्येयम् । एवं अष्टविधस्सभङ्गश्लेषो निरूपितः । अभङ्गश्लेषो यथा, मदीय एव नृसिंहविलासे—

**अमृतश्रियं प्रयच्छन् सतां प्रवर्धितहिरण्यगर्भो यः । मुग्धेन्दुबिम्बधामा मुखे हरिस्स्तान्मुदे महान् स पुमान् ॥ १३० ॥**

अत्र श्रीहयग्रीवनृसिंहयोरुभयोरपि स्तव्यत्वेन प्रस्तुतयोरेव श्लेषः । यः सतां अमृतश्रियं त्रयीमित्यर्थः । 'ऋचस्सामानि यजूंषि । सा हि श्रीरमृता सताम्' इति श्रुतेः । प्रयच्छन् प्रदानेन हेतुना 'लक्षणहेत्वोः' इति शता । प्रवर्धितः समेधितः हिरण्यगर्भः ब्रह्मा येन सः मधुकैटभापहृतवेदाहरणतत्प्रदानोज्जीवितचतुर्मुख इत्यर्थः । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेः । अत्र मोक्षधर्मगतहयशिरउपाख्यानमनुसन्धेयम् । पक्षे—सतां ब्रह्मविदां अमृतश्रियं मुक्तिसंपदं प्रयच्छन् प्रवर्धितः प्रकर्षेण छिन्नः हिरण्यस्य हिरण्यकशिपोः गर्भः कुक्षिः येन स तथा । मुग्धेन्दुबिम्बं धाम स्थानं यस्य, पक्षे मुग्धेन्दुबिम्बस्य धामेव धाम तेजः यस्य स तथोक्तः । नृसिंहदिव्यविग्रहस्य 'इन्दुधवळं लक्ष्मी-

नृसिंहं भजे' इति पाण्डुरत्वोक्तेः । मुखे हीरः तुरङ्गः सिंहश्च स महान् मुदे अस्तु। अत्रान्योन्यविलक्षणं पदभङ्गमनपेक्ष्य समानानुपूर्वीकशब्दप्रतिसन्धानबोध्यानेकार्थक्रोडीकरणादभङ्गश्लेषः॥

अत्र केचित्—अनयोस्सभङ्गाभङ्गश्लेषयोः 'सर्वदोमाधवः' इत्यादौ सर्वदः सर्वदेति पदद्वयस्य जतुकाष्ठन्यायेन संबन्धात्सभङ्गश्लेषश्शब्दालङ्कारः, शब्दवृत्तित्वात् । अभङ्गश्लेषस्तु अब्जकमलादिशब्देषु पदभेदाभावेन पदद्वयसंबन्धाभावाच्छब्दवृत्तितानुपपत्तेरेकस्मिन् शब्दे अर्थद्वयस्य वाच्यतया संबद्धत्वादयमेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थालङ्कार इत्याहुः॥

अन्ये तु—सभङ्गाभङ्गश्लेषौ द्वावपि शब्दालङ्कारावेव, शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । न तु सभङ्गश्लेषस्य शब्दाश्रितत्वाच्छब्दश्लेषत्वं अभङ्गश्लेषस्यार्थाश्रितत्वादर्थश्लेषत्वं युक्तं, कष्टत्वादिदोषगाढत्वादिगुणानुप्रासाद्यलङ्कारवदत्राप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवस्थोपपत्तावतिरिक्तनियामकान्तरकल्पने गौरवात्। न चैवमभङ्गश्लेषस्यापि शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायितया शब्दश्लेषत्वे अर्थश्लेषो निर्विषयस्स्यादिति वाच्यं,

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी रीतिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

इत्यादौ यत्र स्वल्पेनोन्नतिमायातीत्यादिना शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वभङ्गः। तत्रैवार्थश्लेषपदवीसाम्राज्यादित्यवादिषुः॥

कुवलयानन्दकृतस्तु—उभयमप्यर्थालङ्कार इति। अयं हि तेषामाशयः—सभङ्गाभङ्गभेदेन द्विविधोऽप्ययं श्लेषोऽर्थालङ्कार एव, अनेकार्थप्रतिपादनात्मनस्तस्यार्थालङ्कारत्वस्यैवोचितत्वात् । आश्रयाश्रयिभावस्यैव लौकिकालङ्कारवत्तत्तदलङ्कारप्रयोजकत्वम्। लौ-

क्रिकालङ्कारो हि कङ्कणमञ्जीरादिः पाणिपादादिनिष्ठः पाणिपादाद्यलङ्कारतयैव व्यवह्रियते । इयमेव रीतिः काव्यगतालङ्कारेष्वपि। न च शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादस्य शब्दालङ्कारत्वमिति वाच्यम्। तथा सति सर्वेषामप्यलङ्काराणां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन शब्दालङ्कारताप्रसङ्गात् । न चाभङ्गश्लेषस्य एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन एकपदाश्रितार्थद्वयनिष्ठतयाऽर्थालङ्कारत्वं, सभङ्गस्य तु जतुकाष्ठन्यायेन शब्दद्वयसंश्लेषरूपत्वाच्छब्दालङ्कारत्वमिति सर्वस्वकाराद्युक्तं युक्तं, 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति मते 'अन्याय्यं चानेकार्थत्वम्' इत्युपपत्तिकबळिते अभङ्गश्लेषेऽपि सभङ्ग इव शब्दभेदस्य दुर्निवारतया शब्दयोरेव श्लेषस्य सुवचत्वात् । अत उभयं शब्दालङ्कार इति वा सभङ्गस्य शब्दालङ्कारत्वमभङ्गस्यार्थालङ्कारत्वमिति वा मतद्वयमप्ययुक्तम् । तस्मात् द्वयोरप्यर्थालङ्कारत्वमेव युक्तमिति । अन्ये तु—चमत्कारे अर्थमुखप्रेक्षित्वादुभयोरप्यर्थालंकारत्वं, अनुप्रासयमकादेस्तु न चमत्कारेऽर्थमुखप्रेक्षित्वमिति न तेषामर्थालंकारत्वं अपितु शब्दवैचित्र्याच्छब्दालंकारत्वमेवेत्यप्याहुः ॥

काव्यप्रकाशानुयायी जगन्नाथस्तु—"श्रुत्यैकयाऽनेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः । तच्च द्वेधा –अनेकधर्मपुरस्कारेण एकधर्मपुरस्कारेण च। आद्यं द्वेधा—अनेकशब्दप्रतिभानद्वारा एकशब्दप्रतिभानद्वारा चेति त्रिविधश्श्लेषः । तत्राद्यस्सभङ्गः द्वितीयोऽभङ्ग इति वदन्ति। तृतीयस्तु शुद्धः । एवं त्रिविधोऽप्ययं प्रकृतमात्राप्रकृतमात्रप्रकृताप्रकृतोभयाश्रितत्वेन पुनस्त्रिविधः । तत्राद्ये भेदे द्वितीये च विशेष्यस्य श्लिष्टतायां कामचारः । तृतीयभेदे तु विशेषणवाचकस्यैव श्लिष्टत्वं न विशेष्यवाचकस्य तथात्वे शब्दशक्तिमूलध्वनेरुच्छेद एव स्यात्। विशेषणमात्रश्लि-

ष्टतायामपि प्रकृताप्रकृतधर्मिणोरुपादान एव श्लेषः । प्रकृतधर्मिमात्रस्योपादाने तु समासोक्तेरेव विषयः । तदित्थं प्रकृतमात्रविशेष्यकानेकार्थविशेषणं यत्र स एकः । एवमप्रकृतेत्यादि द्वितीयः । पृथगुपात्तप्रकृताप्रकृतोभयविशेष्यकनानार्थविशेषणं तृतीयः । एतदन्यतमत्वं च लक्षणं पर्यवसितम् " इत्यभाणीत् । तन्मतानुसारेण दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

तत्राद्यः प्रकृतमात्रविषयस्सभङ्गः श्लेषो यथा—

**जगदवति यस्य पाणिस्सुभव्यभावेत्रसत्तया दीव्यन् । शेषाहार्यादरणो विष्वक्सेनस्स शमयताद्विघ्नान् ॥ १३१ ॥**

यस्य भगवतः पाणिः त्रसतो भावः त्रसत्ता न त्रसत्ता अत्रसत्ता तया अनुद्विग्नतया सुभव्यस्य जगत्क्षेमस्य भावे प्राप्तौ विषये 'भू प्राप्तावात्मनेपदी' इत्याधृषीयाद्भवतेर्घञ् । दीव्यन् जगत् अवति । पक्षे यस्य भगवत्सेनाधिनाथस्य विष्वक्सेनस्य सुभव्या अतिरमणीया भाः दीप्तिर्यस्य सः पाणिः वेत्रस्य सत्तया स्थित्या प्राशस्त्येन वा दीव्यन् जगदवति 'यद्वेत्रशिखरस्पन्दे विश्वमेतद्व्यवस्थितम्' इत्युक्तेः । शेषाहार्ये शेषाद्रौ आदरणं यस्य स तथोक्तः । पक्षे शेषे अनन्ते अहार्यं इतरैरनपनोद्यं आदरणं यस्य स तथा । स्वस्येव तस्यापि नित्यसिद्धतया तस्मिन्नविच्छिन्नप्रीतिरिति भावः । सः विष्वक्सेनो भगवान् 'विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः' इत्यमरः । पक्षे भगवत्सेनानीः विघ्नान् विद्यानिष्पत्तिविरोधिनोऽन्तरायान् ऐहिकश्रेयोन्तरायांश्च शमयतात् । 'शुक्लाम्बरधरं, यस्य द्विरद' इति पद्याभ्यामुभयोरपि विघ्नोपशमनार्थमुपास्यत्वाभिधानात् । अत्र भगवद्विष्व-

क्सेनयोरुभयोरपि प्रकृतत्वात् प्रकृतमात्राश्रितोऽयमेकया श्रुत्या पदद्वयप्रतिभानद्वारा भिन्नधर्मपुरस्कारेणानेकार्थप्रतिपादनात्सभङ्गः॥

विशेष्ययोरश्लिष्टत्वेऽप्ययं संभवति, यथा—

बहुधामरविद्रावणपरासुहृद्बाणभुजविततिलविता । भृगुनेता रघुनेता यदुनेता वा ममाविता भविता ॥ १३२ ॥

द्रावयतीति द्रावणः रवेः द्रावणः रविद्रावणः। बहुना धाम्ना तेजसा रविद्रावणः वह्निनेव स्वर्णपिण्डं स्वतेजसा विलापयतीत्यर्थः। महाप्रतापशालीति भावः। यथोच्यते मात्स्यादिषु पुराणेषु —

योऽसौ बाहुसहस्रेण ज्याघातकठिनत्वचा ।
भाति रश्मिसहस्रेण शारदेनेव भास्करः ॥

इति,

सहस्रकरमत्येति सोऽयं करसहस्रवान् ।
तेजसा महता श्रीमान् कार्तवीर्योऽर्जुनो नृपः ॥

इति च। एवंविधो यः परः विरोधी 'परोऽरिपरमात्मनोः' इति विश्वः। अर्थात्कार्तवीर्य इत्यर्थः । तस्य असुहृतः रिपुप्राणापहारिणः बाणाः येषु ते असुहृद्बाणाः। इदं च विशेषणं 'उत्ससर्जैकवेगेन पञ्चबाणशतानि यः' इत्येतदभिसंधायोक्तम् । असुहृदां रिपूणां बाणप्राया इति वा। ये भुजाः सहस्रसंख्याकाः तेषां विततेः समूहस्य लविता छेत्ता । भृगुनेता भार्गवो रामः। पक्षे बहुधा अमरान्विध्यतीत्यमरावित्, विध्यतेः क्विप् । यो रावणः तस्य परेषां रिपूणां असुहृतः प्राणापहारिणो बाणाः येषु ते तथोक्ताः भुजाः विंशतिसंख्याकाः तेषां विततेः

लविता रघुनेता भगवान् राघवः। अन्यत्र बहुधा अमराणां देवानां विद्रावणे दूरोत्सारणे परः आसक्तः असुहृत् द्वेषी यो बाणः बालिसुतः तस्य भुजानां विततेः लविता यदुनेता भगवान्वासुदेवो वा मम अविता रक्षिता भविता इति। अत्र त्रयाणां भगवदवताराणामपि प्रस्तुतत्वात्प्रकृतश्लेषस्सभङ्गः अश्लिष्टविशेष्यकः॥

अयमेवाभङ्गात्मको द्वितीयो यथा—

**दीव्यतु पुराणरत्नं दिव्यं मन्वन्तरप्रथितविभवम्। वंश्यानुचरितगीतं सर्गप्रतिसर्गरचननिष्णातम्॥ १३३॥**

मन्वन्तरेषु प्रथिताः विभवाः विभवावताराः 'मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः' इति श्रीभागवताद्युक्ताः यस्य तत्। अन्यत्र मन्वन्तरानुवर्णनेन ख्यातवैभवम्। वंशो वेणौ भवं वंश्यं दिगादित्वाद्यत्। वंशनाळमित्यर्थः। तेन आचरितं गीतं गानं येन तत्तथोक्तं वेणुगानरसिकमित्यर्थः। पक्षे वंश्यानां सूर्यादिवंशजानां राजादीनां अनुचरितं चरित्रं गीतं उदीरितं यस्मिंस्तत् आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्निष्ठायाः परनिपातः। सर्गः—

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिविधाहमः।
भूतसूक्ष्मेन्द्रियार्थानां संभवस्सर्ग उच्यते॥

इति श्रीभागवतोक्तलक्षणा समष्टिसृष्टिः। प्रतिसर्गः—

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम्॥

इत्युक्तलक्षणो महदादिसमाहाररूपचराचरादिव्यष्टिसृष्टिर्विसर्गा-परपर्याया। तयोः रचने करणे निष्णातं कुशलम्। पक्षे स-र्गप्रतिसर्गवर्णने कुशलं दिव्यं अप्राकृतं रमणीयं च पुराणं सनातनं रत्नं तत्त्वेनाध्यवसितं परं ब्रह्म। इतरत्र—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेति लक्षणानां तु पञ्चकम्॥

इत्युक्तपञ्चलक्षणं पुराणश्रेष्ठं श्रीमद्वैष्णवं पुराणं तस्यैव 'निरमिमीत पुराणरत्नम्' इति पुराणरत्नत्वोक्तेः। दीव्यतु दी-प्यताम्। अत्र मन्वन्तरेत्यादावेकशब्दप्रतिभानद्वाराऽनेकधर्मपु-रस्कारेणानेकार्थप्रतिपादनादभङ्गश्लेषः श्लिष्टविशेष्यकः॥

विशेष्ययोरश्लिष्टत्वे अभङ्गो यथा—

**कमलाञ्चितकरयुगळं कलशपयोराशिसंभव-स्थानम्। तनुतां श्रियममितां नस्तत्परमं ब्रह्म तत्कळत्रं वा॥ १३४॥**

कमलैः अञ्चितं पूजितं ततोऽपि श्लाघ्यं, कमलाभ्यां अञ्चितं युक्तं च करयुगळं यस्य तत्तथा। कलशपयोराशि-संभवं तत्र विद्यमानं स्थानं निवासो यस्य कलशपयोराशिः संभवस्थानं जन्मगृहं यस्य च तत्तथोक्तम्। अत्र विशेष्ययोर-श्लिष्टता॥

तृतीयश्शुद्धः प्रकृतमात्रविषयो यथा—

**भारतविख्यातयशास्स्मेरतरप्रावृषेण्यवारिद-भाः। प्रेक्षामनघां वितरतु साक्षान्नारायणः पुरा-णमुनिः॥ १३५॥**

भगवत्कृष्णद्वैपायनोभयविषयकोऽयमेकधर्मपुरस्कारेणानेकार्थप्रतिपादनाच्छुद्धः। अयमेवार्थश्लेष इति वदन्ति। महाभारताख्यप्रबन्धाविख्यातयशस्त्वं प्रावृषेण्यजलदनीलत्वं साक्षान्नारायणत्वमित्येतान्युभयत्राप्येकरूपाण्येव धर्माणि। 'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्' इति प्रमाणार्थोऽत्रानुसंहितः। अयं श्लिष्टविशेष्यकश्शुद्धः॥

अयमेव अश्लिष्टविशेष्यको विशेषणमात्रश्लिष्टो यथा—

कलशोदधिराजोदरकलितोदयमर्यमातिशायिरुचि। हरिहृदयहारि रत्नं तच्च वधूरत्नमवतु मां प्रत्नम्॥ १३६॥

अर्यमातिशायिरुचीति लक्ष्मीविशेषणं तु 'आदित्यवर्णे तपसोऽधिजातः' इति श्रुतेः॥

एवमेते त्रयोऽपि भेदाः प्रकृतमात्रविषयाः प्रदर्शिताः॥

अप्रकृतविषया यथा—

निरधावि चित्रभानुर्निरङ्कुशोष्माहविस्फुरद्धेतिः। जगदुल्लासिश्रीकृद्ध्वान्तध्वंसी तवौजसा भगवन्॥ १३७॥

हे भगवन्! निरङ्कुशं यथा स्यात्तथा ऊष्मणः अहः ऊष्माहं ग्रीष्मर्तुदिनं 'राजाहः' इत्यादिना टच्। तस्मिन् विस्फुरन्त्यः प्रकाशमानाः हेतयः किरणाः येन यस्य वा स तथोक्तः। 'स्फुरति स्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' इति षत्वस्य विकल्पेन विधानात् इह वीत्युपसर्गात्परस्य स्फुरतेस्सस्य न षत्वम्। 'ग्रीष्मोष्मबाष्पा ऊष्माणः, हेतिर्ज्वालायुधांशुषु' इति च रत्न-

माला। अन्यत्र निरङ्कुशोष्मेति भिन्नं पदं, अप्रतिहतौष्ण्य इत्यर्थः। हविषा आज्येन 'घृतमाज्यं हविः' इत्यमरः। स्फुरन्त्यः हेतयो ज्वालाः यस्य सः। जगत् उल्लासयति प्रकाशयति प्रहर्षयति चेति जगदुल्लासिनी या श्रीः द्युतिः संपच्च तां करोतीति तथोक्तः। भानोर्जगत्प्रकाशकत्वं प्रत्यक्षसिद्धम्। वह्नेस्संपत्प्रदत्वं च 'चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह, श्रियमिच्छेद्धुताशनात्' इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। ध्वान्तध्वंसी इदमुभयत्र तुल्यार्थकम्। चित्रभानुः भास्करः वह्निश्च 'सूर्यवह्नी चित्रभानू' इत्यमरः। तव ओजसा निरधावि निर्धूतः। निःपूर्वकाद्धावतेः कर्माणि लुङि चिण्। अत्र पूर्वार्धे सभङ्गः तृतीयपादे अभङ्गः ध्वान्तध्वंसीत्यत्र शुद्धश्च श्लिष्टविशेष्यकोऽप्रकृतमात्रविषयकः श्लेषः॥

यथावा—

संपूर्णभास्वदम्भोळ्युज्ज्वलमूर्तिर्मरुन्महास्फूर्तिः। जगदाप्यायनवृष्टिस्तव श्रिया पर्यभावि पर्जन्यः॥ १३८॥

हे भगवन्! संपूर्णा अनूना भाः छविः यस्य स तथोक्तः स्वः स्वकीयः यो दम्भोळिः वज्रायुधं तेन उज्ज्वलमूर्तिः। पक्षे संपूर्णं पूरितं भास्वत् भासुरं यत् अम्भः पयः तेन अळिः भ्रमर इव उज्ज्वलमूर्तिः तद्वच्छ्यामल इत्यर्थः। यद्वा संपूर्णं यथातथा भास्वत् अम्भो यस्य स तथा। अत एव अळ्युज्ज्वलभाः उक्तोऽर्थः। विशेषणोभयपदकर्मधारयः। मरुत्सु देवेषु महास्फूर्तिः अतिप्रकाशः, पक्षे मरुता वायुना महास्फूर्तिः अतिस्फुरणः अतिवेलचलन इत्यर्थः। 'स्फुर संचलने'

अस्माद्भावे क्तिन्। जगदाप्यायनवृष्टिः इदं पक्षद्वयेऽपि तुल्यार्थकम्। 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, यदिन्द्रो वर्षते' इति द्वयोरपि वर्षप्रदत्वोक्तेः। पर्जन्य इन्द्रः ध्वनदम्बुदश्च 'पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ' इत्यमरः। इदमपि तस्य पूर्वविशेषणवत् प्रावृषेण्यत्वसूचनाय। तव श्रिया संपदा त्विषा च। पर्यभावि परिभूतः। अत्र विशेषणत्रये क्रमेण सभङ्गोऽभङ्गश्शुद्धश्च श्लेषः केवलाप्रकृतविषयः श्लिष्टविशेष्यकः॥

अप्रकृतयोर्विशेष्ययोरश्लिष्टत्वे यथा—

**ह्रादिन्यन्तर्विलसत्सारङ्गोल्लासदायिरसदमलम्।**
**परिभूतं हरिभासा कुवलयमम्भोदवलयमपि नीलम्॥ १३९॥**

ह्रादिन्याः नद्याः, पक्षे ह्रादिन्या तडिता। अन्तः विलसन् 'तटिनी ह्रादिनी धुनी, ह्रादिन्यौ वज्रतडितौ' इति चामरः। अलं सारङ्गाणां भृङ्गाणां उल्लासदायी यो रसः मकरन्दः तं ददातीति सारङ्गोल्लासदायिरसदम्। पक्षे सारङ्गाणां चातकानां 'सारङ्गश्चातके भृङ्गे' इति शेषः। उल्लासदायि इदं भिन्नं पदम्। रसत् अमलमिति छेदः। रसत् गर्जत् अमलं अकलुषं अतिस्निग्धमित्यर्थः। नीलं कुवलयं इन्दीवरं अम्भोदवलयं च हरिभासा परिभूतम्। अत्र प्रथमे पादे अभङ्गः द्वितीये सभङ्गः नीलमित्यत्र शुद्धश्च श्लेषः अश्लिष्टविशेष्यकः॥

प्रकृताप्रकृतोभयविषयो यथा—

**हृद्यमहापद्मश्रीर्नीलरुचिः कुन्दसहजवरशङ्खः।**
**धनद इव कनति शौरिर्वियद्धुनीविमलवृषगिरीशाप्तः॥ १४०॥**

हृद्या वक्षस्स्था महापद्मा महती पूज्ये पद्मे करधृते यस्यास्सा तथोक्ता श्रीः यस्य स तथोक्तः। पक्षे हृद्या हृदयप्रिया महापद्मश्रीः महापद्माख्यनिधिसंपत् यस्य स तथा। नीला रुचिर्यस्य नीले नीलनाम्नि निधौ रुचिः अभिलाषो यस्येति च। कुन्दसहजः कुन्दकुसुमसदृशः तद्वदुज्वलः वरः श्रेष्ठः शङ्खः पाञ्चजन्यो यस्य स तथोक्तः, पक्षे कुन्दनिधेस्सहजौ तत्सहावस्थायिनौ वरशङ्खौ तन्नामानौ निधी यस्य स तथा। वियद्धुन्या आकाशगङ्गया विमलः विगमितजगत्कलुषो यो वृष इति गिरीशः अद्रिवरः तेन आप्तः प्राप्तः सः आप्तो येनेति वा। पक्षे वियद्धुनी गङ्गेव विमलो विशदः वृषः वृषभो यस्य स तथोक्तः। गिरीशो रुद्रः आप्तः प्रत्ययितो यस्य सः तस्याप्त इति वा 'आप्तप्रत्ययितौ समौ' इत्यमरः। त्र्यम्बकसख इत्यर्थः। भगवान् श्रीनिवासः धनदः कुबेर इव कनति दीप्यते। अत्र प्रकृताप्रकृतयोः भगवद्धनदयोरश्लिष्टत्वाद्विशेषणानां च श्लिष्टत्वाद्भवति तृतीयो भेदः। परं त्वयमुपमया संकीर्णः। यदि च भगवान् धनदो विलसतीति पठित्वा अप्रकृतांशमपि श्लेषग्रस्तं विधाय रूपकं क्रियते तदाऽपि प्रकृतविशेष्यस्य शौरेरश्लिष्टत्वादखण्डित एव श्लेषः। न चात्र समासोक्तिरिति भ्रमितव्यं, अप्रकृतधर्मिणोऽपि शब्दवाच्यत्वात्। यत्र त्वप्रकृतव्यवहार एव शब्दशक्तिं सहेतापि न त्वप्रकृतधर्मी तत्र समासोक्तेरिष्टेः॥

अत्र विचार्यते—अयं चालंकारः प्रायेणालंकारान्तरस्य विषयमभिनिविशते। तत्र किमस्य बाधकत्वं स्यात् आहोस्वित्संकीर्णत्वं उताहो बाध्यत्वमिति। अत्राहुरुद्भटादयः—"येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः" इति न्यायेनालंकारा-

न्तरविषय] एवायमारभ्यमाणोऽलंकारान्तरं बाधते न चास्य वि-
विक्तः कश्चिदस्ति विषयः। यत्र लब्धावकाशो नेतरं बाधेत।
तथाहि - अप्रकृतमात्रयोः प्रकृतमात्रयोर्वा तावत्तुल्ययोगितैव जा-
गर्ति प्रकृताप्रकृतयोस्तु दीपकम्। तदनुमोदिता उपमादयश्च।
न च—

देव त्वमेव पाताऽलमाशानां त्वं निबन्धनम्।
त्वं चामरमरुद्भूमिरतो लोकत्रयात्मकः॥

इत्यादिकाव्यप्रकाशोक्तौ विविक्तो विषय इति वाच्यं, रूपकस्यैवात्र स्फुटत्वात्। श्लेषोपस्थापितपातालाद्यर्थस्याभेदारोपमन्तरेण लोकत्रयात्मकत्वस्य दुरुपपादत्वात्। कथं तर्हि 'नदीनां संपदं बिभ्रद्राजाऽयं सागरो यथा' इत्यादावुपमायाः प्रत्ययः। कथं वा तत्रैव यथाशब्दस्थाने किमुशब्ददाने उत्प्रेक्षायाः। अपर इति कृते च रूपकस्येति चेन्न। अत्र हि उपमादीनां प्रतिभानमात्रं, न तु वास्तवी स्थितिः। न हि श्वैत्येन शुक्तौ रजतत्वं प्रतीयमानमपि वस्तुतोऽस्ति। तस्मादुपमादिप्रतिभोत्पत्तिहेतुश्श्लेष एव स्वविषये सर्वत्रालंकार इति॥

एतच्चापरे न क्षमन्ते, तथाहि—यत्तावदुच्यते येननाप्राप्ते इत्यादि तत्र 'सर्वदोमाधवः पायात्स योऽगङ्गामदीधरत्' इत्यादिपरकीयपद्ये,

गौरविताऽऽसच्छ्रीरिह नित्यं ह्याहितासुहल्लेखा।
येन स वृषाचलाहितधामा देवाधिनायको जयति॥

इति प्रागुदाहृतेऽस्मदीयपद्ये च श्लेषातिरिक्तः कोऽलंकारः? न तावत्तुल्ययोगिता, विशेष्ययोः पृथगनुपादानात् औपम्यस्य च गम्यत्वाभावात्। सा हि द्वयोरपि प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः पृथगुपादाने सादृश्यप्रत्ययनियमे च लब्धपदा भवति।

न हीह हरिहरयोर्भगवदिन्द्रयोर्वा सादृश्यं प्रतिपिपादयिषितम्। नापि चात्रैकश्रुत्याऽर्थद्वयोपादानमन्तरेणान्यत्किंचिच्चमत्कारमुन्मेषयति। येनालंकारान्तरमभ्युपगच्छेम। एकश्रुत्याऽर्थद्वयोपादानं तु श्लेष एव। एवंच सावकाशत्वाच्छ्लेषस्य नालंकारान्तरापवादकत्वं युक्तम्। अत एव उपमादीनां प्रतिभानमात्रमिति यदुक्तं तदपि न संगतं गुणक्रियादेरिव शब्दमात्रस्यापि समानधर्मत्वेनोपमायां तावद्बाधकाभावात्। अत एव 'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यत्र शब्दमात्रसाम्येऽप्युपमेति सांप्रदायिकाः। तदुक्तं रुद्रटेन—

स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किंतु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः॥

इति। एवमेवालंकारान्तरस्यापि श्लेषविषये पारमार्थिक्येव सत्ता न प्रातिभासिकी। प्रत्युत श्लेषस्यैव प्रतिभानमात्रमिति वक्तुं युक्तं पूर्णोपमाया विषयस्य सर्वस्यापि त्रिविधश्लेषेणाक्रान्तत्वान्निरवकाशतयाऽस्य सावकाशस्य स्वविषये बाधौचित्यात्। 'समरार्चितोऽप्यमरार्चितः' इत्यादौ श्लेषस्य तैमिरिकचन्द्रद्वयवत्प्रतिभानमात्रमेव। न त्वलंकारत्वं तज्जीवातोर्द्वितीयार्थस्याप्रतिष्ठानात्। विरोधस्य त्वाभासरूपस्याप्यलंकारत्वं न तु श्लेषस्येति स्फुटमेव। तस्मादेधमादौ श्लेषप्रतिभयोत्पाद्यो विरोध एवालंकारः। न तु विरोधप्रतिभयोत्पाद्यश्श्लेषः। एवं—

सद्वंशमौक्तिकमणे विद्वन्मानससारस।
नाल्पः कविरिवास्वच्छश्लोको देव महान् भवान्॥

इत्यत्र पूर्वार्धे श्लेषप्रतिभयोत्पाद्यं रूपकमेव, न तु रूपकप्रतिभयोत्पाद्यश्श्लेषः। उत्तरार्धे व्यतिरेकोऽप्येवम्। किंच प्रत्येकं तत्तद्रूपपुरस्कारेण कस्याप्यलंकारस्य नास्ति श्लेषविषये नाप्रा-

प्तत्वम्। अलंकारान्तरत्वपुरस्कारेणेति चेत् एवं तर्हि बाध्य-सामान्यचिन्तया स्वविषये प्राप्तस्य सर्वस्य बाधापत्तौ श्लिष्ट-परंपरितरूपकस्य श्लिष्टसमासोक्तेश्चोच्छेद एव स्यात्। तस्मात् श्लेषस्य नापवादकत्वं संकीर्णत्वं तु स्यादिति॥

अन्ये तु—अलंकारा हि प्राधान्येन चमत्काराधायकाः स्वां-स्वामाख्यां लभन्ते। त एव परोपकारकतया वर्तमानास्तां त्य-जन्ति। यथा—'रराज भूमौ वदनं मृगाक्ष्या नभोविभागे ह-रिणाङ्कबिम्बम्' इत्यत्र प्रकृताप्रकृतात्मनामेकधर्मसंबन्धो दीप-काख्यां लभते। त्यजति च 'राजते वदनं तन्व्या नभसीव निशाकरः' इत्यत्र। अत एवोच्यते 'प्राधान्येन व्यपदेशा भ-वन्ति' इति। एवंचालंकारान्तरोपस्कारकतया स्थितश्श्लेषः क-थंकारं स्वगृहस्थ इव श्लेषालंकारव्यपदेशं वोढुमीष्टामिति बा-ध्यप्राय एवेत्यप्याहुः॥

अयं चोपमेव स्वतन्त्रोऽपि तत्रतत्र सर्वालंकारानुग्राहक-तया स्थितस्सरस्वत्या नवंनवं सौभाग्यमावहन्नानाविधेषु ल-क्ष्येषु सहृदयैर्विभावनीयः॥

इदं चावधेयम्—यत्र प्रकृताप्रकृतयोर्विशेष्ययोरपि श्लिष्ट-पदोपात्तत्वं स तु ध्वनेर्विषय इति प्राञ्चः। तथाहि—प्रकृताप्र-कृतश्लेषोदाहरणे 'असावुदयमारूढः' इत्यादौ न श्लेषोऽलंकारः, अर्थद्वयस्याभिधाव्यापारेण तुल्यवृत्तिकत्व एव तस्योन्मेषात्। अत एव प्रकृतश्लेषे अप्रकृतश्लेषे च प्रकरणादीनामभिधानिया-मकानामभावादर्थद्वयेऽपि शब्दस्य तुल्यवृत्तित्वात् श्लेषालंकारः। इह तु प्रकृतार्थे प्रकरणादिना नियन्त्रितायास्तस्या अप्राकर-णिकेऽर्थे कुण्ठितप्रसरतया शब्दो व्यञ्जनया वृत्त्या तमर्थमवगम-यतीति शब्दशक्तिमूलानुरणनतुल्यव्यङ्ग्यध्वनिः॥

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगस्सततं करोऽभूत् ॥

अत्र नृपे कस्मिंश्चिद्वर्ण्यमाने भद्रात्मन इत्यादिविशेषणैर्मङ्गळात्मकस्य विशालकुलोद्भवस्यानेकशरसंग्रहशालिनः प्रत्यर्थिनिवारकस्य राज्ञः पाणिरभूदिति प्रकृतवाक्यार्थे प्रकरणसनाथेनाभिधाव्यापारेण शब्दतः प्रतीते पश्चाद्भद्रादिपदसामर्थ्यमाहिम्ना भद्रजातीयस्य विशालपृष्ठास्थिसमुन्नतेर्भ्रमरपरीतस्योत्कृष्टगजस्य कर इत्यप्रकृतगजाद्यर्थस्य प्रतीतिस्तावदनुभवसिद्धा । सा च नाभिधाव्यापारेण, प्रकरणादिना तस्य नियन्त्रणात् । अतो व्यञ्जकव्यापारेण तत्प्रतीतिरित्यप्राकरणिकार्थस्य व्यङ्ग्यतया शब्दशक्तिमूलानुरणनोपमाव्यङ्ग्यध्वनिरिति मम्मटोपाध्यायादयः ॥

दीक्षितास्तु—प्रकरणादिना प्रकृतार्थाभिधानपर्यवसाने अप्रकृताभिधाने वाक्यस्यासंबद्धार्थकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति तेन प्रकृतार्थस्योपमा व्यज्यते इति शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्या सेति तेषामाशय इत्यभिप्रयन्तः “यदत्र प्रकृताप्रकृतश्लेषोदाहरणे शब्दशक्तिमूलध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चः तत्प्रकृताप्रकृताभिधानमूलकस्योपमादेरलंकारस्य व्यङ्ग्यत्वाभिप्राया, न त्वप्रकृतार्थस्यैव व्यङ्ग्यत्वाभिप्राया, अप्रकृतार्थस्यापि शब्दशक्त्या प्रतिपाद्यस्याभिधेयत्वावश्यंभावेन व्यक्त्यनपेक्षणात् । यद्यपि प्रकृतार्थे प्रकरणबलाज्झडिति बुद्धिस्थे सत्येव पश्चान्नृपतितद्धाद्यधनादिवाचिनां राजकरादिपदानामन्योन्यसन्निधानबलात्तत्तद्विषयशक्त्यन्तरोन्मेषपूर्वकमप्रकृतार्थस्स्फुरेत् । नैतावता तस्य व्यङ्ग्यत्वम् । शक्त्या प्रतिपाद्यमाने सर्वथैव व्यक्त्यनपेक्षणात् पर्यवसिते प्र-

कृतार्थाभिधाने पश्चात् स्फुरतीति चेत् कामं गूढश्लेषो भवतु । अस्ति चान्यत्रापि गूढश्लेषः" इत्युक्त्वा 'अयमतिजरठाः' इत्यादिकं गूढश्लेषतयोदाहार्षुः ॥

अयं हि तेषामाशयः—प्रकरणेन प्रकृतार्थतात्पर्यग्रहेण तद्गोचरशाब्दबोधे जनिते पश्चादप्रकृतार्थस्य बोधोदयात्कुतो न व्यङ्ग्यत्वमिति न शङ्कनीयम् । पश्चात्तत्तदर्थगोचरशक्त्यन्तरोन्मीलनेनाप्रकृतार्थस्य स्फुरणेऽपि न व्यङ्ग्यत्वम् । पश्चात्प्रतीत्या हि गूढश्लेष इति भण्यत इति ॥

परे तु—"प्रकरणादेरप्रकृतगोचराभिधासामर्थ्यप्रतिबन्धकत्वे द्वितीयस्मिन्नर्थे यत्र नाभिधा संक्रामति तत्रापि यदि संक्रामकशब्दसमभिव्याहारस्स्यात् तदा प्रकरणादेस्तेन कुण्ठनशक्तौ प्रतिहतायां पूर्वं बाधिताऽप्यभिधाशक्तिः प्रतिप्रसूयत इति तथा अप्रकृतार्थस्फूर्तिरिति नासौ ध्वनेर्विषयः । यथा—

**इह पद्मिनी सुहसिता कामयते स्वाप्रियं रमावासम् । इति निशमयन्नुपश्रुतिमिच्छुः पद्मावतीं हरिर्मुमुदे ॥ १४१ ॥**

इदं हि प्रत्यूषे प्रफुल्लां कमलिनीं विलोक्य केनचित्कंचित्प्रति कथितं पद्मिन्याख्यायामाकाशराजपुत्र्यामनुरक्तस्य तत्समागमः कथं स्यादिति चिन्तयतो भगवतश्श्रीनिवासस्योपश्रुतिरूपं सदानन्दावहमासीदित्येतदर्थप्रतिपादकं वचनम् । अत्र सुहसिता सम्यग्विकासिता पद्मिनी कमलिनीलता स्वस्य आत्मनः प्रियं अभीष्टं रमायाः श्रियः वासं स्थितिं कामयते अभिलष्यतीत्यर्थे प्रकरणादिना यद्यप्येते नियमिताभिधाश्शब्दाः, तथाऽपि सा द्वितीयस्मिन्नर्थे विवरिष्यमाणे निरुद्धा सती उप-

श्रुतिमित्यनेन शब्देन प्रत्युज्जीविता । इह सुहसिता समन्दस्मिता पद्मिनी आकाशराजतनया पद्मावत्यपरनामा पद्मिनी रमावासं भगवन्तं श्रीनिवासं स्वाप्रियं स्ववल्लभं कामयते स्ववल्लभो भूयादित्यभिलष्यतीति द्वितीयोऽर्थः प्रकरणादिना निरुद्धाभिधाशक्तिकशब्दप्रतिपाद्यमानो ध्वनिपथगमनाय प्रास्थित उपश्रुतिशब्देन सूचिततया ततो गळहस्तितोऽभिधाव्यापारमासाद्य वाच्यतामापन्नश्श्लेषालंकारविषयः । अन्यत्र तु तादृशाभिधाप्रत्युज्जीवनाभावे अर्थान्तरध्वनिपद्धतिमध्यास्ते" इति वदन्ति॥

अयमलंकारान्तरासंकीर्णतया श्लेषस्य विविक्तो विषयोऽपि भवति। न चात्राप्रस्तुतप्रशंसाशङ्का, कस्यचिद्वचने कमालिनीवृत्तान्तस्य प्रकृतत्वेनाप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य गम्यत्वाभावात् । न च तर्हि प्रस्तुतेनाप्रस्तुतस्य गम्यत्वात्समासोक्तिरास्त्विति वाच्यं, पद्मिनीति विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वेन तदनवतारात् । नापि प्रकृताप्रकृतयोरेकधर्मसंबन्धाद्दीपकमस्त्विति वाच्यम्, उदासीनस्य कस्यचिद्वक्तुः प्रकृताप्रकृतयोर्धर्मैक्यस्य विवक्षावैधुर्यात् । प्रकृताप्रकृतयोर्विशेष्ययोः पृथगनुपादानाच्च। तत्तु तयोः पृथगुपादान एवोन्मिषति। नापि गूढोक्तिः, अन्योद्देशेनान्यं प्रति कथनस्यात्राविवक्षणात् । तस्मादयं श्लेषस्यैव विविक्तो विषय इति दिक्। विस्तरस्तु प्राचां निबन्धेषु द्रष्टव्यः॥

इत्यलंकारमणिहारे श्लेषालंकारसरोऽष्टाविंशः.

## अथाप्रस्तुतप्रशंसासरः.

---

प्रस्तुतविशेषणसाम्यमाश्रित्य समासोक्तिर्निरूपिता । तत्प्रसक्त्या विशेषणाश्रयपरिकरादिकं निरूपितम् । अधुना पुनस्तद्वैपरीत्येनाप्रस्तुतप्रशंसोच्यते—

स्यात्प्रस्तुतस्य गमकं यत्राप्रस्तुतवर्णनम् ।
अप्रस्तुतप्रशंसाख्या सैषाऽलंकृतिरुच्यते॥८५॥

यत्राप्रस्तुतवृत्तान्तवर्णनं प्रस्तुतवृत्तान्तमवगमयति सैषा अप्रस्तुतप्रशंसोच्यते । समासोक्तौ तु प्रस्तुतेनाप्रस्तुतप्रतीतिरिति विशेषः । प्रशंसनं चात्र वर्णनमात्रं न तु स्तुतिः 'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः' इत्यादावव्याप्त्यापत्तेः ॥

कार्ये हेतौ तथा व्याप्ये व्यापके प्रस्तुतेऽन्यगीः ।
समे समस्य चेत्येवं सैषा भवति पञ्चधा ॥ ८६ ॥

अप्रस्तुतवृत्तान्तवर्णनेन प्रस्तुतावगतिश्च संबन्धे सति भवति । संबन्धश्च कार्यकारणभावः सामान्यविशेषभावः सारूप्यं वा संभवति । सप्तम्यन्तेषु पदेषु प्रस्तुते इत्येतदन्वेति । अन्यगीः तदन्योक्तिः । तथाच कार्ये प्रस्तुते कारणस्य, कारणे प्रस्तुते कार्यस्य, व्याप्यव्यापकशब्दौ विशेषसामान्यपरौ । विशेषे प्रस्तुते सामान्यस्य, सामान्ये प्रस्तुते विशेषस्योक्तिरिति चत्वारो भेदाः । समे प्रकृते समस्येति पञ्चमः । यदाहुः—

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥

इति। तत्र कार्ये प्रस्तुते कारणस्योक्तिर्यथा—

हृतसर्वस्वा सरसिजराजी मुरवैरिमुखकृते विधिना। तामरसतां दधानां तदाहुरेनामुदारतरधिषणाः ॥ १४२ ॥

तत् तस्मात् तामेनां सरसिजराजीम्। अरसतां नीरसतां निस्सारतामिति यावत्। पक्षे तामरसतां तामरसत्वं दधानां आहुः। स्फुटमन्यत्। अत्र कमलराजीगततया संभाव्यमानेन श्रीनिवासदिव्यवदनारविन्दनिर्माणार्थं सारांशहरणेन तत्कारणेन तत्कार्यरूपो वर्णनीयतया प्रस्तुतश्श्रीनिवासदिव्यवदनारविन्दगतो लोकोत्तरसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यादिविशेषः प्रतीयत इति कारणनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसेयम्। श्लेषातिशयोक्तिसंकीर्णा ॥

यथावा—

सारहरणाय खाता वाताशनगिरिचिकीर्षुणा विधिना। देवेन निखिलशैलास्तन्नूनमनन्तदेवखाताबिलाः ॥ १४३ ॥

अत्राप्रस्तुतनिखिलशैलनिष्ठतया संभाव्यमानेन शेषाद्रिसर्जनार्थसारांशहरणेन प्रस्तुतश्शेषाद्रिनिष्ठः कोऽपि निखिलकुलाचलातिशायिमहिमातिशयः प्रतीयते। अनन्तानि अपरिच्छिन्नानि देवेन देवैश्च खातानि बिलानि येषां ते 'देवखातबिले गुहा' इत्यमरः। देवखातबिलशब्दौ व्यस्तौ गुहावाचिनाविति केचित्। समस्त एवायं देवखातबिलशब्दस्तद्वाचीत्यन्ये ॥

यथावा—

द्युतिसर्वस्वं तटितामादय विधिस्तवाम्ब तनु-
मतनोत् । क्षणरुचयो विद्युत इति ता एता जग-
दिरे ततः कविभिः ॥ १४४ ॥

क्षणरुचयः अत्यल्परोचिषः अनुपदमेव विगता द्युत् द्युतिर्यासां तास्तथोक्ताः विशेषेण द्योतमाना इति वस्तुस्थितिः॥

एवम्—

तव दिव्यवपुस्स्रष्टुं हृतसारो वेधसाऽहिशैल-
मणे। नूनं हरिमणिरखिलो विदिता सुतरामसार-
ताऽस्य ततः ॥ १४५ ॥

इत्यत्रापि कारणनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसा द्रष्टव्या । सुतरां असारता निस्सारता । सुतरा अतिशोभना मसारता मसारनामतेति वस्तुस्थितिः । 'मसार इन्द्रनीले स्यात्' इत्यवोचाम प्रागेव ॥

कारणे प्रस्तुते कार्याभिधानं यथा—

आदौ सुमुखा विबुधैरानीता तत्पुरस्सरत्वम-
पि । पश्चाद्गीतौदार्यात्तवसुरभिरगाद्विसर्गमेवान्ते ॥

हे भगवन्! सुरभेः कामगवी आदौ त्वन्महौदार्यनिशमनात्पूर्वं सुमुखा पृथग्जनवर्ण्यमाननिजवादान्यकोत्कर्षनिशमनजनितहर्षमूलकसौमुख्यशालिनी । पक्षे सुरभिशब्दे स्ववाचके आदौ सुः सुवर्णः मुखं प्रधानं यस्यास्सा 'मुखं प्रधाने प्रारम्भे वक्त्रे निस्सरणेऽपि च' इति रत्नमाला । तत् सुमुखात्वादेव

हेतोः विबुधैः गुणज्ञैः देवैः पुरस्सरत्वं वदान्याग्रेसरत्वं पुरस्कारं वा आनीता प्रापिता। अन्यत्र तत्पुर इति समस्तं पदम्। तस्य सुवर्णस्य पुरः अग्रतः अनन्तरमित्यर्थः। सरत्वं रेफसाहित्यं आनीता। पश्चात् तव श्रीनिवासस्य भवतः औदार्यात्। 'य आत्मदा बलदा' इत्यादिश्रुतिभिः 'तदन्यः को महोदारः' इत्यादिपुराणवचनैश्च जेगीयमानादिति भावः। भीता निजौदार्यप्रथाकुण्ठनसंभावनात्रस्ता। पक्षे पश्चात् रेफानन्तरं औदार्यात् निरर्गळत्वादिति यावत्। भीता भिवर्णेन इता युक्ता। अत एव अन्ते भयदर्शनादनन्तरं विसर्गे एवं त्रस्ता नास्माभिस्संभावनीयेति विबुधकृतं विसर्जनं अगात् त्यक्ताऽभूदित्यर्थः। पक्षे अन्ते स्ववाचकशब्दान्ते विसर्गं विसर्जनीयं अगात्। सुरभिरिति शब्दस्य तथात्वादेवमुक्तम्। अत्राप्रस्तुतेन औचित्यात्संभाव्यमानेन सुरभिभयादिकार्येण तत्कारणभूतः श्रीनिवासमहौदार्यस्यानितरसाधारणो महिमा प्रत्याय्यत इतीयं कार्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसा श्लेषातिशयोक्तिसंकीर्णा॥

यथावा—

विहरन्त्या दिवि भवतः कीर्तिमराळ्या प्रसूतमवदातम्। पेशीनिवहं मन्ये तारासमुदयमिमं मुराराते॥ १४७॥

पेशीनिवहं अण्डनिकरं 'पेशीकोशो द्विहीनेऽण्डम्' इत्यमरः। अत्राप्रस्तुतस्य तारासमुदयस्य भगवत्कीर्तिहंसीप्रसूतपेशीनिवहत्वोत्प्रेक्षणेन तत्कारणीभूतप्रस्तुतभगवत्कीर्तिधावळ्यातिशयो लोकोत्तर इति प्रतीयते॥

यथावा—

अन्तर्वत्न्या फणिगिरिशिरोमणे रोचिषां प्ररोहेण। एते द्यवा प्रसूताः पोतास्स्फीता घनाघनव्राताः ॥ १४८ ॥

भगवतो रोचिषां तेजसां प्ररोहेण अङ्कुरेण अन्तर्वत्न्या गर्भिण्या द्यवा दिवा 'द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रम्' इत्यमरः। स्पष्टमन्यत्। अत्राप्यप्रस्तुतानां घनाघनव्रातानां भगवत्तनूरुचिप्ररोहगर्भितद्योप्रसूतार्भकत्वेन संभावनात्तत्कारणीभूतभगवत्तनुरुचिप्ररोहेऽत्युत्तमश्यामलिमभूमा प्रत्याय्यते। समासोक्तिसंकीर्णेयम्। पूर्वा तु रूपकसंकीर्णा ॥

यथावा—

अब्धौ समुद्भवन्त्या श्रियः प्रसृमराः पदाब्जरुचिकणिकाः। अन्योन्यतरङ्गाहतिपुञ्जीभूताः प्रवाळतां याताः ॥ १४९ ॥

अत्रावतारसमये जलधौ प्रसूतानां श्रीमहालक्ष्मीचरणारविन्दरुचिकणिकानामन्योन्यतरङ्गास्फालनवशेन सूक्ष्मतमसिकताफनलवादिवत्पुञ्जीभूतानां परिणामतया संभाव्यमानाभिः प्रवाळताभिः कार्यभूताभिस्तत्कारणभूतश्रीचरणारविन्दरुचेस्सर्वातिशाय्यरुणिमभूमा प्रतीयते ॥

यथावा—

शौरे भवत्प्रतापात्क्षोदिष्ठौ द्वौ स्फुलिङ्गकौ स्फुटितौ। वियति रविस्तत्रैकः पयसि पयोधेः परस्तु बडवाग्निः ॥ १५० ॥

अत्राप्रस्तुतयो रविवडवानलयोर्भगवत्प्रतापकार्यभूतस्फुलिङ्गकत्वोत्प्रेक्षया प्रस्तुते तदुपादानकारणभूते भगवत्प्रतापे अनन्तकोटिसहस्रांशुवडवानलातिशाय्यौज्ज्वल्यं गम्यते। अत्र प्रतापस्य महाग्नित्वं गम्यते॥

यथावा—

ब्रह्माण्डभाण्डपूर्णे भगवन्भवदीयशुभयशःपयसि। विलसन्ति बुद्बुदा इव तारा शशाङ्कि फेनवज्ज्योत्स्ना॥ १५१॥

अत्राप्रस्तुतानां ताराज्योत्स्नानां भगवद्यशोदुग्धकार्यभूतबुद्बुदफेनत्वसंभावनेन प्रस्तुतस्य भगवद्यशोदुग्धस्य निरतिशयो वैशद्यविशेषः प्रतीयते॥

यथावा—

च्यावितवरवर्णस्त्वद्यशसा कथमप्यधश्शिरा निपतन्। विन्दति वृषशैलेन्दो विभावरीशश्शशिरभावित्वम्॥ १५२॥

हे वृषशैलेन्दो! अनेन प्रसिद्धेन्द्वपेक्षयाऽस्य वैलक्षण्यं गम्यते। विभावरीशः चन्द्रमाः त्वद्यशसा च्यावितः च्युतिं प्रापितः वरः श्रेष्ठः वर्णः धवलिमा यस्य स तथोक्तः वैवर्ण्यं प्रापित इत्यर्थः। यशसा च्यावितवर्णत्वकथनेन क्लीबपराभूतताद्योतकेनातिमात्रदुस्सहदुःखत्वं द्योत्यते। अत एव अधश्शिराः निपतन् सन् चन्द्रमसोऽस्ताचलाभिमुख्यावसरे विपर्यस्ततया दृश्यमानत्वादधश्शिरोनिपतनोक्तिः। कथमपि दूरगमनादियत्नगौरवेणेत्यर्थः। 'कथमादि तथाऽप्यन्तं यत्नगौरवबाढयोः' इत्यु-

त्पलमाला । शरीरभावित्वं शरीरसत्तां विन्दति । 'सतां माने म्लाने' इत्युक्तरीत्या शरीरत्यागावश्यंभावेऽपि तमकृत्वा 'अथवा दूरगमनम्' इति द्वितीयपक्षावलम्बनेन शरीरमधार्षीदित्यर्थः । पक्षे—विभावरीशशब्दः अधश्शिराः निपतन् प्रतिलोमतां प्रपद्यमान इति यावत् । च्यावितः च्युतिं प्रापितः वः वकारः येन स तथोक्तः रवर्णः रेफः यस्मिंस्तथोक्त इति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः । वकारमुत्सार्य तत्रैव रेफः प्रापित इत्यर्थः । शरीरभावित्वं शरीरभावीत्यानुपूर्वीमत्त्वं विन्दति । विभावरीशशब्दस्योपपादितरीत्या तथा निष्पत्तेरिति ध्येयम् । शब्दार्थयोस्तादात्म्यं तु न विस्मर्तव्यम् । इह विभावरीशस्योपमानभूतस्याप्रस्तुतत्वम् । भगवद्यशसश्चोपमेयभूतस्य प्रस्तुतत्वम् । तथाच विभावरीशगतेन च्यावितवरवर्णत्वादिसंभावनावशोन्मिषितेनाप्रस्तुतेनातिमात्रनिस्तेजस्कतारूपकार्येण किमपि लोकोत्तरं यशोगतमवदातत्वं प्रस्तुतमेव प्रतीयते । अत्र कार्यकारणभावः प्रयोज्यप्रयोजकरूपः । एवमुत्तरत्राप्यस्मिन् प्रकरणे यथायोगं द्रष्टव्यः ॥

यथावा—

फणधरधराधरेश्वरकनदधररुचा प्रपद्य मुखभङ्गम् । विद्रुमनिवहो जलधौ विना मुखेनैव लीयते सततम् ॥ १५३ ॥

मुखभङ्गं पराभवम् । मुखेन विनैवेति लोकोक्तिः । मुखं दर्शयितुमक्षम एवेति भावः । पक्षे विना वि इत्याकारकवर्णेन मुखेन मुख्यभूतेन उपलक्षितः विद्रुमनिवहः । वाच्यवाचकयोस्तादात्म्यम् । अत्र भगवदधररुचिप्राप्तमुखभङ्गप्रयोज्यतया संभाव्यमानमप्रस्तुतं विद्रुमनिवहस्य जलधिनिलयनरूपं कार्यं त-

त्कारणभूतप्रस्तुतश्रीनिवासाधरमणिशोणिमातिशयप्रत्यायकमिती-यमपि कार्यनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसैव ॥

यथावा—

प्रथमं मधुरिमभूम्ना प्रथिता मधुमथनविधुमुखि मधूळी । त्वदधरसुधाविधूता धूळ्यभवत्प्रथमभूमविधुरतया ॥ १५४ ॥

हे मधुमथनविधुमुखि! भगवद्वल्लभे! इदं च मधूळीविधूननपाटवमदसीयाधरसुधाया अभिव्यनक्ति। प्रथमं अधरसुधाकर्तृकविधूननात्पूर्वं मधुरिमभूम्ना माधुर्यातिशयेन प्रथिता मधूळी मकरन्दः त्वदधरसुधाविधूता सती प्रथमः आदौ स्थितः यो भूमा माधुर्योत्कर्षः तेन विधुरतया विश्लिष्टतया धूळी पांसुभूता अभवत् निस्साराऽभूदिति यावत् । पक्षे—प्रथमं भवतीति प्रथमभूः आदौ विद्यमानः यो मः मवर्णः तेन विधुरतया धूळीति निष्पन्ना मधूळीशब्दो मकारोत्सारणे तथा निष्पद्यत इत्यर्थः। अत्र संभाव्यमानाप्रस्तुतमधूळीधूळीभवनरूपकार्येण तत्कारणभूतप्रस्तुतजगज्जनन्यधरसुधामधुरिमोत्कर्षलोकोत्तरत्वावगतिः। अत्रापि कार्यकारणभावः प्रयोज्यप्रयोजकभावरूप एव। श्लेषसंकीर्णत्वं पूर्ववदेव ॥

यथावा—

त्वद्गतिलीलाऽवमतस्सेवित्वाऽलं विषं जगज्जननि । क्षीबोऽपि राजहंसः क्लीबत्वं प्रथयति स्म साध्वेव ॥ १५५ ॥

हे जगज्जननि! राजहंसः क्षीबः मत्तोऽपि त्वद्गतिलीलाऽवमाननात्प्रागिति भावः। त्वद्गतिलीलया अवमतः। अनेन स्त्रीपराजितत्वद्योतकेनातिमात्रदूनत्वं व्यज्यते। अत एव विषं गरळं जलं च अलं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा सेवित्वा पीत्वा, पक्षे—विगळितषकारं यथातथा सेवित्वालमित्यत्र लं इति च्छेदः। लं लकारं सेवित्वा प्राप्य साध्वेव न तु यथाकथंचित् क्लीबत्वं षण्डत्वं प्रथयति स्म। यःकश्चिद्वा पुरुषमानी परैः परास्तश्चेदाश्वस्य पुनः प्रतिकर्तुं पराक्रमत एव। न तु क्लीबतया विषीदति। अयं तु स्त्रीपराजितो विषं पीतवान्कथं न क्लीबतां प्रथयेतेति भावः। पक्षे—क्षीबशब्दष्षकारापगमनेन तत्रैव लकारसंश्लेषणे क्लीबतया स्वरूपं प्रकाशयतीत्यर्थः। अत्राप्रस्तुतेन राजहंसस्य श्रीगतिलीलाऽवमतत्वादिना संभाव्यमानेन कार्येण तत्कारणभूतप्रस्तुतश्रीगतिलीलारामणीयकातिशयप्रतीतिः॥

यथावा—

**तावकनयनश्रीलवचौर्याच्चकिता जगज्जननि शकुलाः। व्यत्यासितमुखवर्णाः कुशला भूत्वैव जीवनमविन्दन्॥ १५६॥**

हे जगज्जननि! शकुलाः मीनाः तावकनयनश्रीलवस्य चौर्यात् चौर्यं कृत्वेत्यर्थः। चकिताः भीताः अत एव व्यत्यासितः विपर्यासितः मुखस्य वदनस्य वर्णो यैस्ते तथाभूताः इङ्गालचूर्णभस्मादिलेपनेन परैरज्ञातयथापूर्वमुखवर्णा इति भावः। अत एव कुशला भूत्वैव न तु प्रमत्ताः। आपदि ईदृशोपायकरणादपि किमन्यदस्ति कौशल्यमिति भावः। जीवनं प्राणधारणं अविन्दन्। अन्यत्र—व्यत्यासितौ विपर्ययेण पठितौ मु-

खवर्णौ श कु इति वर्णौ येषां ते तथोक्ताः। अर्थगतबहुत्वस्य शब्दे आरोपः। कुशला भूत्वा। शकुला इति शब्दः आद्ययोर्वर्णयोर्वैपरीत्ये कुशला इति निष्पन्न इत्यर्थः। जीवनं जलं अविन्दन्। तत्र मग्ना इति यावत्। अत्राप्रस्तुतशकुलगतचौर्यादिकार्येण तत्कारणप्रस्तुतलक्ष्मीनयनलावण्यादिसमृद्धिः प्रतीयते ॥

यथावा—

त्वन्नयनपराभूतो वातायुर्जननि दृश्यतापगमात्। वायुसखो भूत्वाऽऽनीत्किं नु स वायुस्थितिर्न चेज्जीवेत् ॥ १५७ ॥

हे जननि! वातायुः हरिणः वातायुशब्दश्च त्वन्नयनपराभूतस्सन् अत एव दृश्यतापगमात् दर्शनीयतापायाद्धेतोः वायुसखो भूत्वा वायुवददृश्यो भूत्वेति भावः। यद्वा—दृश्यतापगगमात् अदृश्यतां प्राप्य ल्यब्लोपे पञ्चमी। वायुसखः भूत्वा वायुतुल्यवेगः पलायितो भूत्वेति यावत्। अथवा—दृश्यः प्रत्यक्षः यस्तापः तस्य गमात् प्राप्तेः वायुसखः अग्निः भूत्वा अग्निवत्तापमयो भूत्वेत्यर्थः। शब्दपक्षे दृश्यः यः ता इति वर्णः तस्य अपगमात् वायुसखः। वायु इत्याकारकवर्णाभ्यामेव युक्त इत्यर्थः। भूत्वा आनीत् प्राणीत्। अन्यत्र सत्तामलभतेत्यर्थः। सः वा आयुस्स्थितिरिति छेदः। सः वातायुः वाशब्द एवशब्दार्थकः। 'स्युरेवंतुपुनर्वैवेत्यवधारणवाचकाः' इत्यमरः। आयुस्स्थितिर्वा आयुश्शेष एव न चेत् जीवेत्किन्नु न जीवेदेव। आयुस्स्थितेर्दुरपनयत्वादेवेदृशं पराभवं प्राप्तोऽप्यजीवदित्यर्थः। शब्दपक्षे तु—सः वातायुशब्दः वायुस्थितिः वा युः इत्याकारकवर्णस्थि-

तिर्ने चेत् किं नु जीवेत्। ताकारवत् वायुः इत्याकारकवर्ण-समुदायस्यापि लोपे शब्दस्वरूपस्थितिरेव दुर्लभेति भावः। अत्राप्रस्तुतेन वातायुपराजयादिकार्येण संभाव्यमानेन तत्कारण-भूतप्रस्तुतजगज्जननीनयनसुषमाद्यतिशयः प्रतीयते॥

यथावा—

आदाय चौर्यतस्तव वादान्यकसंपदं स्थितोऽ-पि दिवि। निर्जरपापस्समजन्यपि निर्जरपादपो हरेऽदान्तः॥ १५८॥

हे हरे! निर्जरपादपः देवतरुः दिवि स्वर्गे स्थितोऽपि स्वतस्सिद्धस्वर्लोकावस्थानोऽपि तव वादान्यकसंपदं चौर्यतः स्तेयेन आदाय त्वद्वादान्यकसंपच्चौर्याद्विना अस्य इयदपि वा औदार्यं कुतो भवेदिति भावः। अदान्तः केनापि राज्ञा अप-राधानुगुणमदण्डितः 'वा दान्त' इत्यादिना दमेः क्तान्ततया निपातः। 'दान्तस्तु दमिते, साहसं तु दमो दण्डः' इति चा-मरः। निर्जरं दुर्जरं पापं यस्य स तथाभूतः समजनि भुवि क्वापि जात इत्यर्थः। राजदण्डितत्वे—

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलास्स्वर्गमायान्ति सन्तस्सुकृतिनो यथा॥

इति स्मरणाच्छोधितपापत्वं स्यात्। अतथाभूततया निर्जरपापः क्वापि जात इति भावः। पक्षे निर्जरपादपशब्दः दः दकारः अन्ते मध्ये यस्य सः दान्तः स न भवतीत्यदान्तः। मध्ये दकारविधुरस्सन् निर्जरपाप इति निष्पन्न इत्यर्थः। अत्राप्रस्तुते निर्जरपादपस्य चौर्यप्रयुक्तनिर्जरपापतावाप्तिकार्येण संभाव्यमानेन तत्कारणभूतभगवद्वादान्यकमहिमातिशयः प्रस्तुत एवावगम्यते॥

यथावा –

त्वद्वादान्यकनिशमनविशमितमाना विमुञ्चमाना शम् । भूत्वाऽथ विवर्णमुखा शबला कमलालयेऽभवद्विबला ॥ १५९ ॥

हे कमलालये! शबला कामगवी शबलाशब्दश्च । त्वद्वादान्यकस्य निशमनेन विशमितः मानः अहं महावदान्येति चित्तसमुन्नतिः यस्यास्सा तथोक्ता । अत एव शं स्वोत्कर्षज्ञानजन्यं सुखं, पक्षे शकारं विमुञ्चमाना त्यजन्ती । मुञ्चतिस्स्वरितेत् । अत एव विवर्णं निस्तेजस्कं मुखं, पक्षे वि इत्याकारकवर्ण एव मुखं आदिर्यस्यास्सा तथोक्ता सती विबला दुर्बला अभवत् । भग्नोत्साहतया निश्शक्तिरभूदित्यर्थः । न ह्युत्साहादन्यद्बलमस्ति । यथोच्यते—'नास्त्युत्साहात्परं बलम्' इति । पक्षे शबलाशब्दः शकारोत्सारणेन तत्रैव विकारन्यसनेन च विबलेति निरपद्यतेत्यर्थः । अत्र भगवत्याश्श्रियो महौदार्ये वर्णनीयत्वेन प्रस्तुते सुपर्वधेनुगर्वशान्त्यादिकमप्रस्तुतमौचित्यात्संभाव्यमानं कार्यं वर्णितम् । इदं च 'आदौ सुमुखा विबुधैः, विहरन्त्या दिवि भवतः' इत्यादिपूर्वोदाहरणेष्विव न वस्तुकार्यं, किंतु 'तत्केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः' इत्यत्र तन्निरीक्षणकार्यवदौदार्यनिशमनकार्यम् ॥

यथावा –

दुग्धरसो दुग्धरसो मोचा मोचा सुधा सुधा भवति । द्विरसनगिरिपतिरमणी सरसवचस्स्याद्यदि श्रवणपथगम् ॥ १६० ॥

दुग्धरसः क्षीररसः दुग्धः प्रपूरितो रेचितः रसः स्वादिमा यस्य स तथोक्तः। मोचा कदलीफलम्। मोचा शाल्मलीफलं तद्वन्नीरसेति भावः। उभयत्र 'फले लुक्' इति वैकारिकाणो लुक्। मोचायाः फलं मोचेति विग्रहः। 'कदळयां शाल्मलौ मोचा' इति रत्नमाला। सुधा अमृतं सुधा लेपचूर्णः स्नुहीक्षीरं वा तद्वत्कटुरिति भावः। 'सुधा लेपोऽमृतं स्नुही' इत्यमरः। स्पष्टमन्यत्। अत्र दुग्धरसादीनां तिरस्काररूपकार्येण तत्कारणभूतजगदीश्वरोवचसस्स्वादिमोत्कर्षो गम्यते। कार्यकारणभावश्चेह ज्ञानयोः। तेन नीरसत्वादेर्दुग्धरसादिगतत्वेन ज्ञायमानस्य स्वरूपतस्तद्वचनरसाजन्यत्वेऽपि न क्षतिः।

अर्थस्य कार्यत्व इव बुद्धेः कार्यत्वेऽपि कार्यनिबन्धनत्वं न हीयत इतीदृशान्यपि कार्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसायामुदाहृतानि चिरन्तनैरित्यस्माभिरप्युदाहार्यन्त। वस्तुतस्तु तदतिरेकेऽपि न दोषः। न ह्यप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुताप्रस्तुतयोः पञ्चविध एव संबन्ध इति नियन्तुं शक्यते। संबन्धान्तरेष्वपि तद्दर्शनादिति दीक्षिताः॥

यथा—

**त्वद्दिव्यकीर्तिमुक्ताफलस्य बिलशयकुलेशशैलेन्दो। विपुलौ शुक्तिकपालौ द्यावाभूमी विभावयामि परम्॥ १६१॥**

अत्र ह्यप्रस्तुतयोराधारभूतयोर्द्यावाभूम्योर्भगवत्कीर्तिमुक्ताफलकपालत्वोत्प्रेक्षणेन तदाधेयस्य प्रस्तुतस्य भगवत्कीर्तिमुक्ताफलस्य महीयस्त्वादिकं प्रतीयते। न च शुक्तिमुक्ताफलयोः कार्यकारणभावादिसंबन्धोऽस्ति, किंत्वाधाराधेयभाव एव॥

एवं सहावस्थानादिकमपि संबन्धान्तरमाश्रयणीयमेव। यथा—

हरिहृच्छाणोल्लेखोट्टङ्कितकौस्तुभकलङ्करेणुकणाः। नभसि क्वचन समूढा नभस्वता भास्वदाख्यया भान्ति ॥ १६२ ॥

कौस्तुभस्य कलङ्कः जलधिजननसमयलग्नपङ्कशैवलादिरूपः। समूढाः समूहीकृताः। अत्र कलङ्करेणूनां कौस्तुभस्य च सहावस्थितिस्संबन्धः। अत्र भास्वति भास्वत्त्वमपह्नुत्य तत्र नभस्वत्संपुञ्जितकलङ्करेणुकणत्वारोपेणाप्रस्तुतेन तत्सहावस्थितस्य प्रस्तुतस्य कौस्तुभरत्नस्यानन्तभास्करभासुरत्वं प्रत्याय्यते ॥

यथावा—

भूतलसपदिसमुद्गतसीतातनुलग्नरेणुकणनिकराः। अभिषेकजलैर्जलधिं नीतास्स्फीताश्च रत्नतां याताः ॥ १६३ ॥

अत्र पूर्वार्धेन—

उत्थिता मेदिनीं भित्वा क्षेत्रे हलमुखक्षते।
पद्मरेणुनिभैः कीर्णा शुभैः केदारपांसुभिः ॥

इत्युक्तोऽर्थः प्रत्यभिज्ञाप्यते। अभिषेकजलैः अवतारकालिकमङ्गलाभिषेकसलिलैः। जलधिं नीताः गङ्गादिनदीद्वारेति भावः। स्फीताः जले निहिताश्चणकादय इवोच्छूना इति भावः। स्पष्टमन्यत्। अत्रापि पूर्वोदाहरणवत्सहावस्थितिरेव सीतातनुभूरेणूनां संबन्धः भूरेणुकणानां रत्नत्वेन संभावनात्तत्सहावस्थितसीतादिव्यमङ्गळविग्रहलावण्यप्रकर्षस्य निरवधिकत्वं प्रतीयते।

अस्यैव पद्यस्य 'लङ्कागतभूमिसुतातनुलग्नक्षोणिरेणुकणनिकराः' इति पाठान्तरं, तदा 'भूमिशय्या विवर्णाङ्गी' इत्युक्तरीत्या लङ्कावस्थानावसरे भगवत्यास्सीताया दिव्यमङ्गळविग्रहस्य भूरेणुसंबन्धः। अभिषेकजलैरित्यनेन 'ततस्सीतां शिरस्स्नाताम्' इति रावणवधानन्तरभाविमङ्गळस्नानं च विवक्षितम्। अन्यत्तु तुल्यं पूर्वेण॥

यथावा—

अम्बुधिसुते सितद्युतिरम्ब त्वद्वदनशेषभूतोऽसौ। यत्सर्वदास्यलक्ष्मीं संपूर्णतयैव वहति नेतरथा॥ १६४॥

अम्बुधिसुते! हे अम्ब! सितद्युतिः इन्दुः त्वद्वदनस्य शेषभूतः 'शेषः परार्थत्वात्' इत्युक्तलक्षणशेषभावमापन्नः। यत् यस्मात् असौ सितद्युतिः अस्येति शेषः। सर्वदास्यलक्ष्मीं सर्वं 'अहं सर्वं करिष्यामि' इत्युक्तप्रकारं सर्वदेशकालावस्थोचितं दास्यं कैङ्कर्यं तस्य लक्ष्मीं संपदं संपूर्णतयैव अवैकल्येनैव वहति। नेतरथा न तु वैकल्येन। पक्षे यत् यस्मात् सर्वदा अस्य त्वद्वदनस्य लक्ष्मीं शोभां आस्यलक्ष्मीं मुखश्रियमिति वा संपूर्णतयैव वहति, इतरथा तु न। पूर्णस्यैवेन्दोस्तत्साम्यं न तु विकलस्येति भावः। अत्राप्रस्तुतेन सितद्युतेस्संभाव्यमानेन शेषत्वेन तच्छेषिणः प्रस्तुतस्य श्रीवदनस्य रामणीयकसाम्राज्योत्कर्षः प्रतीयते। अत्र श्रीवदनचन्द्रमसोर्न कार्यकारणभावादिस्संबन्धः, किंतु शेषशेषिभावः॥

एवमुपमानोपमेयाववलम्ब्य तत्र कविकल्पितकार्यकारणभावनिबन्धने अप्रस्तुतप्रशंसे दर्शिते। ततोऽन्यत्रापि दृश्यते—

यथा—

त्वत्पदविन्यस्तभरस्सदुत्तमो नान्तरेण भवदूनः।
अथ तादृशो भवन्नपि सत्तम एवेति वर्ण्यते
भगवन् ॥ १६५ ॥

हे भगवन्! त्वत्पदविन्यस्तभरः सदुत्तमः प्रपन्नाग्रेसरः पुमान् अन्तरेण उपायानुष्ठानफलोपलम्भयोर्मध्ये भवेन संसारेण दूनः परितप्तः न भवति। तस्यार्त्यतिशयात्प्रारब्धदेहधारणस्याप्यनिष्टत्वात् 'यस्तु प्रारब्धदेहेऽपि शोचत्यार्तस्स उच्यते' इति हि तल्लक्षणम्। अथ दृप्तप्रपन्नमभिप्रयन्नाह—अथेति। अथ अथवा तादृशः प्रपन्नो भूत्वा अन्तरेणाभ्युपगतप्रारब्धखण्डतया भवदूनो भवन्नपि सत्तम एव प्रपन्नाग्रगण्य एवेति वर्ण्यते। प्राज्ञैरिति शेषः। न त्वप्रपन्न इत्यवधीर्यते 'यस्य देहान्तरकृते शोको दृप्तस्स उच्यते' इति हि दृप्तप्रपन्नलक्षणम्। यद्वा त्वत्पदविन्यस्तभरः सदुत्तमः ना पुमान् अन्तरेण तादर्थ्येन 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरमेदिन्यौ। 'ओदनान्तरस्तण्डुलः' इत्यादौ तादर्थ्येऽन्तरशब्दो दृश्यत इति टीकासर्वस्वकारादयः। भवतः त्वत्तः ऊनः भवति 'शेषः परार्थत्वात्' इत्युक्तपारार्थ्यलक्षणशेषतास्वाभाव्याच्छेषिण परमात्मनस्त्वत्तो न्यूनो भवतीत्यर्थः। अथशब्दस्समुच्चये 'अथाथो संशये स्याताम्' इत्युक्रम्य 'कात्स्न्यारम्भसमुच्चये' इति मेदिनी। तादृशः उक्तरीत्या भवदपकृष्टो भवन्नपि सत्तम एवेति वर्ण्यते न त्वपकृष्ट इति।

स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां यदि स्पृहा।
आत्मदास्यं हरेस्स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर॥

इति प्रत्यगात्मपरमात्मनोश्शेषशेषिभावज्ञानस्यैव सत्ताहेतुतोक्ते-रिति भावः ॥

पक्षे—सदुत्तमशब्दः अन्तरेण मध्ये भवः विद्यमानः सुप्सुपेति समासः। यः दुः दुवर्णः तेन ऊनः न्यूनः न भवति। तस्मिन् शब्दे दुवर्णश्रवणात्। अथ यदाकदाचिदिति भावः। तादृशः दुवर्णेन ऊनो भवन्नपि सत्तम एव सत्तमशब्द एवेति वर्ण्यते। सदुत्तमशब्दे दुवर्णोत्सारणे तथा निष्पत्तेः। अत्राप्रस्तुतेन प्रपन्नजनसंसारदुःखाविधुरतादिवर्णनेन तत्कारणस्य भगवच्चरणारविन्दप्रपदनस्य महिमोत्कर्षः प्रत्याय्यते। नात्रोपमानोपमेयावलम्बी कविकल्पितः कार्यकारणभावः, किंतु स्वाभाविकः ॥

यथावा—

**लक्ष्मीक्षणभेदवशाद्दीनेशोऽपि च दिनेश इव भायात्। अथ च दिनेशो भजते दीनेशत्वं किमत्र विशयेन ॥ १६६ ॥**

लक्ष्म्याः ईक्षणभेदवशात् कटाक्षान्वयवशात् दीनेशः पूर्वं दरिद्रसार्वभौमोऽपि दिनेश इव सहस्रभानुरिव भायात्। अथच किंच दिनेशः भास्वानपि लक्ष्म्याः ईक्षणभेदवशात् कटाक्षव्यतिरेकवशात् दीनेशत्वं भजते। अत्र विशयेन संशयेन किम्। पक्षे हे लक्ष्मि! दीनेशोऽपि दीनेशशब्दोऽपि ईक्षणभेदवशात् ईवर्णस्य इवर्णत्वेन दर्शनवशात् दिनेश इव भायात्। दिनेशशब्दतया प्रकाशेत। इवशब्दो वाक्यालंकारे। इवर्णस्य ईवर्णत्वेनेक्षणे तु दिनेशशब्दो दीनेशशब्दतां भजत इत्यर्थः। अत्र दीनेशदिनेशयोर्दिनेशत्वदीनेशत्वप्राप्तिरूपकार्येणाप्रस्तुतेन तत्का-

रणभूतयोर्लक्ष्मीकटाक्षान्वयव्यतिरेकयोः प्रभावो निरङ्कुशः प्रस्तुत एवावगम्यते। अत्रापि पूर्वोदाहरणवदेव कार्यकारणभावः॥

यथावा—

गोपालको भवन्नप्यपाकृतश्चेत्त्वया जगज्जननि।
गोलक एव स भविता चातुर्वर्ण्योज्झितोऽत्र को विशयः॥ १६७॥

हे जगज्जननि! गोपालकः त्रिदिवरक्षक इन्द्रः अन्यो दिक्पालो भूपालो वाक्पतिर्वा भवन्नपि पुमान् त्वया अपाकृतः तिरस्कृतश्चेत् चातुर्वर्ण्येन ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयेन, स्वार्थे ष्यञ्। उज्झितः बहिष्कृतः गोलकः 'मृते भर्तरि गोलकः' इत्युक्तलक्षणो वैधवेयः भविता उत्पत्स्यते। अत्र को विशयस्संदेहः न कोऽपीत्यर्थः। पक्षे गोपालकशब्द अपाकृतः पावर्णरहितः कृतश्चेत् चत्वारो वर्णाः यस्य सः चतुर्वर्णः तस्य भावः चातुर्वर्ण्यं तेन उज्झितः गोलक एव भविता। गोपालकशब्दो वर्णचतुष्टयात्मकः पावर्णोत्सारणे त्रिवर्ण एव भवितव्यः। अत्राप्रस्तुतगोपालकदुरवस्थाप्राप्तिरूपकार्यात्संभावनाविषयात्तत्कारणभूतजगज्जननीनिग्रहनिरङ्कुशप्रभावः प्रस्तुतः प्रतीयते॥

यथावा—

काञ्चनलक्ष्मीमञ्चन्त्यकिञ्चनानां घनानि भवनानि। किमिदं स्यात्फणिशैलं याता एते दिदृक्षमाणास्तम्॥ १६८॥

अत्र फणिशैलं प्रति गतानामकिञ्चनानां भवनेषु कुचेल-

भवनेष्विव श्रीनिवासकटाक्षेणोन्मिषितां निरवधिकां संपदं वीक्ष्य तन्निमित्ते केनचिदनुयुक्ते भगवत्प्रसादरूपं तन्निमित्तमनभिधाय दिदृक्षमाणाः फणिशैलं याता इति तत्कारणमभिहितमितीयमपि कारणनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसैवेत्यलं दूरधावनेन । प्रकृतमनुसरामः ॥

सामान्ये प्रस्तुते विशेषवचनं यथा—

**छायाफलमसृणस्तरुरायासं लोकतस्समायाति। शाकोटकं तु लोके काकोलूकादिकोऽपि नाकाङ्क्षेत् ॥ १६९ ॥**

अत्र श्रीनिवासं प्रति त्वादृशो महौदार्यादिगुणनिधिरेव स्वाभीप्सितफलप्रेप्सुभिरायास्यते । गुणलेशवन्ध्यस्तु दूरीक्रियत एव सर्वैरिति सामान्ये कथनीये तत्प्रत्यायनायाप्रस्तुतो विशेषोऽभिहित इतीयं विशेषनिबन्धना ॥

यथावा—

**कल्पतरुं श्रयतां न ह्यल्पतराऽपीप्सितानवाप्तिस्स्यात् । इति जानन्मतिमांश्चेत्क्षितिजानन्यान्किमर्थमाश्रयताम् ॥ १७० ॥**

अत्रापि श्रीनिवासतुल्यं महावदान्यमाश्रयतां न कदाचिदप्यभीष्टार्थानवाप्तिरिति जानानो बुद्धिमांश्चेत्किमर्थमन्यान्मितंपचानाश्रयतामिति सामान्ये वक्तव्ये तदवगमनार्थमप्रस्तुतो विशेषोऽभिहितः । क्षितिजान् तरून् भूमिष्ठान् मनुजांश्चेत्यर्थः ॥

यथावा—

स्वाराज्यैश्वर्यमदान्नहुषः स्थितवानजागरो भूत्वा। जातोऽह्रस्वाकारोऽजगरो जगदम्ब तव कृपामान्द्ये ॥ १७१ ॥

हे जगदम्ब! तव कृपामान्द्ये सति नहुषः स्वाराज्यैश्वर्यमदात् त्रिदिवाधिराज्यवैभवप्रयुक्ताच्चित्तविकारात् अविद्यमाना जागरा जागर्या यस्य तथाविधो भूत्वा भविष्यदनर्थपरिहारे अजागरूको भूत्वेत्यर्थः। स्थितवान् अत एव अह्रस्वः अनल्पः आकारः आकृतिः यस्य स तथोक्तः। महाशरीर इत्यर्थः। 'त्रिषु ह्रस्वोऽल्पखर्वयोः' इति रत्नमाला। अजगरः व्याळविशेषः जातः मुनिशापादिति भावः। जातः स्थितवानिति वा योजना। अत्र भारतीयं नाहुषमुपाख्यानमनुसंधेयम्। पक्षे अजागरशब्दः जातः जकारसंबन्धिन्याकारे। सार्वविभक्तिकस्तसिः। ह्रस्वः अकारो यस्य स तथोक्तः। आकारस्थाने अकारं प्रापितः अजगरः स्थितवान् अजगर इति निष्पन्न इत्यर्थोऽपि चमत्कारी। अत्र श्रियं प्रति त्वत्कृपाप्रसरमान्द्ये महतोऽपि दुरवस्थाप्राप्तिर्भवतीति सामान्येऽभिधेये विशेषोऽभिहितः॥

यथावा—

इनतनयस्तव राघव राज्यमदान्नाकरिष्यदाज्ञां चेत्। सनयोऽपि ननय एव ह्यभविष्यदितस्ततोऽपि विभ्रष्टः ॥ १७२ ॥

हे राघव! इनतनयः सुग्रीवः राज्यमदात् राज्यलाभप्रयुक्तचित्तसमुन्नतेः तव आज्ञां यथाप्रतिश्रुतं सीतान्वेषणादिविषयं

शासनं नाकरिष्यद्यदि सनयोपि नीतिमानमपि इतः राघवात् तत्सौहार्दादिति यावत्। ततः राज्यादपि विभ्रष्टस्सन् ननयः नीतिविधुर एव अभविष्यत्। नशब्देन समासः । अनीतिमा निव्येव प्रासैत्स्यदिति भावः। यद्वा इतस्ततः अस्मादमुष्माच्च लोकात् विभ्रष्ट इत्यर्थः। 'कृतं ह्यप्रतिकुर्वंस्तु भ्रश्येल्लोकद्वया-दपि' इति स्मरणात्। अथवा अर्थधर्माभ्यां विभ्रष्ट इत्यर्थः। 'धर्मलोपो महांस्तात कृते ह्यप्रतिकुर्वतः। अर्थलोपश्च मित्रस्य' इति श्रीरामायणोक्तेः। यद्वा इतस्ततो विभ्रष्ट इति लोकोक्तिः। अयुक्ताप्रशस्तप्रदेशेषु पतित इत्यर्थः। अभविष्यत्। हीत्यवधा-रणे। अपिर्भिन्नक्रमः गर्हायाम्। पक्षे सनयः नकाराभ्यां यका-रेण च युक्तः इनतनयः इनतनयशब्दः इतः इवर्णात् ततः त-वर्णाच्च विभ्रष्टः विश्लिष्टश्चेत् ननय इति निष्पद्येतेत्यर्थः। अत्र महाकुलीनोऽपि यदि भगवच्छासनमतिवर्तेत तदा लोकद्वयादपि भ्रश्येदिति सामान्ये कथनीये विशेषः कथितः। प्रदर्शितेषूदा-हरणेषु प्रायेण श्लेषसंकीर्णताऽस्त्येव। अलंकारान्तरसंकीर्णता तु तत्रतत्र यथासंभवं बुद्धिमद्भिरूहनीया॥

यथावा—

**प्राप्य नियन्तारं त्वामतिद्युपतिरर्जुनः कुरुर-णाग्रे। अपराजित एवाभूदतिद्युतिश्चापि कंसवि-ध्वंसिन्॥ १७३॥**

हे कंसविध्वंसिन्! अर्जुनः त्वां नियन्तारं सारथिं नेतारं च प्राप्य द्युपतिमिन्द्रमतिक्रान्तोऽतिद्युपतिः कुरुरणाग्रे अपराजि-तः परैरनभिभूत एव भवन् अत एव अतिद्युतिः अतितेजस्वी चाप्यभूत्। पक्षे अतिद्युपतिशब्दः पेन पकारेण राजितः न भ-

वतीत्यपराजित एव सन् अतिद्युतिरिति निष्पन्न इत्यर्थः । अत्र भगवन्तं नियन्तारं प्राप्तो जनस्सर्वत्र विजयी द्युतिमांश्च भवतीति सामान्ये प्रस्तुतेऽभिधेये अप्रस्तुतविशेषाभिधानम् ॥

यथावा —

शूरकुलकमलतरणे भूरितरे पारिजातहरणरणे । बलरिपुतुलितं भवता कुलिशं चालितमतानि कुशमेव ॥ १७४ ॥

शूरो नाम यदुवंश्यो राजा तस्य कुलमेव कमलं तस्य तरणिः द्युमणिः तस्य संबुद्धिः हे भगवन्! इदं च संबोधनं महातेजस्वितात्योतनाय । भूरितरे पारिजातहरणरणे । बलरिपुणा मघवता तुलितं उद्धृतं कुलिशं वज्रं चालितं अयथावस्थितं कृतं निर्वीर्यं कृतमित्यर्थः । 'कम्पने चलि.' इति नियमात् शैलं चालयतीत्यादाविव मित्त्वाभावात्तन्निमित्तकह्रस्वाभावः । कुशमेव अतानि तृणप्रायमेव व्यधायीत्यर्थः । पक्षे च अलितं इतिच्छेदः । अविद्यमानो लिः लिवर्णः यस्मिंस्तत् अलि अलि कृतं अलितं अलिशब्दात्तत्करोतीति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। 'निष्ठायां सेटि' इति णिलोपः । यद्वा लिः संजातोऽस्य लितं न लितं अलितं लिवर्णविधुरमित्यर्थः । इतचि 'यस्येति च' इतीकारलोपः । कुशमेव अतानि । कुलिशपदं लिवर्णापसारणेन कुशमिति निष्पादितमित्यर्थः । अत्र भगवता अखिलप्रत्यनीकसंरम्भोद्यतानि महान्त्यप्यस्त्राणि तृणवन्निस्सारीक्रियन्त इति सामान्येऽभिधेये इन्द्रोद्यतदम्भोळिदम्भोन्नतिसंभेदनरूपविशेषोऽभिहितः ॥

यथावा—

सारघमम्ब भवत्या वचनात्स्वमवरमवेत्य साघ-
मभूत्। नेयाद्यदि तु तथाऽघं सारं स्यादेव कोऽ-
त्र संदिग्धाम् ॥ १७५ ॥

हे अम्ब! सरघाभिः कृतं सारघं मधु कर्तृ। तेन कृते इत्यर्थे 'संज्ञायाम्' इत्यण् 'सरघा मधुमक्षिका' इत्यमरः। स्वं आत्मानं भवत्याः वचनात् अवरं निहीनं, पक्षे अवधूतः रः रेफो यस्मात्तत्तथाभूतं रेफविहीनमित्यर्थः। 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति धूतशब्दलोपः। अवेत्य ज्ञात्वा अघेन दुःखेन सह वर्तत इति साघं अभूत्। श्रीवचनापेक्षया स्वस्य निहीनतां विज्ञाय दुःखितमभवदित्यर्थः। 'अंहोदुःखव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः। पक्षे सारघमिति पदं रेफावधूननेन साघमिति निष्पन्नमित्यर्थः। यदि तु तथा उक्तप्रकारेण अघं नेयात् न प्राप्नुयात् तर्हि सारं श्रेष्ठं रसवदित्यर्थः। स्यादेव। न नीरसं स्यादिति भावः। पक्षे घं इतिच्छेदः। तथा एवं घं घवर्णं नेयाद्यदि सारमेव स्यात् सारघपदं घवर्णापनयने सारमित्येव निष्पद्येतेति भावः। अत्र सर्वातिशायि श्रीवचनमाधुर्यमिति सामान्ये वक्तव्ये मधुनीरसत्वरूपविशेषवचनम्॥

विशेषे प्रस्तुते सामान्यवचनं यथा—

कर्मज्ञानोपासनमर्मज्ञा ये स्वयं कृतार्थास्ते।
आकिंचन्यैकधना विना कृपां ते कथं भवन्ति
जनाः ॥ १७६ ॥

कथं कृतार्था भवन्तीति योजना । अत्र अकिंचनोऽहमुपायान्तरस्थाने स्थितेन त्वयैवोज्जीवयितव्य इति विशेषे प्रस्तुते आकिञ्चन्यैकधना इत्यादिना सामान्यमभिहितमिति सामान्यनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसा ॥

यथावा—

श्रेयोऽर्थिनामुपेयो भूयो नृणां महापुरुष एव ।
किंचिदपि वाञ्छितं स्यादकिंचनैर्वञ्चनापरैर्न परैः ॥

अत्र सकलपुरुषार्थप्रेप्सुभिरपि जनैश्श्रीनिवास एव सेवनीयो न मितंपचानि देवतान्तराणीति विशेषे वक्तव्ये तत्प्रत्यायनायाप्रस्तुतं सामान्यमुक्तमिति ध्येयम् ॥

यथावा—

कतिकति फणाभृदधिपतिगिरिपतिशेखर भवत्पदनखेन्दुम् । सन्तश्शेखरयन्तस्सर्वज्ञाश्श्वेश्वराश्शिवा नासन् ॥ १७८ ॥

अत्र भगवन्तं श्रीनिवासं प्रति त्वत्पदनखेन्दुशिरोधारणेन मम सार्वज्ञ्यादिकं सेत्स्यतीति विशेषे वक्तव्ये सामान्याभिधानम् ॥

यथावा -

शशिकरदत्तत्रपया कृपया भगवन् सुशीतलस्त्वमसि । अत एव सुशीलोऽपि श्रितावनेऽशीत एव सुतलश्च ॥ १७९ ॥

हे भगवन्! त्वं शशिकराणां दत्ता त्रपा यथा सा तया ततोऽपि शिशिरयेत्यर्थः । कृपया स्वार्थनिरपेक्षपरदुःखनिराचि-

कीर्षालक्षणया दयया सुशीतलः अतिमात्रशिशिरः असि। अत एव अस्मादेव हेतोः सुशीलोऽपि। शोभनं शीलं यस्य तथोक्तोऽपि। अपिस्समुच्चये सौशील्यवांश्चेत्यर्थः। असि। सौशील्यं नाम महतो मन्दैस्सह नीरन्ध्रसंश्लेषस्वभावत्वम्। एतच्च रामकृष्णाद्यवतारेषु गुहशबरीगोपालादिवृत्तान्तेषु प्रसिद्ध्यति। दयाशिशिरतावैधुर्ये सौशील्यस्य क्व समुन्मेषो भवेदिति तयोः कार्यकारणभावकथनम्। अत एव श्रितानां अवने रक्षणे विषये अशीतः अनलस एव 'शीतं हिमगुणे क्लीबं शीतलालसयोस्त्रिषु' इति मेदिनी। यद्वा अपिर्विरोधे। एवं दयाशिशिरतया सुशीलोऽपि श्रितावने अशीतः अशिशिरः उष्ण इति विरोधः परिहारस्त्वनलस इत्येव। सुतलश्च सुष्ठु तलति प्रतिष्ठत इति सुतलः 'तल प्रतिष्ठायाम्' इति धातोः पचाद्यच्। आश्रितरक्षणे जागरूक एव प्रतिष्ठित इत्यर्थः। यद्वा—शोभनं तलं यस्य सः सुतलः। कल्याणस्वरूपश्च असि। आश्रितपरित्राणजागरूकतयैव कल्याणस्वभावो भवसीति भावः। 'अधस्स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः। पक्षे सुशीतल इति शब्दः अत एव अविद्यमानतकारमात्रस्सन् सुशील इति निष्पद्यते। स एव अशीतः शी इति वर्णेन इतः शीतः न शीतः अशीत एव अविद्यमान शीवर्णमात्रः सुतल इति निष्पद्यत इत्यर्थः। अत्र मद्रक्षण एव जागरूकतया प्रतिष्ठितस्त्वमिति विशेषे वक्तव्ये सामान्यकथनम्॥

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधानं यथा—

**वहमाने पवमाने घनाघने चाभिमुख्यवलमाने। चातकपोतकदवभवतापाटोपो न ते चिरं स्थाता॥ १८०॥**

अत्र चातकपोतकवृत्तान्तकीर्तनं तत्सरूपे सानुग्रहमभिमुखे सदाचार्ये तदधीने च भगवत्याभिमुख्यमुपेयुषि भवतापस्तव न चिरं स्थास्यतीति प्रपन्नाश्वासनवृत्तान्ते पर्यवस्यतीति सारूप्यनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसेयम् ॥

यथावा—

मणिनामभृतः कतिकति फणिनाथगिरीश दिशिदिशि न सन्ति । चिन्तारत्नत्वं ते किं तावदमी कदाऽपि विन्दन्ते ॥ १८१ ॥

अत्र चिन्तारत्नेतररत्ननिन्दा निन्दनीयत्वेन प्रस्तुतानां मितंपचफलवितरीतॄणां भगवदितरदेवताभेदानां निन्दायां पर्यवस्यतीतीयमपि सारूप्यनिबन्धनैव ॥

श्लिष्टविशेषणाऽपीयं दृश्यते । यथा—

अनुविद्धः पत्रिगणैरुच्छ्रितमानोऽतिभीमसत्त्वाढ्यः । संख्याग्रसरश्शूरस्सुप्रथनश्श्रीनिवासतामयते ॥ १८२ ॥

अत्र श्लिष्टैर्विशेषणैरप्रस्तुतशूरपुरुषस्तुतिः स्तव्यत्वेन प्रस्तुतस्य तत्सरूपस्य शेषाद्रेः स्तवे पर्यवस्यति । शूर इति विशेष्यमत्राश्लिष्टम् । पत्रिणां शराणां खगानां च गणैरनुविद्धः ताडितः अनुबद्धश्च । उच्छ्रितः मानः चित्तसमुन्नतिः अन्यत्र मानः प्रमाणं यस्य स तथोक्तः 'मानश्चित्तोन्नतौ ग्रहे । क्लीबं प्रमाणे प्रस्थादौ' इति मेदिनी । भीमं भीमसेनं रुद्रं वा अतिक्रान्तं अतिभीमं यत् सत्त्वं बलं यस्य सः । पक्षे अतिभीमाः अतिघोराः सत्त्वाः व्याघ्रादिजन्तवः यस्मिन् स तथोक्तः ।

संख्ये युद्धे अग्रसरः। पक्षे—संख्यायां महागिरिगणनायां अग्रसरः अग्रणीः । शूरः वीरः शोभनं च तत् प्रथनं च सुप्रथनं श्लाघ्यं युद्धं तस्य श्रियः जयलक्ष्म्या. निवासतां स्थानताम्। पक्षे—शोभनं प्रथनं प्रख्यातिः यस्य स तथोक्तः। श्रीनिवासः भगवान् यस्मिन् तस्य भावं अयते इत्यर्थः ॥

यथावा—

**पद्म कृती त्वं नूनं हरिप्रसादात्सदा मुखविकासम्। अभ्येषि रसं लब्ध्वाऽऽमोदमनन्तं च विन्दसे यस्मात् ॥ १८३ ॥**

हे पद्म! 'वा पुंसि पद्मम्' इत्यनुशासनात्पुल्लिङ्गता। त्वं कृती धन्यः। यस्मात् हरेः भानोः भगवतश्च प्रसादात् प्रकाशात् अनुग्रहाच्च सदा मुखविकासं अभ्येषि। रसं मरन्दं लब्ध्वा अनन्तं अमितं आमोदं सौरभं विन्दसे। अन्यत्र 'रसो वै सः, रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति श्रुत्युक्तरीत्या आनन्दरूपं परं ब्रह्म प्राप्य शतगुणितोत्तरक्रमेणाभ्यस्यमानमानन्दं विन्दस इत्यर्थः। अत्रापि श्लिष्टैर्विशेषणैः पद्मस्याप्रकृतस्य स्तवः प्रकृते ब्रह्मविदि तत्सरूपे पर्यवस्यति । पद्मेति विशेष्यमश्लिष्टम् ॥

यथावा—

**माकन्द त्वं धन्यो माधवसक्त्यैषि सुमत आमोदभरम्। अतिरागिणमपि पल्लवमचिराद्रचयसि च साधु हरितत्त्वविदम् ॥ १८४ ॥**

हे माकन्द! रसालतरो! त्वं धन्यः । धन्यतामेवाह—माधवेति। माधवस्य वसन्तस्य सक्त्या सुमतः सुमैः सार्वविभक्तिकस्तसिः। पक्षे—माधवे भगवति सक्त्या शोभनं मतं यस्य स तथोक्तः त्रय्यन्तनिष्णातसिद्धान्तानुयायीत्यर्थः। यद्वा-सुमत आमोदमित्यत्र सुमते इति छेदः । हे सुमते! महाप्राज्ञेति माकन्दविशेषणम्। आमोदभरं आनन्दातिशयं एषि प्राप्नोषि। अतिरागिणमपि अतिरक्तिमशालिनमपि पल्लवं किसलयं अचिरात् हरितस्य भावः हरितत्वं हरिद्वर्णत्वं विन्दतीति तथोक्तं विन्दतेः क्विप्। रचयसि च। किसलयावस्थायां लोहितत्वं पत्रावस्थायां हरिद्वर्णत्वं च दळस्य प्रसिद्धम् । नवदळं किसलयं युवदळं पत्रमिति विभागः। अन्यत्र स केवलं स्वयं धन्यः। किंत्वाश्रितानविरक्तानप्युज्जीवयसीत्याह—अतिरागिणमिति। अतिरागिणं विरक्तिशून्यं पल्लवं पिद्गमपि हरेः तत्त्वं याथात्म्यं हरिरूपं तत्त्वं प्रामाणिकं वस्तु वा। हरिसंज्ञकं तत्त्वं परमात्मानं वा वेत्तीति तथोक्तम्। विदेः क्विप्। 'तत्त्वं स्वरूपे परमात्मनि' इति मेदिनी। ब्रह्मविदमित्यर्थः। रचयसि च। अत्राप्रस्तुतमाकन्दतरुप्रशंसा प्रस्तुतस्वाश्रितोज्जीवयितृब्रह्मवित्प्रशंसायां पर्यवस्यति। अत्र विशेष्यभूतो माकन्दशब्दोऽश्लिष्टः॥

एवंजातीयकेषु पद्येषु श्लिष्टविशेषणाऽप्यप्रस्तुतप्रशंसैव। न तु समासोक्तेस्तदनुग्राहकत्वं, तस्या एतदलंकारप्रत्यनीकाकारतयाऽनुग्राहकत्वायोगात्। यत्तु काव्यप्रकाशे समासोक्तेरेतदनुग्राहकत्वमभिहितं तन्न, प्रतीयमानवृत्तान्तस्य प्रस्तुतत्वे अनुग्राहिकायास्समासोक्तेरेवानुन्मेषात्। प्रस्तुतस्य वाच्यतायामेव तदभ्युपगमात्। अप्रस्तुतत्वे त्वनुग्राह्याया अप्रस्तुतप्रशंसाया एवाभावात्। अप्रस्तुतवृत्तान्तस्य वाच्यतायामेव तदङ्गीकारात्।

तस्मात् श्लिष्टविशेषणोपक्षिप्ताद्वितीयार्थमात्रं समासोक्तिरित्यभिप्रायेण यथाकथंचित्तदुक्तिस्संगमनीया। इयं च सादृश्यमूलाऽप्रस्तुतप्रशंसोच्यते। अस्यां च वाच्यार्थः क्वचित्प्रतीयमानार्थताटस्थ्येनैवावतिष्ठते। क्वचिच्च स्वगतविशेषणान्वययोग्यतामासादयितुं प्रतीयमानाभेदमपेक्षते। क्वचिच्च प्रतीयमानमपि क्वचिदंशे वाच्यतादात्म्यम्। वाच्यं च क्वचिदंशे प्रतीयमानतादात्म्यमपेक्षते॥

तत्राद्या यथा—

उच्छ्रितभूधरशिखरं कृच्छ्रादाढौकितोऽपि मा-
र्जारः। समुदग्रव्याघ्रतुलामाघ्रातुं वा कदाऽपि
किं प्रभवेत्॥ १८५॥

अत्र प्रस्तुतो मार्जारवृत्तान्तः स्वल्पप्रज्ञैः प्राज्ञंमन्यैरिदमेव त्रयीशिरस्सु जगत्कारणतया प्रतिपादितं परं ब्रह्मेति हठाज्जल्पितमपि देवतान्तरं सर्वकारणत्वनिरुपाधिकसर्वैश्वरत्वादिना त्रयीशिरस्सहस्रसन्ततजोघुष्यमाणमहामहिमोन्नतेः श्रीपतेः परस्य ब्रह्मणस्साम्यगन्धस्यापि दविष्ठमेवेति प्रस्तुतेऽर्थे पर्यवस्यति। अत्र वाच्यभूतानामर्थानां मार्जारे संभवादुपपादितप्रतीयमानार्थानध्यारोपेणैव वाच्यप्रतीतिः॥

द्वितीया यथा—

भ्रमर क्षमस्व कतिचन निमिषान्बिसकुसुम-
कोशबन्धमिमम्। जलरुहदलविदलयिता रवि-
रिह हरिहरिति किरति किरणगणम्॥ १८६॥

अत्राप्रस्तुतेन कमलकोशान्तर्निरुद्धभ्रमराश्वासनवृत्तान्तेन तत्सरूपः स्वल्पमेव कालं संसारबन्धमिमं सहस्व भगवत्कटाक्षास्त्वयि प्रत्यासन्नप्रसरा इति प्रस्तुतो भगवच्चरणारविन्दप्रपन्नाश्वासनवृत्तान्तः प्रतीयते ॥

यथावा—

रवितापशोषितापं पल्वलमभ्येत्य खल्वलं तपसि। मीन त्वं दीनत्वं विमुञ्च पुरतोऽभ्युदञ्चति घनाळी ॥ १८७ ॥

अत्राप्रस्तुतमीनसमाश्वासनवृत्तान्तेनातिमात्रदुर्गतिदूषितकुटुम्बमध्यनिवासपरितप्तं दीनं प्रति मा शुचः प्रत्यासन्ना तव श्रीरिति समाश्वासनरूपोऽर्थोऽवगम्यते ॥

यथावा—

मर्कटक वयसि सततं तन्तुभिरहमपि च तन्तुवाय इति। देवार्हांशुकवातुः का वा हानिस्ततः कुविन्दस्य ॥ १८८ ॥

मर्कटकः ऊर्णानाभो नाम क्रिमिः 'लूता स्त्री तन्तुवायोर्णानाभमर्कटकास्समाः' इत्यमरः। वयसि वस्त्रं करोषि 'वेञ् तन्तुसन्ताने' इति हि धातुः। देवार्हांशुकस्य वाता वयनकर्ता तस्य, वेञस्तृच्। शेषषष्ठ्यास्समासः। अत्राप्रस्तुतस्योर्णानाभेर्निन्दनं कुविन्दस्य प्रशंसनं च निन्दनीयत्वेन प्रस्तुते तत्तुल्ये अक्षोदक्षमासंबद्धदुर्विषयकतिपयपद्यघटयितरि कुकवौ प्रशंसनीयत्वेन प्रस्तुते भगवत्कल्याणगुणरमणीयभव्यकाव्यनिर्माणा-

लंकर्मीणे कविकुलसार्वभौमे च पर्यवस्यति। इयं च वक्ष्यमाणावशालङ्कारसंकीर्णेति विच्छित्तिविशेषः॥

यथावा—

न विशुष्यसि तपनकरैर्न च हृष्यसि हिमकरांशुभिरपि त्वम्। दुस्तरकाठिन्योऽसि प्रस्तर तव चरितविस्तरेणालम्॥ १८९॥

अत्राप्रस्तुतेन प्रस्तरवृत्तान्तेन तत्सरूपस्य निन्दनीयतया प्रस्तुतस्य भूयोभिरपि भवतापैरनभितप्तस्यासकृद्भगवत्कथामृतश्रवणादिभिरद्रवच्चित्तस्य मूर्खमूर्धन्यस्य वृत्तान्तः प्रत्याय्यते॥

यथावा—

पुष्कलकसीमगन्धा यूयं यत्रक्वाऽपि जायेध्वम्। पुष्कलसौरभ्यान्वः पुष्यति हृदये स पुष्कराक्षोऽपि॥ १९०॥

पुष्कलकस्य सीमा पुष्कलकसीमा। पुष्कलको गन्धमृगविशेषः। यं गन्धमार्जार इत्याहुः। सीमा अण्डकोशः 'अथ पुष्कलको गन्धमृगे' इति 'सीमा घटास्थितिक्षेत्रेष्वण्डकोशेऽपि च स्त्रियाम्' इति च मेदिनी। 'मनः' इति निषेधान्न नान्तलक्षणो ङीप्। तस्याः गन्धाः तत्र भवो गन्धद्रव्यविशेषः तस्य संबुद्धिः। अर्थस्यैकत्वेऽप्ययं शब्दो दाराः गृहा इतिवन्नित्यबहुवचनान्तः, 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे संबन्धगर्वयोः। स एव द्रव्यवचनो बहुत्वे पुंसि च स्मृतः' इत्यनुशासनात्। अत्र पुष्कलकसीमगन्धवृत्तान्तेनाप्रस्तुतेन निहीन-

कुलजन्मानोऽपि तत्त्वज्ञानविरक्तिभक्त्यादिशुभगुणसमृद्धिमन्तश्चे-
तनाः श्री श्रीनिवासस्य भगवतः कृपाभाजनतया मणिवरवन्नि-
त्यहृद्या भवन्तीति तत्तुल्यः प्रस्तुतवृत्तान्तः प्रत्याय्यते ॥

यथावा—

माकन्दमुखास्तरवः स्तोकं ददते फलं किमे-
तैर्नः । मन्दार महोदार त्वं दाता नूनमीप्सितादु-
धिकम् ॥ ११९ ॥

अत्राप्रस्तुतानां माकन्दादितरूणामनादरः मन्दारस्य प्रशंसा च अनादरणीयतया प्रस्तुतेषु देवतान्तरेषु प्रशंसनीयतया प्रस्तुते तत्सरूपे भगवति श्रीनिवासे च पर्यवस्यति। अत्राद्येषु त्रिषूदाहरणेषु भ्रमरमीनतन्तुवायक्रिमीणां तिरश्चां अनन्तरेषु त्रिषूदाहरणेषु प्रस्तरगन्धद्रव्यमन्दाराणामचेतनानां च संबोधनानर्हतया प्रतीयमानाध्यारोपेणैव वाच्यार्थप्रतीतेस्तत्तादात्म्यमपेक्ष्यते ॥

यथावा—

मधुकर शृणु मम वचनं मा गाः खेदं त्वम-
शुचिवर्ण इति । श्रीश्रीनिवासपद्माश्रयणेनोज्जी-
वितो यतोऽसि कृती ॥ ११२ ॥

अशुचिवर्णः नीलवर्णः अशुद्धवर्णश्शूद्रश्च । श्रीश्रियः श्रीमहालक्ष्म्याः निवासभूतं यत्पदं कमलं तस्याश्रयणेन श्रीयुक्तः यः श्रीनिवासः भगवान् पद्मा लक्ष्मीश्च तयोः आश्रयणेन च। अत्र मधुकरस्य खेदनिवारणकारणतया विशेषणमुपात्तं तच्च

न संभवति न हि मधुकरे नीलवर्णत्वं दोषः अरविन्दाश्रयणेनोज्जीवितत्वं गुणः येन तत्प्रशंसाखेदनिरासाय कल्पेत । तस्माद्वाच्यार्थस्य प्रतीयमानतादात्म्यं विशेष्यांशे विशेषणांशे चापेक्षणीयम् । पूर्वत्र अंशे इह तु साकल्येनेति विशेषः ॥

यथावा—

ननु चातक सुमहांस्त्वं स्तोकक इति मा स्म गाः क्वचिद्दैन्यम् । अमृतार्थी हरिमेव श्रयसे त्वत्तोऽधिको द्विजः कोऽन्यः ॥ ११३ ॥

स्तोककः अत्यल्पः स्तोकशब्दादल्पार्थे कन् । पक्षे—स्तोकं कायति रौतीति स्तोककः चातकः 'स्तोककश्चातकस्समौ' इत्यमरः । अमृतार्थी सलिलार्थी तृषित इत्यर्थः । पक्षे—निश्श्रेयसार्थी हरिं मघवन्तं भगवन्तं च त्वत्तोऽधिकः द्विजः खगः विप्रश्च । कः अधिकः न कोऽपि । अत्र चातकस्य दैन्यनिवारणकारणतयोपात्तं विशेषणं न संभवति । न हि चातके स्तोककत्वं दैन्यहेतुः न वा प्रथमोदबिन्दुकाङ्क्षितया मघवदाश्रयणमुत्कर्षहेतुः । येन तत्प्रशंसया वार्येत दैन्यं, अतो वाच्यार्थस्योक्तरीत्या प्रतीयमानतादात्म्यं विशेष्यविशेषणांशयोरुभयोरप्यपेक्ष्यते ॥

यथावा—

नित्यं मराळ शुचिरसि निपुणतरस्त्वं विषामृतविवेके । दक्षिणवामौ पक्षौ द्वौ श्रयसेऽधःकृतोसि तद्विधिना ॥ ११४ ॥

हे मराळ! हंस! नित्यं शुचिः शुभ्रः। पक्षे—'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः' इत्युक्तरीत्या परस्वापहाराद्यभिसन्धिविधुर इत्यर्थः। असि। विषामृतयोः नीरक्षीरयोः 'विषं तु गरले तोये' इति, 'अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिले घृते' इति च मेदिनी। विवेके पृथक्करणे। पक्षे—विषामृतशब्दौ गौण्या वृत्त्या असदर्थसदर्थपरौ। तयोः विवेके सम्यग्विमर्शे निपुणतरः। दक्षिणवामौ अपसव्यसव्यौ सरळप्रतिकूलौ च 'दक्षिणो दक्षिणोद्भूतसरळच्छन्दवर्तिषु' इति मेदिनी। 'वामा वध्वां सव्यरम्यप्रतीपेष्वेषु वाच्यवत्" इति रत्नमाला। पक्षौ गरुतौ सिद्धान्तौ च संश्रयसे तत् तस्मात् विधिना ब्रह्मणा दैवेन च अधःकृतः वाहनतयाऽधरीकृतः। पक्षे—सर्वैर्न्यक्कृतः नरके पातितो वा असि। अत्राप्रस्तुतमराळवृत्तान्तेन भगवत्तदन्यपरसिद्धान्तद्वयस्यापि तुल्यतया स्वीकर्तुः कस्यचिद्बहुशाखमतेः कोविदंमन्यस्य गुणप्रख्यापनपूर्वकमुपालम्भो द्योत्यः। तत्राप्रस्तुते मराळे शुचित्वादिना प्रशंसाया वा दक्षिणवामपक्षाश्रयणादिना निन्दाया वा असंभवादुपदर्शितप्रकारेण वाच्यार्थस्य द्योत्यार्थतादात्म्यं विशेष्यांशे विशेषणांशे चापेक्षणीयम्॥

यथावा---

**अपि शाखिनो जटाला वटा इमे नीरसे फले रक्ताः। तत्फलकामैरेव स्तोमैः पततां च बत निषेव्यन्ते ॥ १९५ ॥**

इमे वटाः न्यग्रोधतरवः वक्ष्यमाणरीत्या फलकामिन इति च व्यज्यते। शाखिनः शाखाशालिनः जटाला अपि शिफान्विताश्च सन्तः नीरसे रसविधुरे फले स्वकीयफले रक्ताश्शो-

णवर्णा भवन्ति। प्रसिद्ध्यति हि ताद्विध्यं तत्फलानाम्। पक्षे—शाखिनः वेदभागाध्येतारः जटालाः जटान्वितास्तापसा अपीत्यर्थः। 'शाखापक्षान्तरे बाहौ वेदभागद्रुभागयोः' इति, 'जटा लग्नकचे मूले' इति च मेदिनी। नीरसे तुच्छानन्दे फले पशुपुत्रस्वर्गादिप्रयोजने रक्ताः आसक्ताः भवन्ति। तत्फलकामैः तथाविधनीरसफलकामैरेव पततां पक्षिणां, अधःपातिनां जनानां च स्तोमैः व्रजैः निषेव्यन्ते च। बतेति तदनौचित्यचिन्तनजनितखेदे। अत्र न्यग्रोधानां श्लाघनपूर्वकनिन्दनहेतुतयोपात्तं विशेषणमसंभावि। न हि शाखित्वं जटालत्वं च श्लाघनहेतुः, नापि शोणवर्णनीरसफलत्वं तादृशफलसक्तविहगनिषेव्यत्वं च निन्दनहेतुः, येन तादृग्गुणश्लाघनपूर्वकं ते निन्द्येरन्। अतो वाच्यार्थस्य उपपादितरीत्या व्यज्यमानतादात्म्यंच विशेष्यविशेषणांशयोरपेक्ष्यते पूर्ववत्॥

तृतीया यथा—

अनुकूलभूरिदाशानतिबलभावारिमुहुरुदितभङ्गान्। मत्स्याः कथमगभीरांस्तुच्छानाश्रयथ हन्त कासारान्॥ ११६॥

कूले अनुकूलं तीरे भूरयः बहुलाः दाशाः कैवर्ताः येषां तान्। पक्षे—अनुकूलानां स्वाश्रितानां भूरि बहुलं वस्तु सुवर्णं वा दाशन्तीति भूरिदाशाः तान् 'दाशृ दाने' कर्मण्यण्। अतिबलस्य समीरणस्य भासा प्रभावेन 'प्रकम्पनश्चातिबलः' इत्यमरः। 'भाः प्रभावे मयूखे स्त्री' इति मेदिनी। वारिणि सलिले मुहुः शश्वत् उदिताः उत्सृत्वराः भङ्गाः तरङ्गाः येषां

तान्। अन्यत्र बलस्य सामर्थ्यस्य भावः सत्ता अतिशयितः बलभावो येषां ते अतिबलभावाः ये अरयः वैरिणः दैत्यादयः तैः मुहुः असकृत् उदितः भङ्गः पराभवो येषां तान्। स्पष्टमन्यत्। अत्राप्रस्तुततुच्छकासारतदाश्रितमत्स्योपालम्भेन प्रस्तुतभगवदितरक्षुद्रदेवतदुपासकोपलम्भः प्रत्याय्यः। तत्र यथा अगभीरत्वं तुच्छत्वं च वाच्यप्रतीयमानयोरुभयोरप्याश्रयणानौचित्ये निमित्तं, न तथा अनुकूलभूरिदाशत्वातिबलभावारिमुहुरुदितभङ्गत्वे; यतोऽनुकूलभूरिदातृत्वं प्रतीयमानक्षुद्रदेवरूपार्थे न दोषः प्रत्युत गुण एवेति तदंशे वाच्यभूतकासारतादात्म्यमपेक्ष्यते। कासारेषु च अतिबलभावारिमुहुरुदि भङ्गत्वांशे प्रतीयमानक्षुद्रदेवतादात्म्यं, मारुतप्रभावहेतुकजलजनिततरङ्गत्वस्य कासारत्यागाननुगुणत्वात् प्रत्युत तदाश्रयणानुगुणत्वात्॥

यथावा -

वाताशनानुयातामेतां सूनश्रियाऽतिविख्याताम्। भ्रमर किमर्थं भजसे भ्रमन्नरण्येषु केतकीं भ्रातः॥ ११७॥

वाताशनैः व्यालैः मुनिभिश्च अनुयातां उपाश्रितां सूनानां प्रसूनानां श्रिया समृद्ध्या सूनया सुतरां ऊनया हीनया श्रिया संपदा अतिविख्यातां परदेवतापेक्षया अत्यल्पवैभवेति जगद्विदितामित्यर्थः। अत्र कस्यचित्पुरुषस्य परदेवतेतरक्षुद्रदेवताभजनं तव निष्फलमिति द्योत्यम्। तत्र वाच्यप्रतीयमानयोः केतकीक्षुद्रदेवतयोरुभयोरपि भजनानौचित्ये हेतुतयोपात्तं विशेषणमसंभावि। यस्मात् सूनाश्रियाऽतिविख्यातत्वं केतक्यामदोषः। यावता गुण

एव, कुसुमसमृद्धिमत्ताया भजनानुगुणत्वात् । तदंशे क्षुद्रदेवतातादात्म्यमपेक्ष्यं, क्षुद्रदेवतायां च केतकीतादात्म्यं, तापसाश्रितत्वस्य तत्त्यागानुगुणत्वात् । यावता तद्भजनानुगुणत्वात् । एवमन्योन्यतादात्म्यावलम्बनेन वाक्यार्थस्सिद्ध्यतीति ध्येयम् ॥

अयं तृतीयः प्रकारस्सादृश्यमूलाप्रस्तुतप्रशंसाया रसगङ्गाधरानुरोधेन दर्शितः । काव्यप्रदीपादौ तु इयं सारूप्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसा त्रिधा । क्वचिद्वाच्यार्थे प्रतीयमानार्थानध्यारोपमात्रेण । क्वचित्प्रतीयमानाध्यारोपेण । क्वचित्तु अंशभेदेन तदध्यारोपानध्यारोपाभ्यामिति त्रैविध्यमभिहितम् । तत्राद्ये प्रकारद्वये न वैलक्षण्यं, तृतीये तु प्रकारे किंचिदस्ति वैलक्षण्यम् । तत्रेदमुदाहरणम् ॥

**प्रथममनिद्रा स्वपदे सा द्राक्षा क्षान्तिमत्त्वमुपयाता । प्राप्ताऽथ कृष्णरूपं फले रसघना च कियदिदं भाग्यम् ॥ ११८ ॥**

सा प्रसिद्धा द्राक्षा मृद्वीका प्रथमं आदौ स्वपदे स्ववाचकशब्दे अनिद्रा निर्गतौ द्रा इति वर्णौ यस्यास्सा न भवतीत्यनिद्रा 'निवातपद्मास्तमितेन' इत्यादाविव निशब्देन समासः । आदौ द्रावर्णसहितेत्यर्थः । अर्थगतस्य स्त्रीत्वस्य शब्दे आरोपः । क्षा इत्याकारकवर्णः अन्तिमो यस्य तदिति सामान्ये नपुंसकम् । तस्य भावः क्षान्तिमत्त्वं 'अनचि च' इति तकारस्य द्वित्वम् । उपयाता क्षाकारान्वितपश्चार्धेत्यर्थः । फले अथ कार्त्स्न्येन कृष्णरूपं असितवर्णतां प्राप्ता फलपरिणामदशायां तथाविधत्वात्तस्याः । रसघना रससान्द्रा च भवति । पक्षे स्व-

पदे स्वत्राणे स्वव्यवसाये च 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। स्वोज्जीवने तदर्थमुपायानुष्ठाने चेति भावः। अनिद्रा अप्रमत्ता अत एव क्षान्तिमतो भावः क्षान्तिमत्त्वं 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' इत्युक्तरीत्या तितिक्षुत्वम्। इदमुपलक्षणं समाहितत्वादेः। अनेनोपायानुष्ठानपूर्तिरुक्ता। अथ फले फलदशायां कृष्णरूपं भगवत्सारूप्यं प्राप्ता उपायानुष्ठानानुरूपं फलं प्राप्तवतीत्यर्थः। रसघना परिपूर्णब्रह्मानुभवानन्दमेदुरा च भवति। अस्याः भाग्यं इदं भाग्यं कियत् वचसामगोचरमिति भावः। अत्र द्राक्षायां प्रथमं स्वपदे अनिद्रात्वं क्षान्तिमत्त्वं च प्रशंसाहेतुत्वेन वाच्ये। न च ते तद्धेतुभूते तदंशे प्रतीयमानब्रह्मविद्व्यक्तव्यध्यारोपापेक्षा। फले कृष्णरूपावाप्तिः रसघनात्वं च प्रशंसाहेतुरेवेति तदंशे नाध्यारोपः॥

यथावा—

आपातमधुरनीरसदुर्ग्रहकर्कशफलेन तालेन।
उद्विजमानेन मनाक्स्पर्शनतः कीर किमिव साधयसे॥ १११॥

कीर! हे शुक! आपाततः आमुखतः मधुराणि अन्ततो नीरसानि अथापि दुर्ग्रहाणि असुलभानि गृहीतत्वेऽपि कर्कशानि कठोराणि अनुभवदशायां क्लेशापादकानि च फलानि यस्मिन् तेन स्पर्शनतः मारुतात् मनाक् ईषदेव उद्विजमानेन चलता कर्कशपत्रत्वादिति भावः। पक्षे मनाक्स्पर्शनतः अत्यल्पवितरणादपि उद्विजमानेन बिभ्यता अतिमात्रलुब्धेनेत्यर्थः। 'ओ विजी भयचलनयोः' इति तौदादिकाद्धातोश्शानच्। प्रायेणायं धातु-

रुत्पूर्वः। तालेन तालतरुणा किंनु साधयसे न किमप्यनेन तव प्रयोजनं सिद्ध्येदिति भावः। अत्राप्रस्तुतश्शुकं प्रति हितोपदेशो भगवदनादरेण क्षुद्रदेवानां लुब्धनृपालानां वा सेवनाय प्रवर्तमाने कस्मिंश्चित्पुरुषे विषये पर्यवस्यति। तत्र तालतरोरापातमधुरत्वादिविशिष्टफलदातृत्वमुपालम्भहेतुरेवेति तदंशे द्योत्यमानक्षुद्रदेवतालुब्धनृपालाध्यारोपो नावश्यकः। मनाक्स्पर्शनोद्विजमानत्वे तु तदध्यारोप आवश्यकः। मारुताद्यत्किञ्चिच्चलनस्योपालम्भाहेतुत्वादित्यंशे अध्यारोपः अंशे तदभावश्च॥

यथावा—

**अतिवृत्तोऽपि सरन्ध्रोप्यग्रसरो यदसि परगुणग्रथने। श्रीनायकभाक्तदसावसि मणिगण हृद्य एव सुदृशां त्वम्॥१०००॥**

हे मणिगण! त्वं अतिवृत्तोऽपि अतिवर्तुलोऽपि सरन्ध्रोऽपि सुषिरोऽपि यत् यस्मात् श्रीयुक्तो नायकः श्रीनायकः हारमध्यमणिः तं भजतीति तथोक्तः। 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारः मध्यमणावपि' इति मेदिनी। परः श्रेष्ठः यो गुणः तन्तुः स्वर्णमय इति भावः। तस्य ग्रथने संदर्भे तत्स्यूतत्वे सतीत्यर्थः। अग्रः श्रेष्ठः सरः हारः भवसि। तत् तस्मादेव असौ त्वं सुदृशां ललनानां हृद्यः वक्षस्स्थः हृदयशब्दाद्भवार्थे 'शरीरावयवाच्च' इति यत्। असि। वर्तुलत्वेऽपि सुषिरत्वेऽपि नायकमणिघटित उत्तमतन्तुस्यूत एव हारतामापन्नो मृगाक्षीणां हृदयमधिवससि नान्यथेति भावः। पक्षे—अतिक्रान्तो वृत्तं अतिवृत्तोऽपि दुराचारोऽपि अत एव सरन्ध्रोऽपि स

दोषोऽपि 'रन्ध्रं तु दूषणे श्वभ्रे' इति मेदिनी । यत् यस्मात् श्रीनायकः श्रीनिवासः तं भजतीति तथोक्तः तद्भक्तिमानित्यर्थः । परस्य तस्यैव परमात्मनः गुणानां सार्वज्ञ्यसत्यसंकल्पत्वसौशील्यादीनां कल्याणगुणानां ग्रथने तद्विषयकग्रन्थरचने अग्रसरः प्राथमिकः भवसि । तत्तस्मात् असौ त्वं सुदृशां विदुषां हृद्यः हृदयप्रिय एव असि 'हृदयस्य प्रियः' इति यत् । अत्र प्रथमेन पादेन 'अपिचेत्सुदुराचारः' इत्यस्य, द्वितीयेन तृतीयेन च 'भजते मामनन्यभाक्' इत्यस्य, चतुर्थपादखण्डेन 'साधुरेव स मन्तव्यस्सम्यग्व्यवसितो हि सः' इत्यस्य च गीतावचनस्य समग्रस्यार्थोऽनुसंहितः । अत्रातिवृत्तत्वसरन्ध्रत्वे मणिगणस्य न दोषः प्रत्युत? अतिवर्तुलत्वस्य रन्ध्रवैशिष्ट्यस्य च हारघटनानुगुणत्वात् । तस्मात्तदंशे प्रतीयमानपुरुषावशेषाध्यारोपोऽपेक्ष्यः । श्रीनायकभाक्त्वपरगुणग्रहणाग्रसरत्वसुदृग्जनहृद्यत्वेषु न तदध्यारोप इति ध्येयम् ॥

एवं काव्यप्रकाशाद्यनुरोधेनाप्रस्तुतप्रशंसा निरूपिता । रसगङ्गाधरकारस्तु—'अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसा' इत्यप्रस्तुतप्रशंसां लक्षयित्वा 'इयं पञ्चधा, अप्रस्तुतेन स्वसदृशं प्रस्तुतं गम्यते यस्यामित्येका' इत्यादिना तस्याः पञ्च प्रकारान् प्रदर्श्य तदुदाहरणानि च प्रपञ्च्य "एवं पञ्चप्रकारेयमप्रस्तुतप्रशंसा प्राचामनुसारेण निरूपिता । वस्तुतस्तु प्रथमस्याप्रस्तुतप्रशंसाप्रकारस्य नानाविधत्वं संभवति । यत्रात्यन्तमप्रस्तुतेन वाच्येन प्रस्तुतं गम्यते स प्रकारो गदितः । एवं यत्र स्थलविशेषे वृत्तान्तद्वयमपि प्रस्तुतं सोऽप्येकः । यथा जलक्रीडाप्रकरणे भ्रमरकमलिन्यादिषु पुरस्स्थितेषु नायके च

स्वनायिकायामनुरक्ते पार्श्ववर्तिनि नायिकासख्याः कस्याश्चिदुक्तौ--

मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि ।

त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर कथं वा सरोजिनीं त्यजसि ॥

इति पद्ये अथात्र कथमप्रस्तुतप्रशंसा? वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वेन तल्लक्षणानालीढत्वादिति चेन्न, अप्रस्तुतशब्देन हि मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तार्थो विवक्षितः । स च क्वचिदत्यन्ताप्रस्तुतः क्वचित्प्रस्तुतश्चेति न कोऽपि दोषः । न च ध्वनिमात्रस्याप्रस्तुतप्रशंसात्वापत्तिरिति वाच्यम् । अत एव लक्षणे सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेणेति विशेषणमुपात्तमिति विभावनीयम् । एतेन द्वयोः प्रस्तुतत्वे प्रस्तुताङ्कुरनामाऽन्योऽलंकार इति कुवलयानन्दाद्युक्तमुपेक्षणीयम् । किंचिद्वैलक्षण्यमात्रेणैवालंकारान्तरताकल्पने वाग्भङ्गीनामानन्त्यादलंकारानन्त्यप्रसङ्ग इत्यसकृदावेदितत्वात् ॥

इदं तु बोध्यम्--अत्यन्ताप्रस्तुतस्य वाच्यतायां तस्मिन्नपर्यवसितयाऽभिधया प्रतीयमानार्थस्य बलादाकृष्टत्वेन ध्वनित्वं न निर्बाधम् । द्वयोः प्रस्तुतत्वे तु ध्वनित्वं निर्विवादमेव । एवं सादृश्यमूलप्रकारे द्वैतम् । कार्यकारणभावसामान्यविशेषभावमूलाश्चत्वारः प्रकारा गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव भेदाः । अभिधादिस्पर्शलेशशून्यस्य केवलागूरणमात्रस्य ध्वनिप्रयोजकत्वात् ॥

अथ

आपेदिरेऽम्बरभुवं परितः पतङ्गा-
भृङ्गा रसालकुसुमानि समाश्रयन्ते ।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु ॥

अत्र क्षीणराजादितदेकावलम्बिपुरुषादिवृत्तान्ते प्रस्तुते अप्रस्तुतप्रशंसैवेति निर्विवादम् । यदा तु सरोवृत्तान्तो राजवृत्तान्तश्चेत्युभयं प्रस्तुतं तदाऽपि प्रागुक्तदिशा सैव । यदा तु सरोवृत्तान्त एव प्रस्तुतस्तदा गुणीभूतराजवृत्तान्तरूपव्यङ्ग्येऽस्मिन्पद्ये कोऽलंकारः? न तावदप्रस्तुतप्रशंसा प्रस्तुतस्यैव प्रशंसनात् । नापि समासोक्तिः तज्जीवातोर्विशेषणसाम्यस्य सकलालंकारिकसंमतस्यात्राभावात् । न च विशेषणसाम्यप्रकार इव शुद्धसादृश्यमूलेऽपि तस्या एव प्रकारो वाच्यः । एकधर्मालीढत्वमन्तरेणैकालंकारत्वे सर्वेषामेकालंकारत्वापत्तेः । व्यवस्थापकैस्तद्भेदताया अनुक्तेश्च । अत एवालंकारसर्वस्वकारादिभिर्विशेषणवाचिशब्दसाम्यं संरक्ष्यैव समासान्तराश्रयणेन सादृश्यमूलत्वं प्रदर्शितं, न तु तदुपेक्ष्येति चेत्—उच्यते । अप्रस्तुतप्रशंसैवात्रालंकारः । अप्रस्तुतस्य प्रशंसेति न तदर्थः । किंत्वप्रस्तुतेनेति । सा चार्थात्प्रस्तुतस्यैव । एवंच वाच्येन व्यक्तेन वा अप्रस्तुतेन वाच्यं व्यङ्ग्यं वा प्रस्तुतं यत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेण प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसेति तत्राप्यप्रस्तुतप्रशंसेति । न तु वाच्येनैव व्यङ्ग्यमेव" इत्यभाणीत् । एवंच 'पुरा यत्र स्रोतः' इत्यादावप्यप्रस्तुतेन व्यक्तेन विपर्यस्तधनसन्तानादिसमृद्ध्यसमृद्धिकुटुम्बिसमाश्रयग्रामनगरादिनाऽर्थेन नदीस्रोतःपुलिनतरुघनविरलभावविपर्यासवद्वनरूपप्रस्तुतार्थस्य प्रशंसेति तत्राप्यप्रस्तुतप्रशंसैवेति तदाशयः ॥

अलंकारसर्वस्वकारस्तु—'यदत्र सामान्यविशेषत्वेन कार्यकारणत्वेन सारूप्येण च यद्भेदपञ्चकमुद्दिष्टं तत्र द्वयोस्सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यदा वाच्यत्वं भवति तदाऽर्थान्तरन्यासाविर्भावः । सारूप्ययोस्तु वाच्यत्वे दृष्टान्तः । अप्रस्तुतस्य

वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वथा अप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः' इत्यवादीत् ॥

एतन्मते तु 'पुरा यत्र स्रोतः' इत्यादौ प्रस्तुतस्यैव वाच्यत्वेन अप्रस्तुतस्य गम्यत्वेन च समासोक्तिरेवेत्यलं पल्लवितेन ।

किंच 'वैधर्म्येणापीयं दृश्यते' इत्युक्त्वा 'धन्याः खलु वने वाताः' इत्युदाहार्षीत् । तदनुरोधेन इदमुदाहरणम्—

**ते मान्यास्ते धन्याः येऽनन्याः पन्नगाद्रिमूर्धन्यान् । भून्नः कांश्चिदवन्यां तरवोऽप्यर्चन्ति निजसुमैर्धन्याः ॥ १००१ ॥**

अत्र ते मान्यास्ते धन्या इत्याद्यप्रस्तुतात् श्रीनिवासमनर्चन्तो मानवजन्मभाजोपि चेतना अमान्या अधन्या इति वैधर्म्येण प्रतीयते । मम्मटादयस्तु 'धन्याः खलु वने वाताः' इत्यत्र वातस्तुत्या स्वनिन्दाप्रतीतेः व्याजस्तुतिरेव युक्तेत्याहुः । तदा अस्मदुदाहृतमिदमपि पद्यं व्याजस्तुतेरेवोदाहरणतामर्हतीति ध्येयम् ॥

इत्यलंकारमणिहारे अप्रस्तुतप्रशंसासरः एकोनत्रिंशः

## अथ प्रस्तुताङ्कुरसरः.

प्रस्तुतस्य प्रस्तुतेन व्यञ्जने प्रस्तुताङ्कुरः ॥

यत्र प्रस्तुतेन वर्ण्यमानेनाभिमतमन्यत्प्रस्तुतं द्योत्यते तत्र प्रस्तुताङ्कुरनामाऽलंकारः । तथाच प्रधानभूतप्रस्तुतान्तराभिव्यञ्जकं प्रस्तुतवर्णनं प्रस्तुताङ्कुरालंकार इति सिद्धम् । प्रस्तुतस्याभिव्यञ्जकत्वादङ्कुर इवाङ्कुर इति व्युत्पत्तेरन्वर्थनामाऽयम् ॥

यथा—

अयि गिरितटि समयेऽस्मिन् घनमिममुद्बर्हिबर्हमाश्लिष्य । न किमपि वेत्सि त्वय्यप्यतिचपलोऽयं कियच्चिरं स्थाता ॥ १००२ ॥

इह प्रावृषि वनविहारावसरे श्रीकृष्णपरिरम्भसुखपारवश्येन तृणीकृतान्यवनितां कांचिद्गोपललनां प्रति तेन पूर्वं विप्रलब्धायाः कस्याश्चिद्गोपिकाया वचने गिरितटीं संबोध्य एवमाहेति वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वम् । न चानामन्त्रणीयामन्त्रणेन वाच्यासंभवादप्रस्तुतमेव वाच्यमिह सदृशप्रस्तुतद्योतनाय निर्दिष्टमिति वाच्यम्, 'कर्णिकार त्वया दृष्टा, वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती' इत्यादौ चित्तविक्षेपादिभिरनामन्त्रणीयामन्त्रणस्यापि दर्शनेन तस्यातिमात्रमसंभावितत्वस्य दुर्वचत्वात् । एवं प्रस्तुतेन गिरितटीकर्मकोपालम्भरूपवाच्यार्थेन वक्र्यास्तस्याः अतिचपलममुं नन्दनन्दनमुपगूह्य धन्यंमन्यतयाऽन्याः किमर्थम-

वमन्यसे त्वय्यपि वाऽसौ कियन्तमवधिमनुरज्योदिति तां प्रत्युपालम्भः प्रस्तुत एव द्योत्यते । अत्र प्रतीयमानार्थे घनमित्यस्य विपरीतलक्षणया अगभीरमित्यर्थः । उद्बर्हिबर्हमिति वाच्यार्थपक्षे उन्नीतानि विकासितानि बर्हिबर्हाणि येन स इति । प्रतीयमानपक्षे उत्तंसितमयूरपिञ्छमित्यर्थः । न किमापि वेत्सीत्येतत् वाच्यगिरितटीपक्षे घनच्छन्नत्वेनौपचारिकम् । प्रतीयमाननायिकापक्षे तु आनन्दपारवश्येन न किमपि जानासीत्यभिप्रायकम् । अतिवेला चपला विद्युत् यस्मिन्निति वाच्यपक्षे । व्यङ्ग्ये त्वतिचञ्चलप्रकृतिरिति ॥

यथावा—

उच्चैर्विभवस्थानं त्वत्पादसमाश्रयो हि शाखिगणः । सानुगता भजति श्रीस्त्वामस्त्यहिशैल को महांस्त्वत्तः ॥ १००३ ॥

हे अहिशैल! तव पादाः प्रत्यन्तगिरयः पादौ चरणौ च आश्रयो यस्य सः । शाखिनां तरूणां शाखाध्येतृणां विप्राणां च गणः उच्चैः वीनां पक्षिणां भवस्थानं जन्मभूः तत्र कृतनीडत्वात्तस्येति भावः । उन्नतस्य विभवस्य स्थानं च भवति । सानूनि प्रस्थान् गता प्राप्ता श्रीः शोभा । अन्यत्र सा जगन्मातृत्वादिना प्रसिद्धा श्रीः लक्ष्मीः अनुगता 'छायेवानुगता तव' इत्युक्तरीत्या अनुव्रता सती भजति । त्वत्तः एवंविधात् भवतोऽपि को महान् पृथुलः । पक्षे महाविभूतेः श्रियः पत्युरन्यः को महनीय इत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतेनाहिशैलवृत्तान्तेन प्रस्तुतश्रीनिवासवृत्तान्त एव द्योत्यते । वाच्यव्यङ्ग्ययोरुभयोरपि सेव-

नीयतया प्रस्तुतत्वम् । न चात्र प्रकृताप्रकृतश्लेषशङ्का कार्या, विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्व एव तदुन्मीलनात् अत्र च विशेष्यस्याश्लिष्टत्वादिति ॥

यथावा—

स्पर्शन एष स्पृहयति घनमाच्छादितवृषाद्रिमपनेतुम् । पश्य सखीति प्रावृषि पतिगिरमाकर्ण्य नम्रवदना श्रीः ॥ १००४ ॥

स्पर्शनः मारुतः स्पर्शकर्तेत्यपि गम्यते । अत्र प्रस्तुतेन वर्षानिलकर्तृकघनापनयनस्पृहावृत्तान्तेन प्रस्तुत एव प्रावृषि श्रिया विहरतो भगवतस्स्वप्रेयसीपयोधरकञ्चुकापसारणस्पृहारूपवृत्तान्तः प्रत्याय्यते । सखि पश्य प्रावृषीति निर्देशाद्वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वं स्फुटम् । प्रस्तुतान्तरद्योतनं च पतिगिरमाकर्ण्य नम्रवदनेत्यनेन उत्तरार्धे कविनैवाविष्कृतम् ॥

यथावा—

घनचापलतां चपलाश्लिष्टोवहसेऽम्बुद स्थिरा तव दूरे । नीरदलक्ष्यात् क्षितिरिति निगदन्ती शौरिणाऽभिपरिरेभेऽलम् ॥ १००५ ॥

हे अम्बुद! चपलया तटिता श्लिष्टः घनां चापलतां इन्द्रधनुर्लतां वहसे । स्थिरा भूः तव दूरे तव व्योम्न्यवस्थानादिति भावः । पक्षे—चपलया चञ्चलशीलया श्रियाऽऽश्लिष्टः 'चपला कमलाविद्युत्पुंश्चलीपिप्पलीषु च' इति विश्वः । अत एव घनं चापलं यस्य स तथोक्तः । तत्तां वहसे तव एवं-

विघ्नस्य भवतः स्थिरा अचञ्चलशीला भूदेवी अहमिति भावः दूरा उपेक्षणीयपक्षे निक्षिप्ता। चपलोपगूढस्य चपलशीलस्य तव स्थिरानुरागः कथमिव संभवेदिति भावः। अत्र वर्षासु घनाघनं प्रति भूदेव्या वचनेन प्रस्तुतेन लक्ष्म्यामेव प्रेमभूमानं विदधानेन त्वयाऽहमुपेक्षिषीति प्रस्तुत एव श्रीनिवासं प्रस्तुतपालम्भो द्योत्यते। अत्राम्बुदेति संबोधनेन वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वं स्फुटमेव। प्रस्तुतान्तरद्योतनं च उत्तरार्धे कविनैव स्फुटीकृतम्॥

यथावा—

सविधगतेऽपि च दयिते नवनीरदमेव पश्यति मयूरी। इति गदिते प्रावृषि वनभुवि गोपी दृशमवाञ्चिचत्कृष्णात्॥१००६॥

इति गदिते कयाचिदिति शेषः। गोपी गोपवधूः कृष्णात् दृशं स्वां दृष्टिं अवाञ्चिचत् अवातीतरत्। अवपूर्वकात् ण्यन्तादञ्चतेः कर्तरि लुङि चङ्। अत्र गोपानां वनविहारावसरे प्रावृषि मयूरीं निर्दिश्य कस्याश्चिदुक्त्या प्रस्तुतगोचरया स्वदयितमप्यनादृत्य नन्दनन्दनमेव सानुरागं विलोकमानाया गोपललनाया वृत्तान्तः प्रस्तुत एव द्योत्यते। प्रावृषि वनभुवीति निर्देशो वाच्यार्थस्य प्रस्तुततामवगमयति। प्रस्तुतान्तरद्योतनं च दृशमवाञ्चिचत्कृष्णादिति कविनैवाविष्कृतम्। अत्र पूर्वोदाहरणद्वयापेक्षया द्योतितस्य कविनाऽऽविष्करणं स्फुटतरम्॥

अत्राद्योदाहरणयोर्लोचनकारमते अन्यापदेशध्वनिः। स हि— ‘किं भृङ्ग सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया। अन्यासु ता-

वदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनस्सुमनोलतासु । बालामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमालिकायाम्' इति प्रस्तुताङ्कुरोदाहरणयोरन्यापदेशध्वनिमाह । तथाहि –'अप्रस्तुतप्रशंसायां वाच्यार्थोऽप्रस्तुतत्वाद्वर्णनीय इति तत्राभिधायामपर्यवसितायां तेन प्रस्तुतार्थव्यक्तिरलंकारः । इह तु वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वेन तत्राभिधायां पर्यवसितायामर्थसौन्दर्यबलेनाभिमतार्थव्यक्तिर्ध्वनिरेव' इति । अयं भावः – अप्रस्तुतप्रशंसायां वाच्यार्थस्यावर्णनीयतया कविसंरम्भागोचरत्वात्कविसंरम्भसीमावधिः प्रस्तुतवृत्तान्त एवेति तस्य व्यङ्ग्यस्य प्रतीताविव तात्पर्यपर्यवसाने अभिधाया अपर्यवसानान्न ध्वनिसंभव इति । तत्राप्रस्तुतप्रशंसालंकारसंभवेऽपि उपदर्शितोदाहरणयोर्न तत्संभवः । वाच्यार्थस्य प्रस्तुततया कविसंरम्भस्य तत्र विश्रान्त्या अभिधायांस्तत्रैव पर्यवसितत्वेन व्यङ्ग्यार्थस्य विषयसौन्दर्यबलेन लब्धप्रसरस्य वाच्यकक्ष्यामतीत्य भासमानत्वात्। अतोऽत्रान्यापदेशध्वनिरेव युक्त इति ॥

'वस्तुतस्तु अयमलंकार एव न ध्वनिरिति व्यवस्थापितं चित्रमीमांसायाम्' इति कुवलयानन्दे दीक्षिताः । अयमभिप्रायः— समासोक्तौ तावद्वाच्यस्य वृत्तान्तस्य प्रस्तुततया कविसंरम्भगोचरत्वेनाभिधायां पर्यवसितायामपि विशेषणसाम्यबलेनाप्रस्तुतवृत्तान्तावगतावपि प्रस्तुतधर्म्यध्यारोपेण वाच्यार्थसौन्दर्यावहतया यथा न ध्वनित्वं, यथा वा अप्रस्तुतप्रशंसायामप्रस्तुतसामान्यविशेषभावादिसंबन्धेन प्रतीयमानस्य प्रस्तुतस्य वाच्योपस्कारकत्वेन न ध्वन्यन्तर्भावः, तथेहापि भृङ्गोपालम्भे वाच्ये अभिधापर्यवसानेऽपि व्यङ्ग्यप्रियतमोपालम्भस्सारूप्येण प्रतीयमानोऽपि कविसंरम्भगोचर एवेत्युभयोस्तुल्यतया प्राधान्यात्स-

मप्राधान्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यतैव युक्ता। किंच वाच्यस्याप्राधान्ये व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यविवक्षायामेव ध्वनिरिति हि सिद्धान्तः। न चेह व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमस्ति तथात्वे तस्याविवक्षितत्वापत्त्या अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यध्वन्यन्तर्भावोक्त्ययोगादिति। अत उक्तोदाहरणयोरन्यापदेशध्वनेरयुक्तत्वात्प्रस्तुताङ्कुर एवोचित इति। तृतीयचतुर्थपञ्चमोदाहरणेषु तु अलंकारतायां न कस्यापि विप्रतिपत्तिः। उक्तं हि ध्वनिकारेण—

शब्दार्थशक्त्याऽऽक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवालंकृतिर्ध्वनेः॥

इति। एतानि सादृश्यनिबन्धनान्युदाहरणानि। संबन्धान्तरनिबन्धनान्यपि कथंचिद्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रस्तुतत्वावलम्बनेनोदाहार्याणि तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

एकेन मुखेन त्वां स्तुवीत यः कविरुदारधीर्भगवन्। चत्वारि पञ्च षड्वा यात्वा वदनानि पूज्यते स सुरैः॥१००७॥

अत्र विधित्वशिवत्वस्कन्दत्वानीव तदवयवतया उदाहृतवाक्यवाच्यानि चत्वारि पञ्च षडाननान्यपि श्रीश्रीनिवासस्तुतिमहिमप्रयुक्ततया वर्णनीयानीति तन्मुखेन कृत्स्नं विधित्वं शिवत्वं स्कन्दत्वं च गम्यत इत्यवयवावयविभावनिबन्धनोऽयं प्रस्तुताङ्कुरः॥

यथावा—

मुखलावण्यसुधाम्बुधिमध्यसमुद्भूतबुद्बुदनिभायाः। भायासुस्ता मुक्ता भगवद्वदने ललाटिकासक्ताः॥१००८॥

बुद्बुदनिभाः याः इतिच्छेदः । ललाटे भवोऽलंकारो ललाटिका 'तत्र भवः' इत्यधिकारे 'कर्णललाटात्कनलंकारे' इति कन् । अत्र वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतानां भगवल्ललाटिकामुक्ताफलानां वदनलावण्यसुधाम्बुधिबुद्बुदतया संभावनात्तत्कारणीभूतवदनलावण्यसमृद्धिरनवधिका प्रतीयते । साऽपि वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतैव । अत्र वदनलावण्यसमृद्धेः तद्बुद्बुदत्वेन संभाव्यमानानां मौक्तिकानां च अवयवावयविभावः प्रकृतिविकृतिभावो वा संबन्धः ॥

यथावा—

अतिवेलतया प्रवहन्नभितो हरिदिव्यविग्रहद्वीपम् । श्रीतनुलावण्याम्बुधिपरिवाहः पीतमम्बरं नूनम् ॥ १००९ ॥

अत्र वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतस्य पीताम्बरस्य लक्ष्मीदिव्यविग्रहलावण्याम्बुधिपरीवाहत्वोत्प्रेक्षणेन निर्भरसलिलबुभरतटाकतत्परिवाहनिमित्तभूता तद्दिव्यविग्रहे अमान्ती तल्लावण्यसमृद्धिर्द्योत्यते । अत्रापि लावण्यसमृद्धेः तत्परिवाहतादात्म्यापन्नपीताम्बरस्य च एकदेश्येकदेशभाव एव संबन्धः ॥

यथावा ममैव प्रपन्नानन्दस्तवे—

वदनरुचिह्लदविहरन्नयनमहामीनराजनिष्ठ्यूतम् । नासाविवरविलग्नं नूनं ध्यायामि मौक्तिकं देव्याः ॥ १०१० ॥

अत्र वर्णनीयत्वेन प्रस्तुताया नासामौक्तिकमणेः प्रसवितृत्वौपयिकमीनतादात्म्यापन्नस्य श्रीदिव्यनयनस्य तदुचितलाव-

ण्यादिसमृद्धिर्व्यज्यते । साऽपि वर्णनीयतया प्रस्तुतैव । अत्र जन्यजनकभावस्संबन्धः । एवं नयनमहामीनराजविहारौपयिकतया हृदतादात्म्यमापादितायाः वदनरुचेस्समृद्धिरनवधिकेति द्योत्यते। साऽपि प्रस्तुतैव । अत्राधाराधेयभावः ॥

यथावा—

सर्वंकषा मनीषा कीर्तिः कूलंकषा तथा ककु-
भाम् । अभ्रंकषा गृहाळी त्वद्भक्तानां मृगेन्द्रशै-
लेन्दो ॥१०११॥

अत्र भगवतो लोकोत्तरत्वप्रकटनाय तन्महौदार्यवत्तत्कार्याणि तद्भक्तजनसंपत्सारस्वतादीन्यपि वर्णनीयत्वेन विवक्षितानीति तन्मुखेन तन्महौदार्यमवगम्यत इति कार्यकारणभावसंबन्धनिबन्धनोऽयं प्रस्तुताङ्कुरः ॥

यत्र कार्यमुखेन कारणस्यावगतिरपि पद्ये निबध्यते न तत्रायमलंकारः । किंत्वनुमानमेव ॥

यथा—

कण्ठे नृणां हारा उपकण्ठे सुरुचिराननादाराः।
सुकुमाराश्च कुमारा ब्रुवते लक्ष्मीदृशो महोदाराः॥

महोदारा इत्येतत् द्वितीयान्तस्य लक्ष्मीदृश इत्यस्य विशेषणम् । इदं कर्म, हारा इत्यादयस्तु कर्तारः । अत्र मुक्ताहारादिसमृद्धिरूपकार्येण लक्ष्मीदृशां कारणत्वावगतिर्वदतीत्यनेनाविवक्षितवाच्येनोपनिबद्धेत्यनुमानालंकारः ॥

अयमलंकारो दीक्षितोपज्ञम् । प्राञ्चस्सर्वेऽप्येनमप्रस्तुतप्रशंसायां सारूप्यनिबन्धनायामेवान्तरभावयन्नित्यप्रस्तुतप्रशंसायामवोचाम ॥

इत्यलंकारमणिहारे प्रस्तुताङ्कुरसरस्त्रिंशः.

## अथ पर्यायोक्तसरः.

**पर्यायोक्तं त्वन्यभङ्ग्या कथितं चेद्विवक्षितम् ॥**

येन रूपेण विवक्षितोऽर्थः तदतिरिक्तप्रकारोऽन्यभङ्गी भङ्ग्यन्तरमित्यर्थः । रसगङ्गाधरेऽपि 'विवक्षितस्यार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम्' इत्युक्तम् । केनचिद्रूपेण व्यञ्जनया लभ्यस्यार्थस्य ततोऽपि चारुतरेण रूपेण यदभिधया प्रतिपादनं तत्पर्यायोक्तमिति तदर्थः । न चैवं ध्वनेरेवायं विषयस्स्यादिति वाच्यं, तत्र वाच्यव्यङ्ग्ययोर्भेदात् । एवंच यद्व्यङ्ग्यं वस्तु व्यङ्ग्यत्वाकारादपि चारुतरेणाकारान्तरेण शब्देनाभिधीयते तत्पर्यायोक्तमिति पर्यवसानात् वाच्यरूपापेक्षया व्यङ्ग्यरूपस्य चारुत्वाभावान्न ध्वनिविषयतेति दिक् । पर्यायोक्ते वाच्यस्य प्राधान्यं, अप्रस्तुतप्रशंसायां तु गम्यस्येति विवेकः । पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेणोक्तं व्यङ्ग्यं यत्रेति व्युत्पत्तेरन्वर्थनामधेयमिदम् ॥

यथा—

**यस्य विहाराहार्यः पाराशर्यस्य पाणिनेश्चापि ।**
**सूत्रस्य भाष्यमतनोत्स विनोदी मे मनो धिनोतु पुमान् ॥ १०१३ ॥**

पाराशर्यो वेदव्यासः । तत्सूत्रस्य भाष्यकारो भगवान् रामानुजाचार्यः, पाणिनिसूत्रभाष्यकारो भगवान्पतञ्जलिश्च शेषावतारावित्यागमः । अत्र श्रीनिवासविहाराचलस्य शेषत्वं व्यङ्ग्यं तदेव भङ्ग्यन्तरेणोक्तम् । शेषत्वप्रकारेण व्यङ्ग्यत्वम् । पाराशर्यपाणिनिसूत्रभाष्यकारत्वेन वाच्यत्वं भगवद्विहारगिरेरिति व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्यैव चारुतरत्वमिति ध्येयम् । न च व्यङ्ग्यस्यैवाभिधेयत्वं विरुद्धमिति वाच्यम् । न हि वयं येन प्रकारेण शेषत्वाकारेण व्यङ्ग्यता तेनाकारेणाभिधेयतां ब्रूमः । किंतु पाराशर्यपाणिनिसूत्रभाष्यकारत्वरूपेणेति न विरोधः ॥

यथावा —

पवनं योऽश्नाति सदा तमपि च योऽश्नाति तावुभौ यस्य । शय्यावाहनभावं श्रयतो जगदशुभमपनयतु स पुमान् ॥ १०१४ ॥

तमपि च योऽश्नातीति तज्जातीयभुजगाशितृत्वमभिसंधायोक्तम् । अत्र व्यङ्ग्यादनन्तगरुडत्वाकारादपि पवनं योऽश्नातीत्यादिना चारुतरेण रूपेण भगवतश्शय्यावाहनयोरभिधानम् । यद्वा भगवान् स्वासाधारणाकारेण गम्यः पवनाशनशयनत्वादिना रूपान्तरेण स एवाभिहितः ॥

यथावा—

वाहनकेतनदक्षिणचक्षुस्स्थानान्यधीयमानानि ।
यस्य त्रीन् वर्णानपि पवित्रयन्त्येष मे परित्राता ॥

अत्र भगवतो वाहनकेतनयोर्यद्वैनतेयरूपत्वं दक्षिणाक्षिनिवासस्थानयोर्यदादित्यरूपत्वं च व्यङ्ग्यं ततोऽपि चारुतरेणाकारे-

णाधीयमानमिति वेदरूपतया भङ्ग्यन्तरेणाभिहितम् । वाहनादीनां चतुर्णामधीयमानत्वं च 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्, सैषा त्रय्येव विद्या तपति' इत्याद्युक्तरीत्या त्रयीमयत्वादौपचारिकम् । यद्वा अत्रापि भगवानेव स्वासाधारणरूपेण गम्यः त्रयीमयवाहनत्वादिना भङ्ग्यन्तरेणाभिधीयत इति ध्येयम् ॥

यथावा—

**दशशतभुजपरिरम्भक्षोभं व्यपनीय बलिसुतवधूनाम् । कल्याणाशासनपदमासीत्तासां य एष वीरोऽव्यात् ॥ १०१६ ॥**

अत्र बाणासुरबाहासमुदयलवितृतया व्यङ्ग्यो भगवान्वासुदेवः ततोऽपि चारुतरेण दशशतभुजपरिरम्भानिष्पीडनापनयनरूपमहोपकारप्रीततद्वधूवितीर्णमङ्गळाशासनगोचरत्वरूपेण भङ्ग्यन्तरेणाभिहितः ॥

यथावा—

**नैकशतबाहुवहनश्रममपनयतिस्म कार्तवीर्यस्य । यत्प्रहरणमेष कृतो येन हृतौजास्स विजयतां जगति ॥ १०१७ ॥**

अत्र कार्तवीर्यार्जुनभुजसहस्रच्छेत्तृत्वं विवक्षितोऽर्थः न तादृूप्येणाभिहितः । अपितु तद्बाहुभारवहनश्रमापनेतृत्वेनाकारेण । यद्वा स्वासाधारणेनाकारेण गम्यो भगवान् दाशरथिः कार्तवीर्यभुजभारश्रमापनेतृपरशुधरतेजोऽपहर्तृत्वरूपेण भङ्ग्यन्तरेणाभिहितः । न च कार्तवीर्यभुजच्छेत्तृपरशुधरजेतृत्वरूपव्यङ्ग्यमादायैव गदितुमर्हं पर्यायोक्तं न तु विशेषणसामर्थ्यलभ्यदाशरथि-

त्वमादायेति वाच्यं, उक्तविधपरशुधरजेतृत्वरूपव्यङ्ग्यस्य वाच्यासिद्ध्यङ्गत्वेन तेनापि विवक्षितं व्यङ्ग्यं प्रधानभूतं दाशरथित्वमिति तदादायैव तद्वर्णनस्य युक्तत्वात्। अस्यैव पद्यस्यान्ते स विजयतां जगतीत्यत्र जगतीति पदमपनीय राम इति पाठे 'राहुस्त्रीकुचनैष्फल्यकारिणे हरये नमः' इत्यत्र राहुशिरश्छेत्तृत्वामिव कार्तवीर्यभुजच्छेत्तृपरशुधरजेतृत्वमेव विवक्षितं व्यङ्ग्यमिति युक्तं तदादायैव पर्यायोक्तमिति ध्येयम् । अत एव 'नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधूकुचौ' इत्यत्र 'अत्र भगवान् वासुदेवस्स्वासाधारणरूपेण गम्यो राहुवधूकुचवैयर्थ्यकारित्वेन रूपान्तरेणाभिहितः' इति कुवलयानन्दोक्तं संगच्छते । यत्तु तत्र भगवद्रूपेणावगमनं विशेषणमर्यादालभ्यत्वेनासुन्दरं पर्यायोक्तस्य विषय इति, तदविचारितरमणीयम् । न हि पर्यायोक्ते व्यङ्ग्यसौन्दर्यकृतो विच्छित्तिविशेषः। येनासुन्दरता स्यात्। किंतु भङ्ग्यन्तराभिधानकृत एव । व्यङ्ग्यं तु भङ्ग्यन्तराभिधानतोऽसुन्दरमेव प्रायेण दृश्यते । यथा इहागन्तव्यमिति विवक्षिते व्यङ्ग्ये अयं देशोऽलंकरणीयः साफल्यं नेय इत्यादौ। तस्मात्तदसुन्दरत्वोद्भावनमकिंचित्करमेवेत्यलं बहुना । एवं 'पवनं योऽश्नाति' इति प्रागुपदर्शितेषूदाहरणेष्वपि द्रष्टव्यम् ॥

यथावा—

**यस्यैकमक्षि भुवनं दिवा दिविष्ठं विभासयत्यखिलम् । अन्यत्तु नक्तमद्भुतमनिशं मम शं तनोतु तत्तेजः ॥ १०१८ ॥**

अत्र भगवतस्सूर्यचन्द्रलोचनत्वं गम्यं प्रकारान्तरेण सुन्दरतरेणाभिहितम् ॥

यथावा—

यत्र चरन्ति त्रिदशा दिवानिशं तच्च यौ परि-
ष्कुरुतः । यस्तौ ग्रसति च पर्वसु लूनशिरास्सोपि
येन सोऽव्यान्नः ॥१०११॥

यत्र व्योम्नीति भावः । त्रिदशाः चरन्ति, नभश्चरत्वात्तेषाम् । तत् व्योम च । दिवा च निशा च दिवानिशं अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । यौ सूर्याचन्द्रमसाविति भावः । परिष्कुरुतः यथाक्रमं भूषयतः । तौ सूर्याचन्द्रमसौ च यः राहुरिति भावः । पर्वसु ग्रसति । सोऽपि येन लूनशिराः सः भगवान् नः अव्यात् । अत्रान्तरिक्षादिकं व्यङ्ग्यं रूपान्तरेणाभिहितम् । अयं च वक्ष्यमाणैकावळीसंकीर्णः ॥

यथावा—

धत्ते या तामरसं हस्तेन विलोमतदभिधानार्थ-
म् । हृदयेन यश्च धत्ते हृदये तौ दंपती विहरतां नः॥

विलोमतदभिधानार्थं व्यत्यस्ततामरसनामवाच्यं सरमतामित्यर्थः । अत्र व्यङ्ग्यं लक्ष्मीत्वं नारायणत्वं च भङ्ग्यन्तरेणाभिहितम् ॥

यथावा—

जलदसरसां यदीयां द्युतिमाहुर्देवताऽवतात्सा
माम् । विपरीततदभिधेयं यद्रूपं साऽपि देवताऽव-
तु माम् ॥१०२१॥

यस्याः द्युतिं जलदसरसां तोयदश्यामलामिति यावत्। आहुः श्रुत्यादय इति शेषः। सा देवता मां अवतात्। यस्याः रूपं वर्णं 'रूपं स्वभावे शुक्लादौ' इति रत्नमाला। विपरीततदभिधेयं व्यत्यस्तेन जलदसरसामितिशब्देन वाच्यं सारसदलजमित्यर्थः। पद्मदलजन्यं तत्तुल्यमिति यावत् 'पद्मवर्णाम्' इति श्रुतेः। अत एव पदार्थवृत्तिनिदर्शना। सा देवता च मां अवतु। अत्र भगवान् श्रीनिवासः भगवती श्रीश्च व्यङ्ग्यौ जलदसरसदीप्तित्वेन सारसदलजरूपत्वेन च भङ्ग्यन्तरेणाभिहितौ॥

यथावा—

आद्यं भूतमनन्तरमपि पद्भ्यां वदनतस्तृतीयमभूत्। प्राणात्तुर्यं नाभ्याः पञ्चममपि यस्य भूतकृत्सोऽव्यात्॥ १०२२॥

अत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि व्यङ्ग्यानि प्रकारान्तरेणाभिहितानि। गङ्गाऽत्र द्वितीयभूतत्वेन विवक्षिता। अत्र 'पद्भ्यां भूमिः। विष्णुपादोद्भवा गङ्गा। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च। प्राणाद्वायुरजायत। नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्'। इति प्रमाणान्यनुसन्धेयानि। इदं च वक्ष्यमाणरत्नावळीकाव्यलिङ्गसंकीर्णम्॥

यथावा—

दीव्यतु कोऽपि स देवो भूषां योषां च यस्य जलधिरदात्। स्वयमेव यत्प्रियायास्सारसनमभूत्स एष वसनं वा॥ १०२३॥

स एषः पूर्वोक्तो जलधिरित्यर्थः। स्वयमेव यस्य देवस्य प्रियायाः वल्लभायाः भुव इति भावः 'विष्णुपत्नीं महीं देवीं

माधवीं माधवप्रियाम्' इति श्रुतेः। सारसनं मेखला । वसनं अंशुकं वा अभूत् । 'भूतधात्र्यब्धिमेखला । निधानगर्भामिव सागराम्बराम्' इत्युभयथाऽपि प्रसिद्धेरिति भावः । अत्र कौस्तुभाभरणत्वं श्रीपतित्वं भूवल्लभत्वं च व्यङ्ग्यम्। इदं तुल्ययोगितादिसंकीर्णम् ॥

अस्मिंश्चालंकारे व्यङ्ग्यं वाच्यपरं अप्रस्तुतप्रशंसायां तु वाच्यं व्यङ्ग्यपरम्। तेनायमलंकारो वाच्यसिद्ध्यङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्यभेद इति ध्वनिकारानुयायिनः। अयं चालंकारः क्वचित्कारणेन वाच्येन कार्यस्य गम्यत्वे क्वचित्कारणेन कार्यस्य क्वचिदुभयोदासीनेन संवन्धिमात्रेण संवन्धिमात्रस्य चेति त्रिविध इति जगन्नाथादयः ॥

तत्र कारणेन वाच्येन कार्यस्य गम्यत्वे यथा—

**यैरर्प्यन्ते कुसुमान्यसमानि रमासख त्वदीयपदे । तैरुप्यन्ते स्वपदे स्वैरं कल्याणबीजानि ॥**

त्वदीये तावके पदे चरणे त्वदीयानां भागवतानां चरणे वा। स्वपदे स्वस्थाने स्वव्यवसितेऽर्थे स्ववस्तुनि वा । अत्र बीजावापेन कारणेन अभ्युदयः कार्यरूपो गम्यते ॥

कार्येण कारणस्य गम्यत्वे यथा—

**कामयते यान् लोकांस्तामरसविलोचन त्वदीयजनः । सपदि समुत्तिष्ठन्ते संकल्पादेव देव तस्यामी ॥ १०२५ ॥**

अमी लोकाः अत्र 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरस्समुत्तिष्ठन्ते' इति श्रुतेरर्थोऽनुसंहितः। अत्र भगवद्भक्तानां यथेष्टलोकसृष्टिरूपेण कार्येण तत्कारणं 'स स्वराड्भवति' इत्याद्युक्तं मुक्तैश्वर्यं गम्यते॥

यथावा—

विचरन्विपिनोद्देशे सहस्रनयनं सहस्रकिरणं च। शोकेनानन्देन च सास्रं यो व्यधित सेऽव्य एष पुमान्॥१०२६॥

अत्र सुत्रास्णोऽर्यम्णश्च सास्रत्वरूपकार्येण वाच्येन सुतात्ययरूपं सुताभ्युदयरूपं च कारणं गम्यते। अयं वक्ष्यमाणयथासंख्यसंकीर्ण इति पूर्वस्माद्विशेषः॥

तदुभयोदासीनेन संबन्धिमात्रेण संबन्धिमात्रस्य गम्यत्वे॥

यथा—

उत्पलमहोत्पलव्रजविकासिनी वामदक्षिणे नयने। शिशिराशिशिरे यस्य प्रशमयतु स तापमेष जडतां च॥१०२७॥

स एषः तापं आध्यात्मिकादिकं संज्वरं च। जडतां शैत्यं अज्ञतां च प्रशमयतु। अत्रोत्पलमहोत्पलविकासकारिशिशिराशिशिरवामदक्षिणविलोचनत्वेन वाच्येन न कार्येण नापि कारणेन केवलं सहचरितेन चन्द्रसूर्यत्रिलोचनत्वं गम्यते। अत्र हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः केवलं सहचारितत्वं संबन्धः न तु कार्यकारणभावरूपः एवं प्रागुपदर्शितेषु 'यस्य विहाराहार्यैः' इत्याद्युदाहरणेष्वपि यथायोगं संबन्धो द्रष्टव्यः। इदं यथासंख्यपरिकराभ्यां संकीर्णम्॥



जगद्गुरु विश्वाराध्य ... ज्ञानं देहि ... जंगमवाड़ी मठ काशी

केचित्तु प्रस्तुतेन कार्येण प्रस्तुतस्य कारणस्य गम्यत्वे पर्यायोक्तमाहुः । त एते प्रस्तुताङ्कुरस्य न पृथगलंकारतामभ्युपगच्छन्ति । दीक्षितादयस्तु एवंविधे विषये प्रस्तुताङ्कुर एवेत्याहुः । स्पष्टं चैतत्कुवलयानन्दादौ ॥

## द्वितीयपर्यायोक्तम्.

व्याजेन रमणीयेन यदि स्वस्य परस्य वा ।
साध्यतेऽभीप्सितं तच्च पर्यायोक्तं विदुर्बुधाः ॥

पर्यायेण व्याजरूपेणोक्तं यत्रेति व्युत्पत्तेरिदमपि पर्यायोक्तम् । अयं च प्रकारो दीक्षितोपज्ञमेव । प्रकारद्वयसाधारणं तदन्यतरत्वं सामान्यलक्षणमिति ध्येयम् ॥

तत्राद्यं यथा—

गर्जति जलदो विद्युत् स्फूर्जति वर्जय बहिर्गतिं भीरु । इति झडिति वारयन्किल चतुरश्लिष्यन्
श्रियं जयतु शौरिः ॥ १०२८ ॥

अत्र जलदगर्जितादिभयप्रदर्शनव्याजेन भगवता लक्ष्मीसमाश्लेषरूपस्वेष्टसाधनं निबद्धम् ॥

यथावा—

अलकाश्चलिता मरुता तिलको लुलितस्समीकरिष्यामि । तदिदमिति मुदितहृदयो वदनं चुम्बन्
श्रियो हरिर्जयतात् ॥ १०२९ ॥

अत्र लुलितालकादिसमीकरणापदेशेन पीताम्बरस्याम्बुधिसुतावदनाम्बुजचुम्बनरूपस्वेष्टसाधनमेव दर्शितम् ॥

द्वितीयं यथा—

कुसुमापचायलोभाद्विषमां कुञ्जस्थलीं प्रयाति रमा । सह याहि त्वं श्रान्ताऽस्म्यहमित्यहिंमहिभृद्दीशमाह सखी ॥ १०३० ॥

अपचायेत्यत्र 'हस्तादाने चेरस्तेये' इति घञ् । महिशब्दो ह्रस्वान्तोऽप्यस्ति, 'वीचिः पङ्क्तिर्महिः कोळिरित्याद्या ह्रस्वदीर्घयोः' इति वाचस्पत्यनुशासनात् । अत्र कुसुमापचायव्यग्रतया कुञ्जस्थलीं प्रविष्टायाः श्रियस्साहायकाविधानप्रेरणव्याजेन भगवतस्तत्संभोगाभीप्सितं श्रान्तताव्याजेन पृथगवास्थितया सख्या साधितमिति परेष्टसाधनं निबद्धम् ॥

इत्यलंकारमणिहारे पर्यायोक्तसर एकत्रिंशः.

---

## अथ व्याजस्तुतिसरः.

स्तुत्याभिव्यज्यते निन्दा निन्दया वा स्तुतिर्यदि ।
तत्र व्याजस्तुतिं नाम प्राज्ञाः प्राहुरलंकृतिम् ॥

यत्र स्तुतिरभिधीयमानाऽपि प्रमाणान्तरेण बाधितस्वरूपा निन्दायां पर्यवस्यति तत्रासत्यत्वाद्व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन तावदेका व्याजस्तुतिः । यत्रापि निन्दा शब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद्बाधितरूपा स्तुतौ पर्यवस्यति सा द्वितीया व्याजस्तुतिः ।

व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतेः । एवं च कर्मधारयतृतीयातत्पुरुषाभ्यां योगार्थद्वयेन द्वयोरपि शब्दार्थत्वमिति वेदितव्यम् ॥

आद्या यथा—

सुतदारप्रीणनविधिकृतदाक्ष्यस्त्वं गृहे वससि धन्यः । न भजसि भुजङ्गभूधरविभुसेवायासवैशसं जातु ॥ १०३१ ॥

अत्र केवलसांसारिकस्य कस्यचिद्व्याजरूपा त्वं धन्य इति स्तुतिर्बाधिता सती तस्य श्रीनिवाससेवावैधुर्यप्रयुक्तनिन्दायां पर्यवस्यति ॥

द्वितीया यथा—

त्वत्तः को विजुगुप्सो मत्तः कोऽन्यो रमेश ! निर्लज्जः । शश्वदघं कः क्षमतां शश्वत्क्षान्तेऽपि तत्र कः कुरुताम् ॥ १०३२ ॥

तत्र तस्मिन् पुनःपुनः कृते अघे क्षान्तेऽपि शश्वत् मुहुर्मुहुः अघमित्यनुषज्यते । अघं अपराधं कः कुरुताम् । अतस्त्वं विजुगुप्सः अहं निर्लज्ज इति भावः । अत्र को विजुगुप्स इति निन्दा बाधिता सती रमासखस्य क्षमाभूमा निस्समान इति स्तुतौ पर्यवस्यति ॥

अत्र चैक एवार्थः केनचिदाकारेणादौ स्तुतेर्निन्दाया वा विषयो भूत्वा प्रकरणादिमहिम्ना प्रकारान्तरेण निन्दायाः स्तुतेर्वा विषयो भवति, तत्र यावानंशो बाधितस्तावानेवान्यथात्वेन पर्यवस्यति । अंशान्तरं तु स्वभावेनैवावतिष्ठत इत्यवधेयम् ॥

इयं चालंकारान्तरसंकीर्णा यथा —

हृद्यायामपि लक्ष्म्यामतुलां तुलसीं परां च वनमालाम् । आश्लिष्टकन्धरां त्वं तनुषे सर्वेश्वरोऽसि किं ब्रूमः ॥१०३३॥

अतुलां शीलवयोवृत्तादिभिस्स्वस्यानुरूपां निस्समामिति तु वास्तवार्थः । परां परकीयां उत्कृष्टां च । सर्वेश्वरोऽसि 'पथश्शुचेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम्' इत्युक्तरीत्या सर्वेश्वरस्य तव सत्पथप्रवर्तनमेवोचितं नासत्पथे स्वयंप्रवर्तनमिति भाव । वस्तुस्थितिस्तु 'वक्षस्स्थलयां तुलसिकमलाकौस्तुभैर्वैजयन्ती सर्वैश्वर्यं कथयतितरां रङ्गधाम्नस्तदास्ताम्' इत्युक्तप्रक्रियया तुलसीवैजयन्तीलक्ष्मीभूषितवक्षस्स्थलतया अखिलजगदधीश्वरोऽसीति । अत्र भगवतस्समासोक्त्या पल्लविकधुरीणव्यवहाराश्रयत्वप्रतीतिः तन्मूला निन्दा स्तुतौ पर्यवस्यति ॥

यथावा —

सदरः करस्तवैकस्साध्वसिताऽऽढ्यः परस्तदपि शौरे । अभयप्रदपाणिं त्वामाहुस्सुलभा हि सुकृतिनां कीर्तिः ॥१०३४॥

सदरः सभयः सशङ्खश्च । साध्वसमस्यास्तीति साध्वसी तस्य भावः साध्वसिता । तया आढ्यः । अत्रार्थान्तरन्यासपरिपोषिता भगवतो निन्दा दुष्कृद्विनाशैकतानशङ्खनन्दकादिदिव्यायुधपरिकरधारितया सकललोकाभयप्रदानधौरेय इति स्तुतौ पर्यवस्यति ॥

यथावा—

भगवन्भार्गव कथमिव भवदायुधमाहुरप्रतिद्वं-
द्वम् । त्वयि गृह्णति युधि परशुं द्विषता ह्यपरेण
परशुनाऽभावि ॥ १०३५॥

त्वयि युधि परशुं गृह्णति सति द्विषता त्वदरिणा जात्येकवचनम् । हीत्यवधारणे । द्विषतैवेत्यर्थः । अपरेण अन्येन परशुना परश्वधेन अभावि अभूयत । तत्कथं भवदायुधमप्रतिद्वंद्वमाहुः । यतस्त्वदरिरेव परः परश्वधस्समजनीति भावः । पक्षे—द्विषता वैरिणा अपरेण अपगतरेफेण परशुना पशुनेत्यर्थः । अभावि । त्वयि परश्वधं गृह्णत्येव तव वैरी सर्वोऽपि पशुर्भवति पशुवद्विशसनगोचरो भवतीति भावः । यद्वा—अपरेण अविद्यमानपकाररेफोभयवर्णेन परशुना शुना शुनकेनेत्यर्थः । शुनकवत्सुप्रहरेणाभूयतेति भावः । अत्र भगवतो भार्गवस्य परशोरप्रतिद्वंद्वताधिक्षेपरूपनिन्दा सुकरसकलरिपुकुलविदलन इति स्तुतौ पर्यवस्यति । श्लेषोत्तम्भितेयम् ॥

यथावा -

स्तन्यमदात्ते प्रीत्या धन्या काचिज्जिघांसया त्व-
न्या । तुल्यं तयोः फलमदाः कल्यः कस्ते विवेक-
कथनाय ॥ १०३६ ॥

अत्र भगवतः प्रियाप्रियकक्ष्याविभागवैधुर्येण तुल्यफलदानाद्विवेकविधुरोऽसीति निन्दया बाधितया

सर्वभूतात्मके तात जगन्नाथे जगन्मये ।

परमात्मनि गोविन्दे मित्रामित्रकथा कुतः ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु सर्वस्य शरणं सुहृत् ॥

इत्युक्तरीत्या सर्वसुहृत्त्वेन स्तुतिरवगम्यते । इयं प्रागुक्तहिताहितवृत्तितौल्यलक्षणतुल्ययोगिताविशेषपरिपोषिता । एवं 'शपतां चैद्यादीनाम्' इति तुल्ययोगिताप्रकरणोदाहृतपद्येऽपीयं व्याजस्तुतिर्द्रष्टव्या ॥

इयं च व्याजस्तुतिर्यस्यैव वस्तुनः स्तुतिनिन्दे प्रथममुपक्रम्येते तस्यैव चेन्निन्दास्तुत्योः पर्यवसानं स्यात्तदा भवति । अन्यस्य स्तुत्या निन्दया वा अन्यनिन्दास्तुत्योः पर्यवसाने न प्रसरेदिति प्राचामालंकारिकाणां समयः ॥

दीक्षितास्तु-स्तुतिनिन्दयोर्निन्दास्तुतिभ्यामेकविषयतया गम्यत्वे द्वौ प्रकारौ । भिन्नविषयतया गम्यत्वे च द्वौ प्रकारौ । अन्यस्तुत्याऽन्यस्तुत्यभिव्यक्तौ त्वेकः प्रकार इत्येवं पञ्चविधां व्याजस्तुतिमभिप्रयन्तस्तथैवोदाजह्रिरे । अयमभिप्रायः—'व्यक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः' इति लक्षणे निन्दास्तुतिभ्यामित्यत्र स्तुतिनिन्दयोरित्यत्र च इतरेतरयोगो न विवक्षितः । तथाच निन्दया स्तुतेः स्तुत्या निन्दायाः स्तुत्या स्तुतेश्च व्यक्तिर्व्याजस्तुतिरित्यर्थः । प्रथमो व्याजेन स्तुतिरिति, चरमयोर्व्याजरूपा स्तुतिरिति च व्युत्पत्तेः । अत एव व्याजस्तुतिपदार्थानुगमाभावान्निन्दया निन्दाभिव्यक्तिर्व्याजनिन्देत्यलंकारान्तरमुक्तम् । एवमाद्ये प्रकारद्वये स्तुतिनिन्दयोस्समानविषयत्वाभिन्नविषयत्वाभ्यां प्रत्येकं द्वैविध्यमिति चत्वारो भेदाः । अन्यस्तु भिन्नविषयस्तुतिक एक एवेति पञ्च भेदाः । लक्षणं तु व्याजनिन्दाभिन्नत्वे सति स्तुतिनिन्दान्यतरपर्यवसायिस्तुतिनिन्दान्यतरत्वं सर्वानुगतमिति ध्येयमिति ॥

तन्मते एवं लक्षणश्लोकः.

स्तुत्या निन्दा निन्दया वा स्तुतिर्भिन्नैकगोचरा ।
व्यङ्ग्या विभिन्नविषया स्तुत्या व्याजस्तुतिस्स्तुतिः॥

स्तुत्या निन्दायाः निन्दया स्तुतेर्वा भिन्नविषयायास्समानविषयाया वा व्यङ्ग्यतायां चत्वारः प्रकाराः । भिन्नविषयायाः स्तुत्या स्तुतेर्व्यङ्ग्यतायां त्वेकः प्रकार इति पञ्चधा व्याजस्तुतिरित्यर्थः ॥

भिन्नविषयत्वे स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिर्यथा—

धन्याः खगा मृगा अपि वन्या एते नगाश्च नागाश्च । मान्या ये माधवपदविन्यासपवित्रिते वसन्ति गिरौ ॥१०३७॥

अत्र मृगाधिराजनगावासिनां खगादीनां धन्यतास्तुत्या अतद्विधानामधन्यतारूपनिन्दा व्यज्यते ॥

इयमेवाप्रस्तुतप्रशंसा न कार्यकारणनिबन्धनेति दण्डी । यदाह—

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रकाण्डे तु या स्तुतिः ।
सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः ॥
अर्थै (न्नै रयत्नसुलभैस्तृणदर्भाङ्कुरादिभिः ।
सेयमप्रस्तुतैवात्र मृगवृत्तिः प्रशस्यते ॥
राजानुवर्तनक्लेशनिर्विण्णेन मनस्विना ॥

इति । वस्तुतस्तु—'अत्र व्याजस्तुतिरित्येवयुक्तं, स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिरित्यप्रस्तुतप्रशंसातो वैचित्र्यविशेषसद्भावात् । अन्यथा

प्रसिद्धव्याजस्तुत्युदाहरणेष्वप्यप्रस्तुताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां प्रस्तुते स्तुतिनिन्दे गम्येते इत्येतावता व्याजस्तुतिमात्रमप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्' इति दीक्षिताः ॥

अन्ये तु—प्रसिद्धस्थले 'कस्स्वर्धुनि विवेकस्ते, साधु दूति पुनस्साधु' इत्यादौ स्तुतिनिन्दयोरेकधर्मत्वादप्रस्तुतप्रशंसायास्तत्रासंभवेन व्याजस्तुतेर्विविक्तविषयत्वसाम्राज्यान्न व्याजस्तुतिमात्रमप्रस्तुतप्रशंसा भविष्यति। प्रस्तुतधर्मिकेऽप्यप्रस्तुतप्रशंसाऽभ्युपगमे तु तस्मिन्नेव विषये ललितालंकारपार्थक्याभ्युपगमो व्याहतस्स्यादित्याहुः ॥

भिन्नविषयत्वे निन्दया स्तुत्यभिव्यक्तिर्यथा—

अपदत्रयमितलोकैरवामपादाम्बुपूतजगतीकैः।
अलमन्यसुरवराकैरनमृतदानक्षमैरलक्ष्मीकैः ॥

अत्र देवतान्तरनिन्दया श्रीनिवासस्तुत्यभिव्यक्तिः ॥

स्तुत्या निन्दायाः निन्दया स्तुत्या वाऽभिव्यक्तौ समानविषयतायां प्रागेवोदाहरणानि प्रादर्शिषत ॥

अन्यस्तुत्याऽन्यस्तुत्यभिव्यक्तिर्यथा—

क्षेत्रे क्व नु कतिदिवसान्व्यधात्तपो वाऽपि किमभिधानमयम् । यदविरतं त्वत्पदसममरविन्दं विन्दतेऽच्युत मिलिन्दः ॥ १०३९ ॥

अत्र मिलिन्दस्तुत्या भगवत्पादारविन्दसौन्दर्यसौकुमार्यभोग्यतादिसौभाग्यातिशयस्तुतिर्व्यज्यते ॥

इत्यलंकारमणिहारे व्याजस्तुतिसरो द्वात्रिंशः ॥

## (३३) अथ व्याजनिन्दासरः

**व्याजनिन्दा तु निन्दाया निन्दया व्यङ्ग्यता यदि ॥९१॥**

यत्रान्यनिन्दया अन्यस्य निन्दाया अभिव्यक्तिस्सा व्याजनिन्दा । इतरनिन्दाव्याजेन निन्देति व्युत्पत्तेः ॥

यथा—

**धिङ्मां जडमूर्धन्यं वाङ्मानसदूरविपुलदौर्जन्यम् । पयसिजलोचन योऽहं त्वयि विमुखानां मुखानि पश्यामि ॥ १०४० ॥**

अत्र श्रीनिवासविमुखजनमुखावलोकितुस्स्वस्य निन्दया तादृशस्य परमपापिष्ठतया निन्दा व्यज्यते ॥

यथा वा—

**आमुखमधुरं परिणतिविरसं तिक्तं च वितरसि फलं त्वम् । उच्चैर्भूतपलाशैस्सेव्योऽसि न मादृशस्य तालतरो ॥ १०४१ ॥**

आमुखमधुरं आपातमधुरं 'तालफलरस इवापातमधुरः परिणामविरसस्तिक्तश्च' इत्येतदनुसंहितम् । उच्चैः भूतैः देवयोनिविशेषैः पलाशैः क्रव्यादैश्च । अन्यत्र उच्चैः ऊर्ध्वप्रदेशे भूतैः जातैः पलाशैः पत्रैः सेव्यः । मादृशस्य दिव्यफलार्थिन इति भावः । न सेव्य इति योजना । अत्र भगवत्प्रपन्नवचने तालतरुनिन्दयाऽतितुच्छफलप्रददेवतान्तरनिन्दा व्यज्यते ॥ अयमप्यलंकारो दीक्षितोपज्ञमेव ॥

ननु केनाप्यालंकारिकेणानुदीरिताया अस्याः व्याजनिन्दायाः कथमलंकारतयाऽभ्युपगमः ? उच्यते—अन्यस्तुत्याऽन्य-

स्तुत्याभिव्यक्तिरिति पञ्चमप्रकारव्याजस्तुतेः तुल्ययुक्तया प्रतिद्वंद्विस्थानीयत्वादस्याः । तथाच स्तुतिवन्निन्दायामप्यप्रस्तुतप्रशंसातो वैचित्र्यविशेषात्तदनन्तर्भावे व्याजस्तुतौ चार्थानुगमाभावादनन्तर्भावे पृथगलंकारताया औचित्यात्प्राचीनैरनुक्ताया अप्यभ्युपगन्तुमुचितत्वादिति ॥

ननु यत्रान्यस्तुत्याऽन्य स्तुतिरन्यानिन्दयाऽन्यनिन्दा च प्रतीयते तत्र व्याजस्तुतिव्याजनिन्दालंकाराभ्युपगमे स्तुतिनिन्दारूपाप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणेष्वप्रस्तुतप्रशंसा न वक्तव्या, तेषामपि व्याजस्तुतिव्याजनिन्दाभ्यां क्रोडीकरणसंभवादिति चेदुच्यते—यत्राप्रस्तुतवृत्तान्तात् स्तुतिनिन्दारूपात्तत्सरूपः प्रस्तुतवृत्तान्तः प्रतीयते 'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि' इत्यादौ तत्र लब्धावकाशा सारूप्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसाऽत्रापि प्रवर्तमाना न शक्यते वारयितुम् । अन्यस्तुत्याऽन्यस्तुतिरन्यनिन्दयाऽन्यनिन्देत्येवं व्याजस्तुतिव्याजनिन्दे अपि संभवतश्चेत्कामं ते अपि संभवेतां न त्वस्याः परित्यागः । यद्यपि 'आमुखमधुरं परिणतिविरसम्' इत्यनुपदोदाहृते पद्ये तालतरुनिन्दया निहीनफलदातृदेवतान्तरनिन्दा प्रतीयत इति तत्र सारूप्यनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसाऽप्यस्ति. तथाऽपि सैव व्याजनिन्दामूलेति प्रथमोपस्थिता साऽपि, तत्र दुर्वारा । एवंच व्याजनिन्दाऽनुप्राणितेयमप्रस्तुतप्रशंसेति चमत्कारातिशयः ॥

यथावा—

कर्दम दुर्दमगर्वो वल्ग त्वं कस्तवात्र दोषोऽस्ति । यस्त्वां कस्तूरीसममवैति निन्द्यस्स वै विपिनमहिषः ॥ १०४२ ॥

अत्र वनमहिषनिन्दया तन्मूलककर्दमनिन्दया च मूढतमस्य कस्यचित् तेन च महाब्रह्मवित्तुल्यतया ज्ञातस्य विद्वन्मानिनः कस्यचिद्वैधेयस्य च निन्दा प्रतीयत इति सारूप्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसा व्याजनिन्दामूलकव्याजनिन्दारूपेयमिति पूर्वस्माद्विच्छित्तिविशेषः ॥ एवमेव व्याजस्तुतिमूलकव्याजस्तुतिरूपाऽप्यप्रस्तुतप्रशंसा दृश्यते ॥

यथा—

नन्दात्मजचूडार्हं बर्हं या तव ततान ननु बर्हिन् । साऽम्बुदमाला स्तुत्या नृत्यानन्देन किं तव स्तुत्या ॥ १०४३ ॥

ततान वितस्तार । स्तुत्या स्तवार्हा । आनन्देन नृत्य नर्तनं कुरु नृत्यतेर्लोण्मध्यमैकवचनम् । त्वं स्वैरं नर्तनं विधेहि अस्मादृशां स्तुत्या तव किं प्रयोजनमिति भावः । यद्वा तव स्तुत्या त्वत्कर्मकस्तवेन अस्माकं किं प्रयोजनं तवाप्यतिशयाधायिकायां जाग्रत्यां कादम्बिन्यामिति भावः । किं तव स्तुत्येत्युक्तिरपि हर्षातिशयकारितेति स्तुतिपर्यवसायिन्येव ॥ अत्राप्रस्तुताम्बुदमालास्तुत्या तन्मूलकमयूरस्तुत्या च महावदान्यचूडामणेर्महालक्ष्म्यास्तत्कटाक्षाधिगतभगवदर्हणौपयिकवैभवस्य तद्भक्तस्य च स्तुतिर्गम्यत इतीयं सारूप्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसा व्याजस्तुतिमूलकव्याजस्तुतिरूपा ॥

यथा वा—

बहुधाऽभिनन्दनीयस्स विधाता यश्चकोरशाव

त्वाम् । विदधेऽखिलद्विजेष्वपि विधुपादसुधारसैक-
जीवातुम् ॥ १०४४ ॥

अत्राप्रस्तुता विधातृप्रशंसा तन्मूलकचकोरस्तुतिश्च प्रस्तुतस्य परमकारुणिकस्य महाभागवतस्याचार्यस्य तत्कृपासमधिगतभगवच्चरणारविन्दपरिचरणानुभवरसैकजीवनस्यान्तेवासिनश्च प्रशंसायां पर्यवस्यति ॥

बुक्कपत्तनवेङ्कटाचार्यास्तु व्याजस्तुतेः व्याजनिन्दायाश्च प्रत्येकं प्रकारत्रयमेवाहुः ॥ तथाहि तदीयेऽलंकारकौस्तुभे—

स्तुत्या वा निन्दया वाऽपि स्तुतिर्यत्र प्रतीयते ।
समर्थयामहे तत्र व्याजस्तुतिमलंकृतिम् ॥

अन्यस्तुत्याऽन्यस्तुतिः तन्निन्दया तत्स्तुतिः अन्यनिन्दयाऽन्यस्तुतिश्चेति व्याजस्तुतेस्त्रैविध्यम् ॥

स्तुत्या वा निन्दया वाऽपि यत्र निन्दा प्रतीयते । समर्थयामहे तत्र व्याजनिन्दामलंकृतिम् ॥

स्तुत्या निन्दा द्विविधा । तत्स्तुत्या तन्निन्दा अन्यस्तुत्या तन्निन्दा । निन्दया निन्दा त्वेकविधेति व्याजनिन्दायाश्च त्रैविध्यं प्रदर्श्य, तथैवोदाहरणानि च प्रदाय 'यद्यपि कुवलयानन्दे स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिरपि व्याजस्तुतिरेवेति स्वीकृत्य व्याजस्तुतेः पञ्च प्रकारा इत्युक्तं, तथाऽपि निन्दाभिव्यक्तिस्थले व्याजनिन्दैव युक्तेति स्तुत्यभिव्यक्तौ व्याजस्तुतिमङ्गीकृत्य यत्रः

प्रकारा इत्येवाश्रयितुं युक्तम् । समविषमादिन्यायेन परस्परप्रतिद्वन्द्विनोर्विभिन्नालंकारविषयतावश्यकत्वादित्यस्माभिरन्यथोक्तम्' इत्युपपादितम् ॥

इत्यलंकारमणिहारे व्याजनिन्दासरस्त्रयस्त्रिंशः ॥

## (३४) अथाक्षेपालंकारसरः

स आक्षेपो भवेत्स्वोक्तनिषेधो यो विमर्शतः ।

उक्तस्यार्थस्य पर्यालोचनपूर्वकः प्रतिषेध आक्षेपालंकारः ॥

यथा—

परिरक्ष मां प्रपन्नं पन्नगनगनाथ भवपथविपन्नम् । धन्यस्त्वय्यहमथवा विन्यस्तभरः किमन्यदाशासे ॥ १०४५ ॥

अत्र प्रार्थितस्य स्वरक्षणस्य भगवति विन्यस्तसमस्तात्मभरत्वेन वैयर्थ्यमालोच्याथवेत्यादिना प्रतिषेधस्सूचितः ॥

यथावा—

त्वन्मुखरुचिधूतरुचेर्जीवितसंदेह एव सन्नेतुः । शिशिरमरीचेरथवा जैवातृक एष कथमपि स जीवेत् ॥ १०४६ ॥

जैवातृकः दीर्घायुः 'जैवातृकः पुमान् सोमे दीर्घायुःकृशयोस्त्रिषु' इति मेदिनी । अत्र भगवन्मुखप्रभाविधूतरुचेश्शि-

शिररुचेः सत्पतित्वात् 'सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरगमनम्' इत्युक्तरीत्या जीवितसंदेहस्य संभावितस्य जैवातृकशब्दगतार्थश्लेषमहिम्ना आयुष्मत्तां विचार्य प्रतिषेधो वर्णितः। श्लेषसंकीर्णत्वं पूर्वस्माद्विच्छित्तिविशेषः॥

यथावा—

**देव कथमुदवहस्तामुदधेः पिङ्गळतया श्रुतां कन्याम्। सा हि निषिद्धा शास्त्रैरथवा स्वैरस्य विधिनिषेधौ क्व॥ १०४७॥**

हे देव! पिङ्गळायाः भावः पिङ्गळता तया 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' इति पुंवद्भावः। श्रुतां निशमितां ख्यातामिति यावत्। 'पिङ्गळां हेममालिनीम्' इति श्रुतिप्रसिद्धामिति हृदयम्। उदधेः कन्यां कथं उदवहः पर्यणैषीः। कुतोऽसावाक्षेप इत्यत आह सा हीति॥ सा पिङ्गळवर्णा कन्या शास्त्रैः निषिद्धा,

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गळाम्॥

इत्यादिमन्वादिस्मृतिभिरुद्वाहे प्रतिषिद्धा। हीति हेतौ, प्रसिद्धौ वा। स्वयमेव समाधत्ते—अथवेति॥ अथवा स्वैरस्य निरवग्रहस्य पक्षे 'स्वातन्त्र्यमैश्वरमपर्यनुयोज्यमाहुः' इत्युक्तरीत्या अपर्यनुयोज्यस्वातन्त्र्यस्येत्यर्थः। विधिनिषेधौ क्व एकत्र निरंकुशत्वात्। अन्यत्र अकर्मवश्यत्वादिति भावः। अत्र पिङ्गलवर्णकन्योद्वाहनिषेधकशास्त्रपर्यालोचनामूलकस्याक्षेपस्य स्वैर-

त्वपरिचिन्तनया प्रतिषेधोऽर्थान्तरन्यासविधया निवद्ध इति पूर्वस्मादपि वैलक्षण्यं बोध्यम् ॥

यथावा—

**अञ्चामि त्वां किंचित्पञ्चायुधरमणि चञ्चला मा भूः । अथवाऽद्यन्तचला त्वं चलैव मध्येऽञ्चिताऽपि किं कथया ॥ १०४८ ॥**

हे पञ्चायुधरमणि! त्वां अञ्चामि पूजयामि त्वां नमामीतिवल्लोकोक्तिः । किञ्चित् अल्पकालमित्यर्थः । चञ्चला मा भूः चाञ्चल्यं विहाय स्थिरा भवेति भावः । अथवा आद्यन्तयोः चला आद्यन्तावभिव्याप्य आद्यन्तं चला वा । सर्वदा चपलशीलेति भावः । त्वं मध्ये इदानीं मदीप्सितसाधनार्थमिति भावः । अञ्चिताऽपि चञ्चला माभूरिति प्रार्थनापूर्वकमाराधिताऽपि चलैव चञ्चलैव भवसि । कथया व्यर्थवाक्यप्रबन्धेन किं न किमपि साध्यमित्यर्थः । स्वभावस्य दुरतिक्रमतया मत्प्रार्थनमकिंचित्करमेवेति भावः । पक्षे चञ्चलाशब्दः अर्थगतं स्त्रीत्वं शब्दे आरोप्यते । आद्यन्तौ चलौ च ला इति वर्णौ यस्यास्सा तथोक्ता । मध्ये अञ्चिता अविद्यमानः ञ्च इति वर्णसमुदायो यस्यास्सा तथोक्ता कृताऽपि अपिस्संभावनायां चलैव । च ला इति वर्णौ अस्याः स्त इति चला । अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् । चञ्चलेति शब्दः मध्यगतस्याञ्चेतिवर्णसमुदयस्य लोपश्चेत् चलेत्येव निष्पन्नो भवतीति भावः । अत्र चञ्चला मा भूरिति प्रार्थितस्यार्थस्य तत्स्वभावविमर्शेन वैयर्थ्यमालोच्य निषेधः कृतः ॥

यथावा—

पाञ्चाल्यास्त्वत्कृपया भगवन् प्रादुस्थितं दुकूलमपि । अगमत्कुतः कुरूणां कुकूलतां तल्लिपिस्तथा ह्यथवा ॥ १०४१ ॥

हे भगवन्! त्वत्कृपया प्रादुस्थितं आविर्भूतं सत् स्थितं दुश्शासनकृतवसनापहारावसरे इति भावः। पाञ्चाल्याः दुकूलमपि कुरूणां दुर्योधनादीनां कुतो हेतोः कुकूलतां शङ्कुकीर्णश्वभ्रतुल्यतां तुषानलतुल्यतां वा अगमत् । उद्वेलभगवत्कृपाजन्यमतिमनोहारि दुकूलमपि तेषां निपातास्पदं दाहहेतुर्वा कथमासीदाश्चर्यमेतदिति भावः । 'कुकूलं शङ्कुभिः कीर्णे श्वभ्रे ना तु तुषानले' इत्यमरः । 'दुर्गसमीपे प्रतिपक्षसेनासंचारपरिहाराय कृते तीक्ष्णलोहादिशङ्कुनिचिते महागर्ते नपुंसकलिङ्गः कुकूलशब्दः तुषाग्नौ तु पुल्लिङ्गः' इति टीकासर्वस्वकारः ॥ अथवा तल्लिपिः तेषां कुरूणां ललाटलिपिः तथाहि तथैव। हिशब्दोऽवधारणे । जगदानन्दनिदानस्यापि वस्तुनो नाशहेतुतया दर्शनं तत्कर्मानुगुणविधिलिखितललाटलिपिरेखानुसारीति नात्र विस्मयनीयं किंचिदस्तीति भावः॥ पक्षे दुकूलं दुकूलपदं प्रादु अविद्यमानो दुः दुवर्णो यस्य तत् अदु प्रकर्षेण अदु प्रादु स्थितं दुवर्णविधुरतया स्थितं कुतः कुवर्णात् दुवर्णस्थानविहितादिति भावः । 'न गिरा गिरेति ब्रूयादैरं कृत्वोद्गायेत्' इत्यत्र गिरापदं प्रतिषिध्य विधीयमानमिरापदं यथा गिरापदस्थान एव भवति तथेहापि दुवर्णं निषिध्य विधीयमानः कुवर्णः तत्स्थान एव भवतीति ध्येयम् ॥ अयमर्थः प्रागेवोक्तः। कुकूलतां कुकूलशब्दतां अगमत् । तल्लिपिः दुकारापनयनपूर्व-

ककुवर्णविन्यासरूपा उक्तविधानुपूर्वीबोधकलिपिः तथाहि तथाविधा खलु ॥ अक्षरविन्यासभेदेन दुकूलशब्दः कुकूलशब्दोऽभूदिति भावः ॥ अत्र भगवत्कृपया आविर्भूतं दिव्यदुकूलं सुयोधनादिविषये कुतः कुकूलतामगमदिति संदेहविषयीकृतस्यार्थस्य तल्लिपितथात्वाविमर्शेन प्रतिषेधः । श्लेषविरोधाभासपदार्थवृत्तिनिदर्शनाद्युपस्कृतोऽयम् ॥

यथावा—

**भवदीयाभाप्रसरे भान्वाभाप्रसर इह किमु स्याद्वा । अथवाऽऽभीये कार्ये तदसिद्धं व्याकृतिः प्रमाणं चेत् ॥ १०५० ॥**

हे भगवन्! इह जगति भवदीयानां भवत्संबन्धिनां भागवतानामित्यर्थः । आभायाः तेजसः प्रसरे भवत्संबन्धितेजःप्रसरे वा सति भानोः आभायाः प्रसरः किमु स्याद्वा कां गतिं प्राप्नुयाद्वा न विद्म इति भावः । अथवा आभायाः इदं अभीयं तस्मिन् 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्ययः । भागवततेजस्संबन्धिनि कार्ये प्रसरणरूपकार्ये तत् आभीयं भानुतेजस्संबन्धि कार्यं प्रसररूपकार्यं असिद्धं अनिष्पन्नं अविद्यमानप्रायं स्यादित्यनुषज्यते । भागवततेजःप्रसरे भानुतेजःप्रसरो न मूर्धानमुन्नमयितुं शक्नुयादिति भावः । पक्षे आभीये 'आभात्' इत्यधिकारविहिते कार्ये शब्दनयप्रसिद्धे कार्ये समानाश्रये कर्तव्ये इति भावः । तत् आभीयं उक्ताधिकारविहितं कार्यं असिद्धं स्यात् 'असिद्धवदत्राभात्' इति सूत्रितत्वात् । अयं भावः—यथा एधीत्यत्र असधातोः 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धित्वरूपे आभीये कार्ये कर्तव्ये 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्यनेन कृतमाभीयं एत्व

रूपं कार्यमसिद्धम् । यथाच आसीदित्यत्र 'आडजादीनाम्' इत्याभीये आटि कर्तव्ये 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपोऽसिद्ध इति ॥ समानाश्रयत्वं चैकत्र समानाधिकरणत्वं भागवतभानुतेजसोरुभयोरप्यत्रैव जगति विद्यमानत्वात् । अन्यत्र असिद्धत्वाश्रयशास्त्रसंबन्धिनिमित्तसमुदायान्यूनातिरिक्ताश्रयकत्वमिति ध्येयम् ॥ अत्र भागवताभाप्रसरे भान्वाभाप्रसरः कां गतिं प्राप्नुयाद्वेति शङ्कितस्यार्थस्य आभीये कार्ये समानाश्रये कर्तव्ये आभीयकार्यस्यासिद्धवद्भावं शाब्दिकपरिभाषितं श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायेनोपजीव्याथवेत्यादिना प्रतिषेधो वर्णितः ॥ प्रमाणालंकारसंकीर्णोऽयम् ॥

यथावा—

**अपचितविभवा रचिता विनता विमताश्च नाथ बत भवता । सर्वविदः किमुचितमिदमथवा गीतं त्वया समोऽहमिति ॥ १०५१ ॥**

अपचितः पूजितः विलूनश्च विभवो येषां ते । अपपूर्वकाच्चिनोतेरुभयार्थकत्वात् । तथाच रत्नमाला—'स्त्रियामपचितिः पूजानिष्कृत्योस्संक्षये व्यये' इति । अत्रापचितविभवा इत्यादिना श्लेषावलम्बनेन शङ्कितस्य भगवदविमर्शस्य 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति तद्वचनमूलकसमत्वपरिचिन्तनेन प्रतिषेधः । अयं तुल्ययोगिताविशेषप्रमाणालंकारादिभिः परिपोषितः ॥

यथावा—

**प्रतिकूलदर्शिनामप्यनुकूलदृशामिव त्वयि समानार्थम् । कमलाललामक त्वं कलयासि बत तेऽक्षरस्स्वभावो वैवम् ॥ १०५२ ॥**

कमला लक्ष्मीः ललामं भूषणं यस्य सः कमलाललामकः। 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। श्रीनिवास इत्यर्थः। तस्य संबुद्धिः हे कमलाललामक! त्वयि विषये अनुकूलदृशां आनुकूल्यैकरसानां विदुराक्रूरादीनामिव प्रतिकूलदर्शिनां प्रातिकूल्यैकशीलानां शिशुपालघण्टाकर्णादीनामपि त्वं समानार्थं तुल्यं पुरुषार्थं कलयसि ददासि। बतेतीदृशावितरणविचारजनिते खेदे विस्मये वा। पक्षे कमलाललामकेति तस्यैव शब्दस्य संबोधनम्। त्वं अनुलोमं पश्यतामिव प्रतिलोमं पश्यतामपि तुल्यमेवाभिधेयं प्रकाशयसीत्यर्थः। 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः। आनुलोम्यप्रातिलोम्ययोरभिन्नवर्णानुपूर्वीकत्वात् कमलाललामकेत्यस्य तुल्यार्थाभिधायित्वमिति भावः। बतेतीदृशशब्दस्वभावपरिशीलनजनिते हर्षे विस्मये वा। वाशब्दः अथवेत्यर्थे। ते तव ःक्षरः अविनाशी इतरोपायैरचाल्य इति यावत्। स्वभावः निसर्ग एव। एवं 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' इति त्वयैव गीतत्वादिति भावः। पक्षे ते कमलाललामकेति पदस्य तव। अक्षराणां स्वभावः अक्षरस्वभावः। सकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वम्। वर्णानां स्वरूपं एवं एवमेव। अनुलोमविलोमपाठयोरानुपूर्व्या एकविधत्वात्तुल्यार्थप्रकाशकत्वं न विस्मयाधायकमिति भावः। अत्र प्रतिकूलदृशामित्यादिनाऽऽक्षिप्तस्यार्थस्य ते अक्षरस्वभाव एवामिति प्रतिषेधस्सूचितः। श्लेषतुल्ययोगिताविशेषोपस्कृतोऽयम्॥

यथावा—

**अपि घनवरशरधारावर्षी कथमिव विशोषितान्धिरसि। अथवा दशरथनन्दन नन्वासीस्त्वं स्वयं महाधन्वा॥१०५३॥**

हे दशरथनन्दन! घनवराणां जलदश्रेष्ठानां शरधाराः जलधाराः तासां वर्षं वृष्टिः तदस्यास्तीति तथोक्तोऽपि। मत्वर्थीय इनिः। पक्षे अविरळतरविशिखपरंपरावर्षी णिनिः। शोषोऽस्य संजातः शोषितः शुष्कः अब्धिः सरो यस्मिन् सः। पक्षे शोषं प्रापितः अब्धिस्सागरो येन सः शुषेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। 'अब्धिर्ना सिन्धौ सरस्यपि' इति मेदिनी। कथमासीः। इदमाश्चर्यम्। यज्जलदजलधारावर्षवतोऽपि शुष्कसरस्त्वमिति भावः। अथवा त्वं महांश्चासौ धन्वा च महाधन्वा महामरुप्रदेशः आसीः। नाश्चर्यमिदं यत्त्वयि जलदजलधारावर्षवत्यपि शुष्कसरस्त्वं तस्य मरुदेशस्वाभाव्यादिति भावः। महत् धनुः यस्य स तथोक्तः उद्दण्डकोदण्ड इति वस्तुस्थितिः। 'धनुषश्च' इति समासान्तोऽनङ्। महत् धन्व यस्येति वा 'धन्वा तु मरुदेशे ना क्लीबं चापे स्थलेऽपि च' इति मेदिनी। 'चापमानय सौमित्रे शरांश्चाशीविषोपमान्। सागरं शोषयिष्यामि' इत्याद्युक्तरीत्या उद्यतोच्चण्डकोदण्डदण्डस्य महावीरधौरेयस्य तव अविरळशरपरंपरावर्षेण सागरशोषणं न विस्मयावहामिति भावः। अत्र घनशरादिशब्दप्रतिपाद्यजलदजलसान्द्रबाणादिरूपार्थद्वयश्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायोपजीवनेन जलदजलधारावर्षवत्त्वेऽपि शुष्कसरस्त्वं कथमित्याशङ्कितस्यार्थस्य महाधन्वशब्दप्रतिपाद्यमहामरुमहाचापरूपार्थद्वयश्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायावलम्बनजनितमहामरुदेशत्वलक्षणतत्स्वरूपविमर्शनेन प्रतिषेधः। विभावनाविशेषसंकीर्णोऽयम्॥

यथावा—

अवनत्वं तव कथमिव सुरभिशुभश्रीलताश्रि-

**तस्य हरे । यदि वा सकलपलाशिव्रजनाशयिता-ऽसि तदिह हेतुस्स्यात् ॥ १०५४ ॥**

हे हरे! सुरभौ वसन्तसमये शुभा श्रीः कुसुमादिसमृद्धिः यासां तथोक्ताः याः लताः ताभिः अञ्चितस्य युक्तस्य । पक्षे सुरभिः मनोहारिणी शुभा च या श्रीलता श्रीरस्यास्तीति श्रीलः सिध्मादित्वान्मत्वर्थीयो लच् 'लक्ष्मीवान् लक्ष्मणश्श्रीलः' इत्यमरः । तस्य भावः श्रीलता तया अञ्चितः तथोक्तस्य लक्ष्मीविशिष्टतया जगत्पूजितस्येत्यर्थः । तव न वनत्वं अवनत्वं विपिनत्वाभावः कथमिव । समृद्धलतान्वितत्वे वनत्वस्यावश्यंभावादिति भावः । अवतीत्यवनः तस्य भावः जगद्रक्षकत्वमिति तु वस्तुस्थितिः । यदि वा अथवा सकलाः ये पलाशिनः विटपिनः पलमश्नन्तीति पलाशिनः क्रव्यादाश्च तेषां व्रजस्य नाशयिता असि तत् पलाशिनाशनं इह तवावनत्वे हेतुः स्यात् । सकलतरुनिर्मूलयितृत्वमेव वनत्वाभावे कारणं स्यादिति भावः । पक्षे– निखिलनिशिचरनिर्मूलयितृत्वस्यैव जगदवने हेतुत्वमिति भावः। अत्रापि पूर्वोदाहरण इव श्लेषोपजीवनेनैवाक्षेपनिषेधौ ॥

---

## आक्षेपप्रकारान्तरम्.

**निषेधो यो बाधितस्सन् विशेषं कंचिदाक्षिपेत् ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयं तमाक्षेपं परे जगुः ॥**

यो निषेधो बाधितस्सन्नर्थान्तरपर्यवसितः कञ्चिद्विशेषमाक्षिपति सः निषेध इव निषेधः निषेधाभास इति यावत् ।

तं आक्षेप इत्यलंकारसर्वस्वकारादय आहुः। अतएव 'निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते' इति कुवलयानन्दे लक्षितम्। सोऽयं द्विविधः वक्ष्यमाणविषयः उक्तविषयश्चेति। तत्र यदि सामान्यतो वर्णनमुपक्षिप्य निषेधोऽभिधीयते तदा वक्ष्यमाणविषयः। अशक्यवक्तव्यत्वरूपविशेषप्रतीतिफलक उक्तविषय आक्षेपः अयमपि द्विविधः। क्वचिद्वस्तुमात्रनिषेधात् क्वचिद्वस्तुकथननिषेधात्। वक्ष्यमाणविषयस्तु वस्तुकथननिषेधात्मक एव। व्युत्क्रमेणोदाहरणानि॥

यथा—

शृणु मम निर्वेदकथामणुमात्रीं ते निवेदयिष्यामि। घृणयाऽनाघ्राते त्वयि भणितव्यं नाम नाथ किंवाऽस्ति॥ १०५५॥

अत्र भगवन्तं प्रति कस्यचिन्निर्विण्णस्य वचने शृणु मम निर्वेदकथामिति सामान्यत उपक्रम्य भणितव्यं नाम नाथ किंवाऽस्तीति निषेधात्यन्तिकखेदोद्वेल्लनत्वेन दुर्वचतया अशक्यवक्तव्यताप्रतीतिफलको वक्ष्यमाणविषयोऽसावाक्षेपः वस्तुकथननिषेधात्मकः॥

दव इव भव इह खिद्ये मृग इव मृगपतिनगाग्रविद्युत्वन्। अलमलमनया कथयाऽप्यनादराणामवाकिनामग्रे॥ १०५६॥

वाचाऽप्यादरमकुर्वाणानामग्रे स्वदैन्यकथनं निष्प्रयोजनं त्वमप्यवाक्यनादर इति हि श्रुत इति भावः। अत्र 'सर्वमिद

मभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' इति शाण्डिल्यविद्याश्रुतिरनुसन्धेया। 'अनादरः अवाप्तसमस्तकामत्वेनादर्तव्याभावादादररहितः। अत एव अवाकी परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं निखिलं जगत्तृणीकृत्य जोषमासीनः' इति श्रुतेरर्थः। वाको वचनं वचेर्घञि 'चजोः कुघिण्ण्यतोः' इति कुत्वम्। सोऽस्य नास्तीत्यवाकी। अत्र भगवन्तं प्रति कस्यचिदार्तस्योक्तौ दव इव भव इह मृग इव खिद्ये इत्येकदेशमुक्त्वा अलमलमिति वक्तव्यशेषनिषेधात्तत्कथनस्य वैयर्थ्यं त्वत्स्वभावत एव सुव्यक्तमिति विशेषाभिव्यक्तेरुक्तविषयोऽयमाक्षेपः वस्तुकथननिषेधात्मकः। एवंचाक्षेपे इष्टोऽर्थः तस्य च निषेधः निषेधस्यानुपपद्यमानत्वादसत्यत्वं विशेषप्रतिपादनं चेति चतुष्टयमुपयुज्यते। तेन न निषेधविधिः। न वा विहितनिषेधः। किंतु निषेधेन विधेराक्षेपः। निषेधस्यासत्यत्वाद्विधिपर्यवसानमित्याहुः॥

क्वचिदुच्यमानस्यैव निषेधो दृश्यत इति काव्यदर्पणकारः। तदेदमुदाहरणम्—

पाहीति नियोक्तव्ये वक्तव्यं त्वयि नियोक्तरि
न युक्तम्। रक्षेस्त्वमेव दीनान्किं प्रार्थनयेति तदि-
दमौदास्यम्॥ १०५७॥

तत्कुरु यदिच्छसि त्वं मुञ्चामि कथं भवन्त-
मिति धौर्त्यम्। रक्षन्नपि जगदखिलं कस्मान्मां
नावसीत्यधिक्षेपः॥ १०५८॥

जरदिभ एव हि मत्तोऽप्यासीत्प्रेष्ठस्तवेत्युपालम्भः । इति दोषविचारजडाः किं नु ब्रूमस्तवाग्रतो भूमन् ॥ १०५९ ॥

हे भूमन्निति भगवतस्संबोधनम् ॥ इदं विशेषकं

द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिश्श्लोकैर्विशेषकम् ।
कालापकं चतुर्भिस्स्यात्तदूर्ध्वं कुळकं स्मृतम् ॥

इति लक्षणात् ॥ अत्र पाहीत्यादेरुच्यमानस्यैव नियोक्तरि त्वयि न युक्तमित्यादिना निषेधस्सर्वथाऽपि त्वय्यर्पितभरा मुग्धतरा वयं त्वया नोपेक्षितुमर्हा इति विशेषमाक्षिपति ॥

उक्तविषयो वस्तुनिषेधात्मक अक्षेपो यथा—

सर्वज्ञाहं न कविस्सर्वसुहृत्त्वमसि किं मयाऽऽवेद्यम् । दीने वाऽदीने वा स्थाने विदधाति भवादृशाः करुणाम् ॥ १०६० ॥

सर्वज्ञेति भगवतस्सम्बोधनम् ॥ अत्र स्तोतरि कवौ नाहं कविरिति निषेधोऽनुपपद्यमानः अतिशयात्युक्त्यादिपूर्वकासंभावितार्थवर्णनपरिहारेण तथ्यवादित्वे विश्राम्यन् सर्वसुहृदा सर्वज्ञेन त्वया दीनोऽयं जनो नोपेक्षणीय इति सामान्यमुखेन विशेषमाक्षिपति । अत्र कविरूपवस्तुनिषेधः ॥

यथावा—

नूनं न मानुषोऽसावानन्दं यो गुणैस्तव न विन्देत् । सत्यं स च न मनुष्यो योऽत्यन्तं तैर्हरे सदाऽऽनन्देत् ॥ १०६१ ॥

अत्र भगवद्गुणैरनानन्दितरि तैरानान्दितरि च मानुषे न मानुष इति निषेधोऽनुपपद्यमानस्तयोः क्रमेण पिशाचदेवतुल्यतारूपविशेषमाक्षिपति ॥

यथावा—

**न वदामि चाटु शौरे तव दासानां नृणां पुरन्ध्रिगणाः । मणिसौधाग्रगता विधुलक्ष्म दृशोरञ्जनार्थमाददते ॥ १०६२ ॥**

अत्र स्तोतुः कवेर्वचने प्रथमचरणे चाटुवादित्वनिषेधो बाधितो मृषावादित्वनिषेधात्मना पर्यवस्यन्नवशिष्टचरणत्रितयगतस्यार्थस्य सत्यत्वरूपं विशेषं व्यनक्ति । सत्यत्वं चास्य कविप्रौढोक्तिसिद्धम् । 'चटु चाटु प्रिये वाक्ये' इति तत्वबोधिन्यामव्ययेषु पाठात् चाटु इत्येतदव्ययम् । क्लीबं वा । 'अस्त्री चाटुश्चटुः' इति कोशात् ।

यथावा—

**गोविन्द नन्दनन्दन सुन्दर न त्वां समुत्सहे द्रष्टुम् । पश्यन्तु स्वैरं तास्स्वै रन्ता या विनोदयसि विहृतैः ॥ १०६३ ॥**

ताः ललनाः त्वां स्वैरं यथेप्सितं पश्यन्तु । चतुर्थचरणे स्वैः रन्ता याः इति छेदः । रन्ता विलासी त्वं याः ललनाः स्वैः निजैः विहृतैः विहारैः भावे क्तः विनोदयसि ताः पश्यन्त्वित्यन्वयः । अत्र भगवन्तं नन्दनन्दनं पश्यन्त्याः कस्याश्चिद्गोपमहिळाया उक्तौ आत्मनि तद्दर्शनोत्साहनिषेधोऽनुपपद्यमा-

नस्सन् नायिकान्तरेष्विव मय्यननुरक्तोऽसि किं विधेयमिति दैन्यं द्योतयति ॥

**निषेधाभासवद्विध्याभासोऽप्याक्षेप इष्यते ।**

तुल्यन्यायतया असत्येन विधिना निषेधस्याक्षेपे अपरोऽप्याक्षेप इत्यर्थः । अत्र अनिष्टोऽर्थः तस्य विधिः तस्याप्याभासत्वं अर्थगतविशेषप्रतिपादनं चेति चतुष्टयमुपयुज्यत इत्याहुः ॥

यथा —

**दैवात्सत्पथमुपगतमेवं मां चेदुपेक्षसे बाढम् ।**
**भूयोऽप्यपथगमेनं श्रेयसि योजयसि कथमिति बिभेमि ॥ १०६४ ॥**

इदानीं यादृच्छिकादिसुकृतवशात्सन्मार्गसमीपगतं मां त्वमुपक्षसे चेत् बाढं तथैवोपेक्षस्वेत्यर्थः । बाढमित्यङ्गीकारेऽव्ययम् । अत्र च कस्यचिद्भगवद्भक्तस्य परमपुरुषं प्रत्युपेक्षाप्रार्थनं विधीयमानमनुपपद्यमानं तद्विध्याभासतया निषेधमेवावगमयति । उपेक्षस्वेति विधिर्व्यक्तः । मोपेक्षिष्ठा इति निषेधस्तु भूयोऽपि कर्मवशादपथप्रवृत्तमेनं मामुचिते श्रेयसि प्रवर्तयितुं तव महान् प्रयासस्स्यादिति भयप्रदर्शनेन तिरोहितः । अत एव

"आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते प्रतिषेधे तिरोहिते" ।

इति कुवलयानन्दकारैरयं प्रकारो लक्षितः ॥

इत्यलङ्कारमणिहारे आक्षेपसरश्चतुस्त्रिंशः ॥

# अथ विरोधमूला अलंकाराः.

## (३५) तत्र विरोधालंकारसरः.

स विरोधोऽविरोधेऽपि विरोधाभासता यदि ।
जात्यादीनां स्वस्वपरसंबन्धाद्दशधा भवेत् ॥

परमार्थतो विरोधाभावेपि यत्रापाततो विरोधो भासते स विरोधालङ्कारः । विरोधश्च प्ररूढोऽप्ररूढश्चेति द्विविधः । प्ररोहश्च बाधबुद्ध्यनभिभूतत्वं, तद्वैपरीत्यमप्ररोहः । तत्राद्यो दोषस्य विषयः द्वितीयस्त्वलङ्कारस्य । अत एवेममाचक्षते विरोधाभासम् । आ ईषत् भासत इत्याभासः विरोधश्चासावाभासश्चेति । आमुख एव प्रतीयमानो झगिति जायमानाविरोधबुद्धितिरस्कृत इति यावत् । तत्रापि कार्यकारणादिबुद्ध्यनालीढो विरोधाभासो विरोधालंकारः । तदालीढस्तु विभावनादिर्वक्ष्यमाणः । अयं च जातिगुणक्रियाद्रव्याणां स्वेन स्वेतरेण च सह योगाद्भवति । एवं च जातेर्जातिगुणक्रियाद्रव्यैः, गुणस्य गुणक्रियाद्रव्यैः, क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां, द्रव्यस्य द्रव्येणैवेति दश भेदाः पर्यवसन्नाः । तथाचोक्तम्—

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणस्त्रिभिः ।
क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ॥

इति । गुणेन सह जातेर्विरोधस्तु पृथङ्नोक्तः, जातेर्गुणविरोध एव तदन्तर्भावात् । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । क्रिया चात्र न वैयाकरणानामिव शुद्धा भावना, नापि नैयायिकानामिव स्पन्दरूपा । किं तु तत्तद्धातुवाच्या विशिष्टव्यापाररूपेति ध्येयम् ॥

तत्र जातेर्जात्या विरोधो यथा—

रम्याणि विमानान्यतिसौम्यानि सरांसि संस- द्मश्च तथा । स्थानस्य तव परात्मन्नूनं नरका भव- न्ति नरकारे ॥ १०६५ ॥

अत्र विमानादिजातेर्नरकजात्या विरोधः । अयं पुरस्स्फुरन्नपि जात्योर्विरोधो वक्ष्यमाणवचनेन भगवत्स्थानापेक्षयाऽतिमात्रहेयतया नरकतुल्या भवन्तीति विमर्शेन निवर्तते । अत्र—

रम्याणि कामचारीणि विमानानि सभास्तथा ।
आक्रीडा विविधा राजन् पद्मिन्यश्चामलोदकाः ॥
एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः ।

इति महाभारतप्रमाणार्थोऽनुसंहितः ॥

जातेर्गुणेन यथा—

घनसारचन्दनाचलवनसारिमरुत्किशोरशशि- किरणाः । त्वद्ध्यानशीतलहृदां तिग्मकरादपि च नाथ तिग्मतराः ॥ १०६६ ॥

अत्र घनसारादिजातेस्तिग्मतरत्वरूपगुणेन सह विरोधः ॥

जातेः क्रियया यथा—

नीराजयमानो घनसारखण्डप्रदीप एष त्वाम् । वेङ्कटनाथ विलोचनपङ्करुहाण्याशु शिशिरयति नृ- णाम् ॥ १०६७ ॥

अत्र दीपत्वजातेर्लोचनशिशिरीकरणक्रियया सह विरोधः ॥

जातेः द्रव्येण यथा—

दशरथतनयो धन्वी विशकलयन् दश दिशोऽपि विष्फारैः। दशमुखपुरसदनानां शशिवदनानामभूद्युगान्ताग्निः ॥१०६८॥

अत्राग्नित्वरूपजातेर्दशरथतनयलक्षणद्रव्येण सह विरोधः ॥

अयं श्लेषमूलकोऽपि भवति। तत्र जातेर्जातिगुणक्रियाद्रव्यैर्विरोधो यथा –

श्रीशस्य पृथुलसत्त्वः क्रीडाद्रिर्मृदुलताभिरामतनुः। द्यामुत्पतति महिम्नाऽनन्ताख्योऽयं महत्किलाश्चर्यम् ॥१०६९॥

श्रीशस्य श्रीनिवासस्य क्रीडाद्रिर्विहाराचलः। अत्राद्रित्वजातेः पृथुलश्चासौ सत्त्वः जन्तुरिति जात्या विरोधः। पृथुलास्सत्त्वाः प्राणिनो यस्मिन्निति वा, पृथु लसतो भावः लसत्त्वं प्रकाशो यस्येति वा, परिहारः। मृदुलतया मृदुत्वेन अभिरामतनुरिति गुणेन विरोधः, मृदवश्च ताः लताश्च ताभिराभिरामतनुरिति परिहारः। महिम्ना महत्त्वेन गुरुत्वेन द्यामुत्पततीति क्रियया विरोधः, प्रभावेन दिवमप्यतिशेते इति परिहारः। अयमद्रिः अनन्तं अन्तरिक्षमित्याख्या यस्य स तथोक्तः। आकाशत्वमेकव्यक्तिकत्वान्न जातिरिति द्रव्येण तेनाद्रित्वरूपजातेस्तदनधिकरणत्वरूपविरोधः। शेषाख्य इति तदभावः ॥

यथावा—

तव वाहनं पतङ्गोऽप्याशुग उन्निद्रकुवलयामोदः। उत्तम्भितोत्तमश्रीर्भवति जगन्नाथ कुमुदसुहृदेषः ॥१०७०॥

अत्र तव वाहनं पतङ्गः भानुमानपीति जातेः आशुगः मारुत इति जात्या विरोधः विहङ्गः शीघ्रगामीति समाहितः। उन्निद्रः कुवलयानां आमोदः परिमळः येन स इति गुणेन विरोधः प्रकाशितपृथ्वीमण्डलप्रमोद इति समाहितः। उत्तम्भिता उन्नमिता तमसां श्रीर्येन स इति तमउत्तम्भनक्रियया विरोधः। अभिवर्धितश्रेष्ठसंपादिति परिहृतः। कुमुदसुहृत् चन्द्रमाः कुमुदसुहृत्त्वमेकव्यक्तिवृत्तित्वान्न जातिरिति द्रव्यशब्दोऽयं तेन सूर्यत्वजातेस्तत्समवेतत्वविरहरूपो विरोधः। सूर्यत्वस्य द्वादशसूर्यव्यक्तिवृत्तितया जातित्वम्। कुत्सितमुदां हेयविषयाभिलाषवतां असुहृत् विरोधीति वा, कुत्सिता पापिनी मुत् येषां तेषां दैत्यदानवादीनां असून् प्राणान् हरतीति तथोक्त इति वा समाहितः। अत्र द्वयोरपि विरोधिनोः श्लिष्टत्वं पूर्वत्रैकस्यैवेति विशेषः॥

एवं जातेर्जात्यादिभिश्चतुर्भिर्विरोध उक्तः॥

अथ गुणस्य गुणेन विरोधो यथा—

**सम्मार्जनविधुरतया सधूळयो दुर्विधालयालिन्दाः। त्वयि पश्यति दानझरैर्वेङ्कटगिरिनाथ पङ्किला जाताः॥१०७१॥**

अत्र सधूळित्वगुणस्य पङ्किलत्वगुणेन विरोधः भगवत्कटाक्षप्रभावेन तत्संभवात्कालभेदेन परिहृतः॥

यथावा—

**वालिदशाननमुखनिर्मूलनबाणं पुरो रघुधुरीणम्। निध्यायतो मघवतो मानसमाविलमभूत्प्रसन्नं च॥१०७२॥**

निध्यायतः पश्यतः। अत्राविलत्वप्रसन्नत्वयोर्गुणयोर्विरोधः। स्वतनयवालिस्वविरोधिदशाननादिवध्ररूपनिमित्तभेदेन परिहृतः॥

गुणस्य क्रियया विरोधो यथा—

भवतः परितस्तपतां भवतश्चरितानि नाथ निशमयताम् । उद्यदमन्दानन्दान्यपि बत मन्दीभवन्ति चेतांसि ॥ १०७३॥

अत्र उद्यदमन्दानन्दत्वरूपगुणस्य मन्दीभवनक्रियया विरोधः। विगळितवेद्यान्तराणि भवन्तीति परिहारः॥

गुणस्य द्रव्येण यथा—

त्वयि विन्यस्तस्वान्ता विजयन्तां ते चिरं भुवि महान्तः। अणुरपि येभ्यो दत्तो गुणवद्भ्योऽब्जाक्ष भवति मेरुगिरिः ॥ १०७४॥

अत्राणुत्वरूपगुणस्य मेरुगिरिरूपद्रव्येण विरोधः। अल्पोऽपि पदार्थो महाफलप्रद इति परिहारः॥

यथावा—

तेभ्यो नमोऽस्तु सद्भ्यः परमं ये हार्दि निधाय तद्ब्रह्म। स्वगुणैर्निस्पन्दतमं रचयन्तो दृढतमैरणुमकार्षुः ॥१०७५॥

अत्राणुत्वरूपगुणस्य निरतिशयबृहत्त्वयोगिपरब्रह्मरूपद्रव्येण सह विरोधः 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' इत्यादिना सर्वस्माज्ज्यायस्त्वेन श्रुतस्य परस्य ब्रह्मण उपासनार्थं हृदयायतनावच्छेदेनावस्थापितत्वादिदमणुत्वमिति परिहारः। तथाच

श्रूयते 'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा' इति । पूर्वत्र गुणस्य द्रव्येण विरोधः अत्र तु द्रव्यस्य गुणेनेति विशेषः ॥ दृढतमैः गुणैः रज्जुभिः उपासनौपयिकगुणैश्च निस्पन्दं रचयन्तः बध्नन्तः दृढमवस्थापयन्तश्च सन्तः तद्ब्रह्म अणुमकार्षुरिति योजना ॥ निस्पन्देत्यत्र स्पदेरषोपदेशत्वान्न षत्वम् । तथाच वामनः 'निष्पन्द इति षत्वं चिन्त्यं लक्षणादर्शनात्' इति । एतच्चास्माभिर्विस्तरेण निरूपितं हंससंदेशरसास्वादिन्यां 'न्यस्तनिस्पन्ददृष्टिः' इत्यत्र ॥

श्लेषमूलको गुणस्य गुणक्रियाभ्यां द्रव्यैर्विरोधो यथा—

**मृदुलाऽप्यद्भुतमूर्तिर्मुग्धाऽपि जगद्धितानि वितनोषि । अतिचञ्चलाऽपि धात्री विचित्रमेतद्रमे तव चरित्रम् ॥ १०७६ ॥**

हे रमे ! त्वं मृदुला कोमलावयवेति गुणस्य अद्भुता मूर्तिः काठिन्यं यस्या इति गुणेन विरोधः, दयामृदुहृदया सापराधैरपि सहसाऽऽश्रयितुं शक्या लोकोत्तरदिव्यविग्रहेति परिहारः । 'मूर्तिः काठिन्यकाययोः' इत्यमरः । मुग्धा अज्ञाऽपीति गुणस्य जगद्धितानि वितनोषीति क्रियया विरोधः, अज्ञानां तत्करणानीश्वरत्वात् । मुग्धा सुन्दरीति परिहारः 'मुग्धस्सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः । अतिचञ्चलापीति गुणस्य धात्री भूमिरिति द्रव्येण विरोधः । अचलात्वात्तस्याः । अतिक्रान्ता चञ्चलामतिचञ्चला दीप्त्यतिशयपरास्तविद्युल्लता जगतां मातेति परिहारः । 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु' इति मेदिनी ॥

यथावा—

पीतांशुकोऽपि भगवंश्चित्रं हरिताभिराम एव त्वम् । विशदयसि च निजरुच्या जगदखिलं भवसि चापि भूतेशः ॥ १०७७ ॥

पीताः अंशवः किरणाः यस्य स पीतांशुक इति गुणस्य हरितेन हरिद्वर्णेन अभिराम इति गुणेन सह विरोधः । पीताम्बर इति हरेर्भावो हरिता तया अभिराम इति परिहारः । अखिल जगत् निजया रुच्या दीप्त्या विशदयसि धवळ.सीति क्रियया विरोधः । निजरुच्या स्वविषयकप्रीत्या विशदयसि निर्मलयसीति परिहारः । भूतेशः रुद्र इति द्रव्येण विरोधः । तस्य पाण्डुरवर्णद्रव्यतया पीतवर्णत्वायोगात् । 'एष भूतेश्वर एष भूतपालः' इति श्रुतेस्सर्वभूतेश्वर इत्यविरोधः । अत्रैकस्यैव पीतांशुकत्वगुणस्य गुणक्रियाद्रव्यैर्विरोध उक्तः । पूर्वत्र तु मृदुलत्वादीनां भिन्नभिन्नानां गुणानां प्रत्येकं गुणादिभिर्विरोध इति वैलक्षण्यं बोध्यम् ॥

एवं गुणस्य गुणादिभिस्त्रिभिर्विरोधो दर्शितः ॥

अथ क्रियायाः क्रियया यथा—

आपततां युधि पुरतो द्विषतां महतां शिरांसि चक्रेण । छिन्दन्नमन्दमेषां मुकुन्द विदधासि परमानन्दम् ॥ १०७८ ॥

अत्र छेदनक्रियाया आनन्दनक्रियया विरोधः । मुक्तौ निरतिशयस्वानन्दानुभवं वितरसीति तदभावः ॥

यथावा—

सकलेप्सितार्थदाता दुरधिगमो बहुतरैस्तपोभि-
रपि । विनतान् सुखाकरोषि त्वं ननु दुःखाकरोषि
चाब्जाक्ष ॥ १०७९ ॥

अत्र सुखाकरणदुःखाकरणक्रिययोर्विरोधः । यथासंख्यं पूर्वार्धोक्तावच्छेदकद्वयसद्भावेन तदभावः । सुखाकरोषि दुःखाकरोषीत्युभयत्रापि 'सुखप्रियादानुलोम्ये । दुःखात्प्रातिलोम्ये' इति डाच् ॥

यथावा—

सरभसकरसरसिजधृतसुदर्शनं दैवतैश्च दुर्दर्श-
म् । भृशमन्वरङ्क्त भीष्मो जिघांसुमपि कंसहिंसनं
वीक्ष्य ॥ १०८० ॥

सुदर्शनमित्यत्र सुष्ठु दृश्यत इति विग्रहः । 'भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज्वाच्यः' इति खलोऽपवादो युच् । दुर्दर्शमित्यत्र तु दर्शः दर्शनं दृशेर्भावे घञ् । दुष्करो दर्शो यस्य स इति विग्रहः । न तु दुःखेन दृश्यत इति । तथा सति दुर्दर्शन इति स्यात् उदाहृतवार्तिकात् । न च वासरूपविधिना खलपवादस्य युचो वैकल्पिकत्वान्निर्वाहः, तन्निषेधस्य "क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वासरूपविधिर्नास्ति' इति परिभाषितत्वात् । तस्मादुक्तरीत्या बहुव्रीहिणैव निर्वाहो युक्तः । एवमेव 'तं दुर्दर्शं, सुदुर्दर्शमिदं रूपं, दुर्दर्शो शशिखण्डमण्डन' इत्यादिश्रुतिस्मृत्यर्वाचीनप्रयोगा निर्वाह्याः । अत्र जिघांसुदर्शनानुरञ्जनक्रिययोर्विरोधः । अन्वरङ्क्तेत्यत्र अनुपूर्वकाद्रञ्जेर्लङ् ॥

क्रियाया द्रव्येण विरोधो यथा —

मारुतकुक्षिंभरिगिरिदूरतरोत्तुङ्गशृङ्गसङ्गि महः।
वारितकलुषं द्विषतां भूरितरं मलिनिमानमात-
नुते ॥ १०८१ ॥

अत्र मलिनिमाधानक्रियायाः महस्त्वेनाध्यवसितभगवद्रूप-
द्रव्येण सह विरोधः ॥

यथावा—

रघुतनयवटुत्रुटितोद्भटनटचापस्फुटस्वनाटोपैः।
फालाक्षोऽपि चकम्पे पफाल च द्यौः पपात भुवि
च ग्लौः ॥ १०८२ ॥

अत्र कम्पादिक्रियाणां फालाक्षादिद्रव्यैर्विरोधः । पुरहर-
शरासनभञ्जनजनितनिर्घोषातिशयोक्त्या परिहृतः ॥

एवं क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां विरोधो दर्शितः ॥

द्रव्यस्य द्रव्येण विरोधो यथा—

विततायां तव कीर्त्यां सततं जगदखिलमति-
विशदयन्त्याम् । कनकगिरिः कैलासो व्यालाधि-
पशैलशेखर बभूव ॥ १०८३ ॥

अत्र कनकगिरिरूपद्रव्यस्य कैलासरूपद्रव्येण विरोधः । की-
र्तिधवलिमातिशयप्रशंसया परिह्रियते ॥

श्लेषेण क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां द्रव्यस्य द्रव्येण च वि-

रोधो यथा—

दयमानस्सकलात्मसु विशन्नपि घृणां विमुञ्च-
सि गुणाढ्ये । कामं सृजन्नपीशः कामं ब्रह्मासि
तदपि बत भगवन् ॥१०८४॥

अत्र दयापूर्वकसर्वात्मान्तःप्रवेशक्रियायाः घृणां कृपां मुञ्चसीति क्रियया विरोधः । घृणां वात्सल्यातिशयात्कष्टभूतदेहान्तरवस्थानाज्जुगुप्सां मुञ्चसि भोग्यमेव पश्यसीति परिहारः । कामं कंदर्पं सृजन्नपीति क्रियायाः ईश इति शर्वरूपद्रव्येण विरोधः । आश्रितसर्वेप्सितार्थदाता भूतभव्येशान इति परिहारः । अत्र—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

इति श्रुत्यर्थोऽनुसंहितः । तदपि एवं शर्वोऽपि ब्रह्मा चतुर्मुखोऽसीति द्रव्ययोर्विरोधः । ब्रह्म स्वरूपेण गुणैश्चानवधिकातिशयबृहत् परं ब्रह्मेति परिहारः ॥

एवं प्राचामनुरोधेन विरोधभेदाः प्रदर्शिताः । अत्र लक्षणे जात्यादीनामिति धर्ममात्रं विवक्षितं, उपलक्षणपरत्वात् । तेन 'यः किल बालकोऽपि पुराणपुरुषः विशुद्धमूर्तिरपि नीलाम्बुदनिभः जगद्धितकृदपि जगदहितकृत् अगोद्धारकोऽपि नागोद्धारकः' इत्यादौ सखण्डोपाधेरभावस्य च परिग्रह इत्याहुः । वस्तुतो जात्यादिभेदानामहृद्यत्वात् शुद्धत्वश्लेषमूलत्वाभ्यां द्विविध एवायम् । अत एव 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते, इत्येतावदेव सामान्यता लक्षणमभिहितं कुवलयानन्दे । तेन प्रदर्शयिष्यमाणानि पद्यानि सर्वाण्यपि विरोधाभासोदाहरणान्येव भविष्यन्ति ॥

यथा—

भुवि कृतपदोऽपि दिवि कृतपदो द्रमिडदेश-
गोऽपि सकलिङ्गः । अपि शशधरो विकासितश-
तपत्रक एष शेषगिरिराजः ॥ १०८५ ॥

भुवि भूमौ कृतपदः कृ(ल)तावस्थानोऽपि दिवि नभसि कृत-
पद इति विरोधः । दिविभिः चाषापरनामभिर्विहगैः कृतनीड
इति परिहृतः । द्रमिडदेशगोऽपि सकलिङ्गः कलिङ्गदेशसहित
इति विरोधः । धूम्याटापरनामविहगसहित इति परिहृतः । शश
धरः चन्द्रोऽपि विकासितानि शतपत्राणि कुशेशयानि येन स
इति विरोधः । शशाख्यमृगविशेषावासभूतः उल्लासितदार्वाघाटा-
ख्यखगविशेष इति परिहृतः । "अथ चाषः किकी दिविः ।
कलिङ्गभृङ्गधूम्याटा अथ स्याच्छतपत्रकः । दार्वाघाटः" इत्यमरः ॥

यच्छिरसि फणादिभ्राट्पुरुषं धारयति शेषगि-
रिभूतः । अयमेव कुं विचित्रं मूर्धनि धत्तेहिराजि-
सहचरितः ॥ १०८६ ॥

शेषस्य पतञ्जलितयाऽवतीर्णस्य गिरि वाचि महाभाष्ये
भूतः स्थितः । यः फणादिभ्राट् फणादौ फणधातुप्रभृतिधातु-
गणे विद्यमानः भ्राट् 'टु भ्राजृ दीप्तौ' इति धातुः । शिरसि
अन्तिमवर्णे जकारे इति यावत् । पुरु भूयिष्ठं 'पुरुभूः पुरु भूयि-
ष्ठम्' इत्यमरः । अनितरबाधितं यथा स्यात्तथा नित्यमेवेति यावत् ।
षं "व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः" इति विहितं
टकारपरमस्थानिभूतं षवर्णं धारयति धत्ते । राजिसहचरितः

राजीति इका निर्देशः राजिना 'राजृ दीप्तौ' इति धातुना सहचारितः अस्यापि फणादौ पाठादिति भावः। अयमेव 'टु भ्राजृ दीप्तौ' इत्युक्तो धातुरेव। मूर्धनि अन्तिमवर्णे इति यावत्। कुं 'चोः कुः' इति विहितं कवर्गादेशम्। हिशब्दोऽवधारणे। तमेवेत्यर्थः। धत्ते इति विचित्रम्। फणादेर्भ्राजेः कुत्वापवादेन षत्वविधानात्। 'एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ' इत्युक्तभ्राजृधातुवत्कवर्गादेशवत्त्वं विरुद्धमिति भावः। यथोच्यते कौमुदीग्रन्थे—'षत्वविधौ राजृसाहचर्यात् 'टु भ्राजृ दीप्तौ' इति फणादिरेव गृह्यते। यस्तु 'एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ' इति तस्य कुत्वमेव" इति। परिहारस्तु—फणाः स्फटाः आदिशब्दाद्रसनाशिरोरत्नादीनां ग्रहणम्। फणाः आदयो येषां ते तैः भ्राजत इति फणादिभ्राट् फणादिशब्दोपपदकात् 'टु भ्राजृ दीप्तौ' इति धातोः क्विप्। व्रश्चेति षत्वे जश्त्वेन डः। तस्य चर्त्वेन टः। यः फणिराज इति भावः। शेषगिरिभूतः शेषाद्रितां प्राप्तस्सन् मूर्धनि स्वशिखरे पुरुषं परमपुरुषं श्रीनिवासं धारयति। अयमेव असौ फणिराज एव अहिराजिसहचरित इति समस्तं पदम्। अहीनां फणिनां राज्या श्रेण्या सहचरितः पाताळे फणिश्रेणिमिळितस्सन् तदधीश्वरत्वात्तस्य। मूर्धनि फणमण्डले कुं पृथिवीं 'गोत्रा कुः पृथिवी' इत्यमरः। धत्ते। यश्शेषाचलरूपावलम्बी श्रीनिवासं स्वशिरसि दधाति स एव फणिराजस्सकलधरातलं शिरस्स्थले वहतीति निर्गाळितोऽर्थः॥

**तावकचरणाम्भोरुहसेवककवर्गः फणीन्द्रगिरिभास्वन्। संख्यातिगभद्रोऽपि स्फुरति चतुर्भद्रभाग्विचित्रमिदम्॥ १०८७॥**

संख्यातिगाः असंख्याकाः भद्राः गजजातिविशेषाः 'मन्दो भद्रो मृगश्चेति विज्ञेयास्त्रिविधा गजाः' इत्यनुशासनात् । यद्वा असंख्याकमङ्गळोऽपीत्यर्थः । चतुर्भद्रः चत्वार एव भद्राः भद्राणि वा यस्य स तथोक्त इत्यवधारणगर्भो बहुव्रीहिः 'अब्भक्षः' इतिवत् । स्फुरतीतीदं चित्रम् । परिहारस्तु—चतुर्भद्रं बलवद्धर्मार्थकाममोक्षरूपं चतुर्भद्रम् । यथोक्तममरसिंहेन "त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गस्समोक्षकैः । सबलैस्तैश्चतुर्भद्रम्" इति । चत्वारि भद्राणि श्रेष्ठान्यस्मिन्निति वा । चतुर्णां भद्राणां समाहार इति वा विग्रह इत्याहुः । अन्ये तु—

वित्तं त्यागसमेतं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
भोगस्सङ्गविहीनो दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥

इत्याहुः । इदं च भारतीयषोडशराजकप्रत्यध्यायश्रूयमाणस्य 'चतुर्भद्रतरस्त्वया' इत्यस्य व्याख्यायां स्पष्टम् । तद्भजतीति चतुर्भद्रभागिति । 'भद्रश्शिवे खञ्जरीटे वृषभे च कदम्बके । करिजातिप्रभेदे ना क्लीबं मङ्गळमुस्तयोः' इति मेदिनी ॥

**हन्त यदारोपयिता चापं रोपं तदैव चापयिता । हस्तेऽकरोः पुरा सद्वषक्षितिजाश्रियं रघुकुलेन्दो ॥१०८८॥**

हे रघुकुलेन्दो! यदा त्वं चापं धनुः रोपयिता रोपं बाणं करोतीति तथोक्त इति विरोधः । रोपशब्दात् ण्यन्तात्तृच् । 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । आरोपयितेति च्छेदः । अधिज्यं कर्तेति परिहारः । रुहेर्णिचि 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' इति पादेशः । तदैव चापारोपणसमय एव रोपं बाणं चापयिता चापं धनुः करोतीति तथोक्त इति विरोधः । च आपयितेति छेदः ।

तदैव आपयिता धनुः प्रापयिता च बाणं धनुषि संदधत्सन्नित्यर्थः । पुरा सन् प्रशस्तो वेषो यस्यास्सा क्षितिभूः भूमिजा श्रीः सीतात्वेनावतीर्णा लक्ष्मीः ताम् । पक्षे—द्वेषेण सहिताः संद्वेषाः वैरिणः तेषां क्षितौ तत्संबन्धिन्यां भूमौ जाता या श्रीः संपत् तां हस्तेऽकरोः पर्यणैषीः । पक्षे—वशेऽकार्षीरित्यर्थः ॥

त्वय्यभिमुखोऽनभिमुखो हिरण्यभाक्स्यादरण्यभाक्च श्रीः । भेदो यद्यप्यनयोर्भवत्यथापि ह्यभेद इति चित्रम् ॥ १०८९ ॥

हे श्रीः! त्वयि अभिमुखः हिरण्यभाक् सुवर्णोपलक्षितमहाविभवभाक् स्यात् । अनभिमुखस्तु अरण्यभाक् स्यात् भ्रष्टैश्वर्यो वनं प्रविशेदित्यर्थः । एवमनयोः भेदः उक्तरीत्या वैलक्षण्यं यद्यपि भवति भवत्येव 'यद्यपीत्यवधारणे' इति केशवः । तथाऽपि अभेद एव भवति हीति विरोधः । ह्यभेद इति समस्तं पदम् । हिवर्णावर्णाभ्यामेव भेदो भवतीति परिहारः । हिरण्यभाक् अरण्यभाक् इति शब्दयोः हि अ इति वर्णाभ्यामेव भिदा अन्यानुपूर्व्योस्तुल्यत्वादिति भावः । शब्दार्थतादात्म्यमूलकोऽयं श्लेषेण विरोधः ॥

दामोदरहिततां यो न विन्दते ननु मुकुन्दचन्द्रमुखि । विस्माययति समस्तानेष सदामोदरहिततां विन्दन् ॥ १०९० ॥

ननु मुकुन्दचन्द्रमुखि! यः दामोदरस्य हिततां न विन्दते सः दामोदराहितताामिति छेदः । स एषः दामोहरहिततां विन्दन् समस्तान् विस्माययतीति विरोधः । परिहारस्तु सदामो-

देत्यादि समस्तं पदम् । सन् प्रशस्तः यः आमोदः आनन्दः भगवत्कल्याणगुणानुभवजनित इति भावः । तेन रहिततां विन्दन्निति ॥

**असुरमहोक्षोऽत्युच्चैस्स्वरोऽथ मोहश्रितः परमुपेत्य । मिषतां नृणामासीदसुमोक्षोऽग्रेऽच्युतात्सुमोक्षश्च ॥ १०९१ ॥**

असुरश्चासौ महोक्षश्च असुरमहोक्षः । वृषभासुर इत्यर्थः । महाराजदशरथ इतिवदयं निर्देशः । परं अतिमात्रं मोहं श्रितः 'द्वितीया श्रित' इति समासः । भगवन्नन्दनन्दनकर्मकजिघांसा स्वानर्थस्यैव हेतुरित्यजानान इति भावः । अत एव अथ अत्युच्चैः स्वरो यस्य स तथोक्तस्सन् उपेत्य नृणां मिषतां सर्वेषु जनेषु पश्यत्स्वेव अच्युताद्भगवतो वासुदेवात् स्ववधहेतुभूतात् असुमोक्षः शोभनमोक्षरहितोऽपि अग्रे सुमोक्षश्चासीदिति विरोधः । असून् प्राणान् मोक्षयते त्यजतीत्यसुमोक्षः शोभनो मोक्षो मुक्तिर्यस्य सः सुमोक्षश्चासीदिति परिहारः 'मोक्ष अवसाने' इति चौरादिकत्वेन धातुवृत्तिपठिताद्धातोः कर्मण्यण् । अवसानं क्षेपः । 'मोक्षो निश्श्रेयसे वृक्षविशेषे मोचने मृतौ' इति हेमः ॥

पक्षे—अत्युच्चैः बहुवर्णसमुदायरूपत्वादतिमहानिति यावत् । असुरमहोक्षः असुरमहोक्षशब्दः स्वरः सुष्ठु अरः रेफरहित. अथ अनन्तरं मः अहाश्रित इति छेदः । मः इति पञ्चम्येकवचनम् । मकारात् परं अनन्तरं अहाश्रितः अहो इति स्वरव्यञ्जनाभ्यां अश्रितः रहितस्सन् मिषतां द्रष्टॄणां नृणां असुमोक्षः असीत् असुमोक्षशब्दतया दृश्योऽभूदिति भावः । अग्रे आदौ

अच्युतात् च्युतशब्दो भावे क्तान्तः अवर्णच्युतेरित्यर्थः । सुमोक्षश्च सुमोक्षशब्दश्चासीत् तथा दृश्योऽभूदिति भावः । असुरमहोक्षशब्दो रेफेण अह् इति स्वरव्यञ्जनरूपवर्णाभ्यां च विश्लिष्टअसुमोक्ष इति निष्पद्यमानः अनन्तरं प्राथमिकेन अवर्णेन विधुरस्सन् सुमोक्ष इति दृश्यो भवतीति परिनिष्पन्नोऽर्थः । प्रकृताप्रकृतश्लेषसंकीर्णोऽयम् ॥

श्वस्थितिभाग्यं प्राप्तावेक्षितोपेक्षितौ त्वया मनुजौ । अश्वस्थितिभाग्यजुषौ तथाऽपि चित्रं पृदाकुशिखरीन्दो ॥ १०९२ ॥

श्वः स्थितिर्यस्य तत् श्वस्थिति श्वो विद्यमानं चिरकालावस्थायीति यावत् । भाग्यं शुभकर्मपरिपाकभूतमैश्वर्यं अन्यत्र शुनां स्थितिः मर्यादा अवस्थानं वा तद्रूपं भाग्यं अशुभकर्मपरिपाकभूतं दारिद्र्यमित्यर्थः । 'भाग्यं कर्म शुभाशुभम्' इत्यमरः । तत् प्राप्तौ । तथाऽपि अश्वस्थितिभाग्यजुषौ इति विरोधः । अश्वानां स्थितिः अवस्थानं तद्रूपं भाग्यं अश्वारोहणैश्वर्यं वा उपलक्षणमिदं गजान्तैश्वर्यस्य । पक्षे—श्वस्थिति न भवतीत्यश्वः स्थिति अत्यल्पकालिकमित्यर्थः । भाग्यं जुषेते इति तथोक्तौ - त्वत्कटाक्षितश्चिरकालानुभाव्यं चतुरङ्गबलैश्वर्यं लभते, त्वदुपेक्षितस्तु शुनकादिनिहीनजन्तुसंश्रयणादिरूपदौर्भाग्यं तदप्यत्यल्पकालिकमेवानुभवतीति निर्गळितोऽर्थः ॥

प्रख्यातनीललोहितकपालिभावाददस्फुरदुदग्रम् । अग्रं फणिराजगिरेरुग्रत्वमुपैत्यनुग्रतां चाहो ॥ १०९३ ॥

उदग्रं उच्छ्रितं अदः इदं फणिराजगिरेः अग्रं नीललोहितश्चासौ कपाली च तस्य भावः प्रख्यातश्चासौ नीललोहितकपालिभावश्च तस्माद्धेतोः, पक्षे प्रख्याताः नीलानां इन्द्रनील मणीनां लोहितकानां पद्मरागाणां च पालयः पङ्क्तयः यस्मिंस्तत् प्रख्यातनीललोहितकपालि । तस्य भावात् तत्त्वात् 'लोहितान्मणौ' इति कन् । 'शोणरत्नं लोहितकः पद्मरागः' इत्यमरः । स्फुरत् इति योजना । प्रकाशमानामित्यर्थः । अत एव उग्रत्वं रुद्रत्वं तत्तौल्यमिति यावत् । अनुग्रतां अरुद्रतां च उपैतीति विरोधः अनुग्रतां अरौद्रतां सौम्यतामुपैतीति परिहारः । पक्षे—अग्रं श्रेष्ठं उदग्रमिति पदं अदस्फुरदिति समस्तं पदं दकारेणाप्रकाशमानं सत् उग्रत्वमुपैति उग्रशब्दो भवतीत्यर्थः । अथापि अनुग्रतां उग्र इति वर्णद्वयविरहिततामिति विरोधः । उग्रशब्दे उक्तवर्णसद्भावात् । अनु पश्चात् ग्रं ग्र इति वर्णसमुदयो यस्य तत्तथोक्तं तस्य भावं तत्तामिति परिहारः ॥

**पदलग्नं नाथ सदापदलग्नं संतनोषि मनुजं त्वम् । हन्त पदानाश्रितमपि सदापदाश्रितमुदारगुणजलधे ॥ १०९४ ॥**

पदलग्नं स्वचरणाश्रितं अपदलग्नं स्वचरणानाश्रितं संतनोषीति विरोधः । सदा आपदलग्नमिति छेदः । विपदनाश्रितमिति परिहारः । किंच सदा पदानाश्रितं स्वचरणानासक्तं पदाश्रितं स्वचरणानुरक्तं संतनोषीति विरोधः । सदा आपदाश्रितं विपद्युक्तमिति परिहारः ॥

शेषाचलाधिनेताऽप्यनघाशेषाचलाधिनेताऽसि । अपिच विभासुररूपोऽप्यविभासुररूप एव भगवं-स्त्वम् ॥ १०९५ ॥

शेषाचलाधिनेता न भवसीति विरोधः अशेषायाः अचलायाः भुवः अधिनेतेति व्युदस्तः । अविभासुररूपः विभासुररूपो न भवसीति विरोधः अविः भानुः स इव भासुररूप इति निरस्तः । अन्यत्सुगमम् ॥

मेरुनगभासुरोऽपिच नमेरुनगभासुरो मृगेन्द्रगिरिः । अतिघनजपावनाढ्योऽप्यजपावन एव चित्रमिदम् ॥ १०९६ ॥

नमेरुनगाः छायातरवः तैर्भासुरः । अजस्य ब्रह्मणोऽपि पावन इति च विरोधपरिहारः ॥

शिशिरोऽप्यशीतकश्शुचिरसितश्श्लक्ष्णोऽप्यसूक्ष्म एवायम् । सुरभिरपि गन्धशून्यो द्विरसनधरणीधरेन्द्रमूर्धन्यः ॥ १०९७ ॥

शिशिरः शीतलोऽप्यशीतकः शीतरहित इति विरोधः अविद्यमानं शीतं शीतगुणो यस्येति विग्रहः 'शेषाद्विभाषा' इति कप् । दयाशीतलः अनलस इति परिहृतः 'शीतोष्णाभ्यां कारिणि' इति शीतशब्दात्करोतीत्यर्थे कन् । 'आलस्यश्शीतकोऽलसोऽनुष्णः' इत्यमरः । शुचिरपि शुभ्रोऽपि असितः अशुभ्र इति विरोधः । शुचिः अपहतपाप्मा अत एव असितः अबद्धः कर्मबन्धरहित इति समाहितः । सिनोतेर्बन्धनार्थकात्क-

र्मणि क्त. । श्लक्ष्णोऽपि कृशोऽपि असूक्ष्मः अकृश इति विरोधः श्लक्ष्णः प्रियंवदः असूक्ष्मः अकैतवः महानिति वा परिहृतः । 'श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनु, श्लक्ष्णः प्रियंवदः' इति चामरः 'सूक्ष्मं स्यात्कैतवेऽध्यात्मे पुंस्यणौ त्रिषु चाल्पके' इति मेदिनी । सुरभिस्सुगन्धिरपि गन्धशून्यः सौरभहीन इति विरोधः । मनोहरः अनवलेपश्चेति समाहितः 'सुरभिश्चम्पके' इत्यारभ्य 'सुगन्धौ च मनोज्ञे च' इति, 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे संबन्धगर्वयोः' इति च विश्वः ॥

**अनिमिषराजोऽचपलः प्रबलोऽपि त्वं न बाधसे विबलान् । चित्रं सुधीवराणां लुनासि गुणजालमखिलात्मन् ॥ १०९८॥**

हे अखिलात्मन्! त्वं अनिमिषराजः मत्स्यराजोऽपि अचपलः अमत्स्य इति विरोधः । देवाधिराजः अचञ्चलशील इत्यविरोधः 'सुरमत्स्यावनिमिषौ' इत्यमरः । 'चपलः पारदे मीने' इत्युपक्रम्य 'वाच्यवत्तरळे चले' इति मेदिनी । प्रबलोऽपि विबलान् दुर्बलान् शकुलार्भकान् न बाधसे इति विरोधः । प्रबलेन दुर्बलस्य बाधो हि मत्स्यजातेस्स्वभावः । तदभावादिति भावः । सर्वेश्वरत्वेन सर्वस्मात्प्रबलस्त्वं स्वस्माद्दुर्बलान् चतुर्मुखादीन् न बाधसे इति परिहारः । शोभनाः धीवराः सुधीवराः तेषां प्रौढानां कैवर्तानामित्यर्थः । गुणजालं सूत्रमयमानायं लुनासीति विरोधः । सुधियां विदुषां वराः तेषां प्रकृतिबन्धं वियोजयसीति तदभावः ॥

**एधयसे नैधयसे पुरा विराधं भुजप्रतापाग्नौ । आशयसे नाशयसे क्रव्यादः खरमुखांश्च रघुवीर ॥**

हे रघुवीर! भुजप्रतापाग्नौ विराधं पुरा एधयसे एधं इध्मं करोषि स्म नैधयसे इति विरोधः 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूते लट्। विराधं नैधयसे न वर्धयसे किंतु भुजप्रतापाग्नौ प्लोषयसि स्मेति योजनाभेदेन परिहारः। खरमुखान् निशिचरान् क्रव्यादः मांसाशिनः कङ्कजम्बुकादीन् तैरित्यर्थः। आशयसे पुरेत्येतदत्राप्यनुषज्यते। अभ्यवहारयसि स्म। नाशयसे नाभ्यवहारयसि स्मेति विरोधः खरप्रमुखान् खरदूषणादीन् नाशयसे ध्वंसयसि स्म। अथ क्रव्याद्भिः आशयसे स्मेति परिहारः पूर्ववत्। 'गतिबुद्धिप्रत्यवसान' इत्यादिना अश्नातेरणौ कर्तॄणां क्रव्यादां णौ कर्मत्वं 'क्रव्याद्रक्षसि पुंसि स्यान्मांसादिन्यन्यलिङ्गकः' इति मेदिनी। अत्र श्लिष्टाभ्यां तिङन्तशब्दाभ्यां विरोधप्रदर्शनमिति विशेषः॥

**रक्षसि न रक्षसि त्वं दयमानमना जगन्ति दाशरथे। स भवान् कृताभिषेको रराज नरराज विस्मयायैतत्॥११००॥**

हे दाशरथे! त्वं दयमानमनास्सन् जगन्ति रक्षसि पालयसि न रक्षसीति विरोधः। परिहारस्तु रक्षसीति जात्यभिप्रायकमेकवचनम्। राक्षसजातौ न दयमानमना इति व्यवहितेन नञा योजना 'कुर्वन्तमित्यतिभरेण न गानवाचः पुष्पैर्विराममलिनां च न गानवाचः' इत्यत्र न विराममितिवत्। 'वायसे कृतवान्क्रूरां मतिम्' इत्युक्तरीत्या क्रौर्यं भजन्नित्यर्थः। जगन्ति रक्षसीति। रक्षोजातौ तव दयमानमनस्कत्वे कथं जगद्रक्षणं स्यादिति भावः। स भवान् एवं राक्षसकुलक्षपयिता भवान्। कृताभिषेकः साकेते राज्याभिषेकं प्राप्तस्सन् रराज दिदीपे। न

रराजेति विरोधः । नराणां राजा नरराजः तस्य संबुद्धिः हे नरेन्द्रेति परिहारः । तिङन्तसुबन्तशब्दश्लेषमूलकोऽयं विरोध इति पूर्वस्माद्वैलक्षण्यम् ॥

एवं श्लेषमूलको विरोधालंकारः प्रपञ्चितः ॥

अयमेव शुद्धो यथा –

एजति तन्नैजति तत्तद्दूरे तद्वदन्तिके भवति ।
अन्तर्बहिश्च युगपज्जगतोऽस्य तदद्भुतं परं ब्रह्म ॥

अत्र—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

इति श्रुत्यर्थोऽनुसंहितः । तथाहि—तत् परं ब्रह्म । युगपदिति सर्वत्रान्वेति एजति कम्पते नैजति न कम्पते इति विरोधः । जवीय इव ज्ञायते वस्तुतो न कम्पते इति परिहारः । 'अनेजदेकं मनसो जवीयः' इति पूर्वमन्त्रैकार्थ्यात् । तत् ब्रह्म दूरे तद्वत् अन्तिके च भवतीति विरोधः । आसुरदैवप्रकृतिपुरुषापेक्षोऽयं विभोरेव दूरान्तिकवर्तित्वव्यपदेश इति परिहारः । आह च भगवान् शौनकः—

पराङ्मुखानां गोविन्दे विषयासक्तचेतसाम् ।
तेषां तत्परमं ब्रह्म दूराद्दूरतरे स्थितम् ॥
तन्मयत्वेन गोविन्दे ये नरा न्यस्तचेतसः ।
विषयत्यागिनां तेषां विज्ञेयं च तदन्तिके ॥

इति । तत् ब्रह्म अस्य जगतः अन्तः बहिश्च युगपद्भवतीति विरोधः । लोके गृहान्तर्वर्तिनां जनानां तदानीमेव बहिस्स्थित्यदर्शनात् । परिहारस्तु सर्वव्यापकतया तत्संभवादिति । तथा तैत्तिरीयके च श्रूयते—'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः

स्थितः' इति । तद्ब्रह्म अद्भुतं आश्चर्यरूपमित्यर्थः । अयं श्लेषगन्धाविश्लिष्टश्शुद्धो विरोधाभासः । श्रुतिरेवेदृशालंकारमार्गप्रदर्शयित्रीति ज्ञापयितुं श्रुत्युक्तार्थ एवात्र निबद्धः ॥

इदमत्र बोध्यम्—यत्रापिशब्दो विरोधद्योतकः तत्र विरोधश्शाब्दः । अन्यत्र त्वार्थ इति तावत्प्राचीनानां राद्धान्तः । तत्र यद्यपि विरोधस्य शाब्दत्वं न शब्दजन्यज्ञानविषयत्वं, विशेष्यविशेषणसंसर्गातिरिक्तस्य शाब्दे क्वाप्यभानात् । न च 'त्रयोऽप्यत्रयः' इत्यादौ नञुत्तरपदार्थयोरन्वये प्रतियोगित्वस्य संसर्गत्वात्तस्यैव विरोधपदार्थत्वात्संसर्गतयैव तद्भानमिति वाच्यम् 'सुप्तोऽपि प्रबुद्धः' इत्यादौ तथाऽप्यगतेः । न च तत्रापि लक्षणया सुप्तत्वविरुद्धप्रबुद्धत्ववदभिन्नस्सुप्त इति बोध इति वाच्यम्, तथाऽननुभवादित्युक्तव्यवस्थानुपपत्तिरिति । अत्राहुः—'सुप्तोऽपि प्रबुद्धः, त्रयोऽप्यत्रयः' इत्यादिषु विरोधोदाहरणेषु शब्दद्वयेन शयितत्वजागरितत्वादिधर्मद्वयस्यादावुपस्थितौ संबन्धिज्ञानात् अपिशब्दसाचिव्यात्तद्गतो विरोधोऽपि स्मर्यते । अनन्तरं च प्रतिबन्धकज्ञानसामग्र्या बलवत्त्वाद्विरुद्धाविमौ धर्माविति मानसे वैयञ्जनिके वा बोधे जाते तेन प्रतिरोधाच्छयितजागरितयोरभेदबुद्धेरनुदयाद्द्वितीयशक्त्या प्रादुर्भावितं द्वितीयार्थमादायान्वयबोधः, न तु विरुद्धार्थम् । विरोधधीश्च शिथिलमूला निवर्तमानाऽपि कविसंरम्भगोचरतया चमत्कारकारणमिति प्राञ्चः । नव्यास्तु—अर्थद्वयप्रादुर्भावं विना विरोधाभास एव न संभवति । तत्रैको विरोधस्योल्लासकः । द्वितीयश्चान्वयबोधविषय इति । तत्सत्यम् । परंतु अन्वयबोधविषये द्वितीयार्थे विरोधोल्लासकोऽप्यर्थो भेदेऽपि श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसाये-

नाभिन्नतया भासते। एवं चाविरुद्धं द्वितीयार्थमादायान्वयबोधे सत्यपि स्वास्पदीभूतस्य विरुद्धार्थस्य निश्शेषतया निवृत्तेरभावान्मूर्छितश्श्वसन्निव विरोधोऽपि मानसं बोधान्तरमाढौकते। अत एव चमत्कारीत्युच्यते। न हि निश्शेषतया निवृत्तश्चमत्कृतिमीष्टे जनयितुम्। न चान्तरेण चमत्कृतिजनकतामलंकारो भवति। तस्मात् विरोधधियो नातीव शिथिलमूलता। नापि चात्यान्तिकी निवृत्तिरित्याहुः। ननु अपिशब्दादीनां प्रयोगे शाब्दो विरोधो भासत इति तथाऽप्यसंगतम्। शाब्दिकनये निपातानां शक्तेरनभ्युपगमादिति चेत् न, निरूढलक्षणाया इव निरूढद्योतनाया अपि शक्तितुल्यकक्षत्वादिति॥

अथ जात्योर्द्रव्ययोश्च विरोधालंकारो नेष्टे भवितुम्॥
देवतरुस्तृणमासीद्देव तवौदार्यवैभवोल्लासे।
भाति च भवत्प्रतापे कैलासगिरिर्बभूव कनकगिरिः॥

इत्यादौ मदीयपद्ये 'कुसुमानि शराश्चन्द्रो बाडवो दुःखिते हृदि' इत्यादौ परकीयपद्ये च आरोपमूलस्य रूपकस्यैवोल्लासात्। यदि सत्यप्यारोपे विरोध एवोच्येत तर्हि 'मुखं चन्द्रः' इत्यत्रापि स एव कुतो नोच्यताम्। न च रूपकविषयस्याखिलस्यापि विरोधेनास्कन्दितत्वान्निर्विषयत्वापत्त्या स्वविषये रूपकं विरोधस्य गुणादौ लब्धावकाशस्यापवाद इति वाच्यम्, 'देवतरुस्तृणं—कैलासगिरिर्मेरुगिरिः—कुसुमानि शराः--मृणालवलयानि दवदहनराशिः- चन्द्रो वाडबः—शंकरचूडापगा कालिन्दी' इत्यादौ त्वदभीप्सितविरोधस्यासिद्धिप्रसङ्ग इति चेत्—सत्यम्। अत्र ह्यलंकारसमुदये यो यत्र सहृदयचमत्कृतिसरणिमध्यारोहति स एव तत्रालंकार इत्यविप्रतिपन्नमिदम्। एवं च

रूपके 'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ यद्यप्यस्ति विरोधः। तथाऽपि न स तत्र प्रतिपिपादयिषितः। अपितु चन्द्रनिष्ठाह्लादकारिताद्यखिलगुणानां मुखे प्रतिपत्त्यर्थं चन्द्राभेद एवेति स एव चमत्कारी न तु विरोधः। प्रत्युत सन्नपि विरोधो विवक्षितार्थाननुगुणत्वादसत्कल्प इति नालंकारः। केवलसत्ताया अकिंचित्करत्वात्। 'देवतरुस्तृणं, कुसुमानि शराः' इत्यादौ भगवदौदार्यादेः विरहिण्यादीनामवस्थायाश्चात्यद्भुततया विवक्षितत्वात् तदानुरूप्यायान्तर्गर्भितोऽप्यार्थो विरोधस्समुल्लसतीति स एवालंकारः। न चैवमपि रूपकस्थले विरोधोऽविवक्षितत्वान्मा नाम भूदलंकारः। विरोधस्थले 'देवतरुस्तृणं—कुसुमानि शराः' इत्यादौ तु विरोधोन्मेषणायाभेदस्यावश्यं विवक्षणीयत्वाद्रूपकापत्तिरिति वाच्यम्। विरोधाविवक्षानालिङ्गितत्वस्य रूपकलक्षणे निवेश्यत्वात्। यद्वा अभेदस्यात्र विरोधोन्मेषणार्थमुपात्तस्याचमत्कारित्वाद्रूपकालंकारत्वमयुक्तं, चमत्कारित्वस्यैवालंकारजीवातुत्वादितिदिक्। विस्तरस्त्वन्यत्र ॥

इत्यलंकारमणिहारे विरोधसरः पञ्चत्रिंशः

---

## (३६) अथ विभावनालंकारसरः

---

### कारणव्यतिरेकेऽपि कार्योत्पत्तिर्विभावना ॥ १८॥

कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिर्विभावनेत्यर्थः। तदुक्तं—

"क्रियायाः प्रतिषेधेऽपिफलव्यक्तिर्विभावना"।

इति। क्रियाशब्देनात्रकारणं विवक्षितम् । अत्र कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन कार्योत्पत्तौ निबध्यमानायामापाततो विरोधः प्रतिभासमानोऽपि तदितरकारणकल्पनया निवर्तते ॥

यथा—

जालं विनैव नितरां लोलं विषयेषु ननु मनोजालम् । निध्यायतां जनानां बद्ध्वाऽऽकर्षसि बताहिशैलमणे ॥११०३॥

अत्र हि बन्धनाकर्षणयोर्जालं कारणं तदभावेऽपि बन्धनाकर्षणे प्रतिपाद्यमाने आपाततो विरुद्धे अपि भगवद्दिव्यविग्रहसौन्दर्यहेतुकतया पर्यवस्यतः ॥

नन्वत्र यस्य कार्यस्योत्पत्तिः प्रतिपाद्यते न हि तदधिकारणत्वेनावगतस्य व्यतिरेकः प्रतीयते । यदीयकारणव्यतिरेकश्च प्रतीयते न हि तस्य कार्यस्योत्पत्तिः प्रतिपादिता । बन्धनाकर्षणे चेह निश्चलावस्थापनवशीकरणे विवक्षिते न तु संदानग्रहणे । जालं च न भगवत्कर्तृकमानसजालनिश्चलावस्थापनवशीकरणयोः कारणं, अपितु मीनमृगादिबन्धनग्रहणयोरिति चेन्न । मुख्ये हि बन्धनाकर्षणे नहनग्रहणे । गौणे च निश्चलावस्थापनवशीकरणे । गौणयोर्मुख्ययोश्च तयोस्सादृश्यमूलेनाभेदाध्यवसायेन निष्पन्ने सति भेदतिरोधाने मीनमृगादिबन्धनग्रहणकारणमपि जालं निश्चलावस्थापनवशीकरणकारणं संपद्यते । तदभावे चात्र कार्याभिन्नतयाऽध्यवसितयोर्निश्चलावस्थापनवशीकरणयोः प्रतिपादनान्न दोषः । एवं चास्मिन्नलंकारे सर्वत्रापि कार्यांशे प्रायेण अभेदाध्यवसानरूपातिशयोक्तिरनुप्राणकतयाऽवस्थिता । तथा च पायसादपि-

ण्डवदेकीकृतस्य वस्तुतस्सदृशवस्तुद्वयस्य एकावयवसंबन्धिकारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येनापरावयवमादाय पर्यवसानं भवति। तत्र च कार्यांशः कारणाभावरूपविरोधिनो बाध्यतयैव स्थितः, न बाधकतया, कार्यांशस्य कल्पितत्वात्। कारणाभावस्य च स्वभावसिद्धत्वात्। अत एव कार्यांशो रूपान्तरेण पर्यवस्यति। अत एव च समबलविरोधिद्वयघटिताद्विरोधालंकारादस्य वैलक्षण्यम्। तथाचोक्तम्—

कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः।
विभावनायामाभाति विरोधेऽन्योन्यबाधनम्॥

इत्याहुः। अत्रैवोदाहरणपद्ये—'जालं विनैव नितरां लोलं ननु मानसानिमिषजालम्' इति पूर्वार्धे पठिते अस्मिन्नलंकारे रूपकमनुप्राणयितृत्वेनावतिष्ठते। अत एव 'विभावनायामाहार्याभेदबुद्धिमात्रमेवानुप्राणकम्। तच्च क्वचिदतिशयोक्त्या क्वचिच्च रूपकेण इति रसगङ्गाधरग्रन्थश्च संगच्छते। अत एव चास्माभिरभेदाध्यवसानरूपातिशयोक्तेरनुप्राणकतयाऽवस्थितिः प्रायेणेत्यस्मिन्नेव प्रस्तावे पूर्वमुक्तमिति ध्येयम्॥

इयं च विभावना उक्तनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता चेति द्विधा। तत्राद्या यथा—

**इन्दीवररुचिरतनुं त्वां देव सदोपगूहमानायाः।**
**अमृगमदलेपमासीदब्धिसुतायाः पयोधरे नैल्यम्॥**

अत्र हि अब्धिसुतापयोधरनीलिम्नि मृगमदलेपो निमित्तं, तदभावेऽपि नैल्यमुपनिबध्यमानमापाततो विरुद्धमपि भगवदुपगूहनहेतुकतया पर्यवस्यति। भगवदुपगूहनं चोपात्तमित्युपात्तनिमित्तेयम्॥

द्वितीया तु जालं विनैवेत्युदाहृतैव । मानसानिमिषजालाकर्षणहेतोर्भगवद्दिव्यविग्रहसौन्दर्यस्यानुपात्तत्वात् ।

यथावा—

**सन्ततमनञ्जनं त्वामञ्जनगिरिनेतरक्षिण निदधाना । कमला निरञ्जनाऽपि श्यामलकोमलविलोचना लसति ॥ ११०५ ॥**

न अञ्जनं अनञ्जनं अञ्जनभिन्नं, कर्मलेपविधुरमितिवस्तुस्थितिः । 'निष्कलं निरञ्जनम्' इति श्रुतेः । निरञ्जना नयनाञ्जनविधुरा कर्मलेपविधुरेति तु वस्तुस्थितिः । अत्राञ्जनं विनाऽपि श्यामललोचनात्वे 'तं चेयमासितेक्षणा' इति स्वाभाविकत्वं निमित्तं, तच्च नोपात्तमित्यनुपात्तनिमित्तेयं विभावना ॥

द्वितीया विभावना—

**कारणानामसामग्र्ये कार्यजन्म च सा मता ॥**

कारणानां हेतूनां असामग्र्ये हेतुतावच्छेदकधर्मस्य हेतुतावच्छेदकसंबन्धस्य वा वैकल्ये सति कार्योत्पत्तिश्च विभावनेत्यर्थः ॥

तत्र धर्मवैकल्ये यथा—

**कमलेक्षण! मम हृदयं कालायसगोळतोऽपि कठिनतरम् । कलशाब्धेरपि शिशिरैः कटाक्षविसरैर्विलाययसि चित्रम् ॥ ११०६ ॥**

अत्र कठिनतरहृदयद्रवीकरणे साध्ये कटाक्षविसराणामसामग्र्यं निशितत्वादिधर्मवैकल्यम् ॥

संबन्धवैकल्ये यथा—

तव चरणनलिनरेणुः फणधरभूभृन्मणे शिरसि विधृतः। भक्तानाममृशन्नपि बाष्पाययते विलोचनानि बत ॥॥ ११०७॥

बाष्पाययते बाष्पमुद्वमयति। अत्र बाष्पोद्वमनकारणस्य रेणोरसामग्र्यं स्पर्शनरूपसंबन्धवैकल्यम् ॥

दण्डिमते त्वियं विशेषोक्तिः। यतः प्रथमोदाहरणे भगवत्कटाक्षविसराणां द्वितीयोदाहरणे तत्पादरेणोश्च महामहिमरूपो विशेषः प्रत्याय्यते, तथाच तदीयं लक्षणम् ॥

गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥

इति। विशेषस्य प्रस्तुतस्य यः प्रभावाद्यतिशयः तस्य दर्शनाय प्रतिपत्तय एव गुणजातिक्रियाणां आदिपदेन द्रव्याणां च यद्वैकल्यदर्शनं कार्यसिद्धावनुपयोगित्वप्रतिपादनं सा विशेषोक्तिर्नामालंकार इति कारिकार्थः। दीक्षितानुसारिभिरस्माभिस्तु निशितत्वादिवैकल्यमपि कारणविशेषाभावरूपमिति विभावना प्रदर्शिता ॥

तृतीया विभावना—

तृतीया प्रतिबन्धेऽपि कार्योत्पत्तिर्विभावना ॥

प्रतिबध्यते अनेनेति प्रतिबन्धः प्रतिबन्धकः। प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कार्योत्पत्तिस्तृतीया विभावना ॥

यथा—

नासत्त्ववृत्तयो यत्त्वामुच्चादिं श्रितास्तदनिपा-

ताः । चित्रं त्वय्यव्ययलक्ष्मीभाजस्सन्तो विभान्ति चक्रधर! ॥ ११०८ ॥

हे चक्रधर! यत् यस्मात्कारणात् उच्चादिं उत्कृष्टं चादिं चशब्दादिकं कंचिद्वर्णं श्रिताः कतिचन शब्दा इत्यध्याहारः। असत्त्ववृत्तयः अद्रव्यवाचिनः न न भवन्ति, किंतु द्रव्यवाचिन एवेति भावः । तत् तस्मात् अनिपाताः निपातसंज्ञाविधुराः । 'चादयोऽसत्त्वे' इत्यद्रव्यार्थकानामेव चादीनां निपातसंज्ञाविधानेन द्रव्यवाचिनां तदभावादिति भावः । इदं युक्तमेव । इदं तु चित्रम्—यत् अव्ययलक्ष्मीः अव्ययश्रीः अव्ययभाव इति यावत्, तां भजन्तीति तथोक्तास्सन्तः विभान्तीति । अव्ययत्वप्रयोजकनिपातसंज्ञाया एवाभावे अव्ययत्वं भजन्त इत्येतदद्भुतमेवेति भावः । 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' इति हि निपातानामव्ययसंज्ञा विधीयते सूत्रकारैः । परिहारस्तु—उच्चादिं उच्चेषु उन्नतपदाधिरूढेषु चतुर्मुखादिषु आदिं, उच्चानामादिमिति वा । उत्कर्षेण चकारादिमिति च शब्दार्थतादात्म्यवैभवाल्लभ्यते, चक्रधरेति संबुद्धिबलात् । त्वां श्रिताः सन्तः ब्रह्मविदः सत्त्ववृत्तयः सात्विकाः ते न भवन्तीत्यसत्त्ववृत्तयः तादृशा न भवन्ति किंतु सत्त्ववृत्तय एव । प्रतिषेधद्वयेन संभाव्यासत्त्ववृत्तिता निवर्त्यते । तदाह वामनः-'संभाव्य निषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति,

महान् प्रभुर्वै पुरुषस्सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।

इत्युक्तरीत्या सत्त्वगुणप्रवर्तकं त्वां श्रितास्सात्विका एव भवन्तीत्यर्थः । अत एव अनिपाताः राजसतामसवन्मध्याधोगतिरूपनिपातं न प्राप्ताः, किंतु 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' इत्युक्त-

प्रकारेणोत्तमगतिभाज एवेति भावः। अत एव च अव्ययलक्ष्मी- भाजः शाश्वतैश्वर्यं निश्श्रेयसरूपं भजन्तीति तथा। भान्ति नित्यासंकुचितज्ञानतया दीप्यन्ते। अत्र अनिपातत्वरूपप्रतिबन्धकसद्भावेऽपि अव्ययत्वरूपकार्योत्पत्तिर्वर्णितेति लक्षणसंगतिः। श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूलकातिशयोक्त्यनुप्राणितसमालंकारोपस्कृतेयम्॥

यथावा—

फणिवरवसुन्धराधरधुरंधरकृपाभिषेकदूरतरान्।
चन्द्रोपलसान्द्रालयजुषोऽपि तापाः पराभवन्ति
नरान्॥११०९॥

अत्र शिशिरतरचन्द्रोपलसान्द्रालयस्थितिरूपप्रातिबन्धकसद्भावेऽपि तापकर्तृकाभिभवलक्षणकार्योत्पत्तिः। श्लेषसंकीर्णेयम्॥

यथावा—

विनतानन्दननामनि वैहायसराजि चरति
शिरसि निजे। उन्नद्धशिरा विन्दति पन्नगभूमि-
भृदहो महोल्लासम्॥११९०॥

विनतानन्दन इति नाम यस्य तस्मिंस्तथोक्ते। पक्षे- प्रणतजनानन्ददायिनामधेये विहायसां पक्षिणां समूहो वैहायसं 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' इति सामूहिकोऽञ्प्रत्ययः। तस्य राट् तस्मिन् खगराजे गरुत्मतीत्यर्थः। अन्यत्र विहायसि परमे व्योम्नि भवाः वैहायसाः अनन्तगरुडादयो नित्यमुक्ताः मुक्ताश्च तेषां राट् तस्मिन् सकलदेवाधिराजे वा भगवति श्रीनिवासे निजे शिरसि उपरिभागे इति यावत्। शिखरभागे च

चरति सति पन्नगभूमिभृत् श्रेष्ठः फणीत्यर्थः । शेषाद्रिरिति वस्तुस्थितिः । उन्नद्धशिराः उत्तम्भितफण इत्यर्थः । पक्षे—उन्नतशिखरः महोल्लासं अमितमानन्दं महैः उत्सवैः उल्लासं प्रकाशं च विन्दति । अत्र स्वोपरिगरुत्मत्संचाररूपप्रतिबन्धकसद्भावेऽपि फणिवरेण्यस्य उन्नद्धफणतया महोल्लासभाक्त्वरूपकार्योत्पत्तिर्वर्णिता । श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायः पूर्ववत् ॥

यथावा—

**हन्त सदाहारितमेऽप्यतिमात्रमुदारमण्यभिष्वङ्गे । भवदनभिमुखान् सुमहाशुचिभवदाहः पराभवति भगवन् ॥ १११११ ॥**

हे भगवन् ! भवदनभिमुखान् जनान् । सः दाहारितमे इति छेदः । स इत्येतदुत्तरत्रान्वेति । दाहस्य अतिशयेन अरिः अरितमः तथोक्ते अतिवेलविरोधिनि प्रतिबन्धके इति यावत् । अतिमात्रं अत्यर्थं उदारः महान् यो मणिः तस्य अभिष्वङ्गेऽपि संबन्धे सत्यपीत्यर्थः । सः तीक्ष्णतमत्वेन प्रसिद्धः सुमहान् यः शुचिभवः अग्निजन्यः दाहः पराभवति अभिभवति । हन्त । दाहप्रतिबन्धकमणिसंबन्धसद्भावेऽपि दाहोत्पत्तिरूपकार्योदयो विस्मयावह इति भावः ॥ परिहारस्तु—सदा सर्वदा हारितमे अतिमनोहारिणि 'वल्गु वामं हारि शालि' इत्यमरः । अतिमात्रमुदा अतिवेलप्रीत्या रमणीनां ललनानां अभिष्वङ्गे परिष्वङ्गे सत्यपि सुमहाऽशुचिः अतिमात्रमपवित्रः यो भवः संसारः तस्य दाहः तापः पराभवतीति । रमणीयतमरमणीपरिष्वङ्गभाजो भवदनभिमुखान् जनान् संसारतापोऽभिभवतीति भावः ॥

यथावा—

वनभूमौ फणिभूभृति दृगग्रभागे स्थिते महा-
भोगे। गहनभवजन्तुसाध्वसमहह सुघोरं नृणां
द्रवति दूरम् ॥ १११२ ॥

वनभूमौ महाभोगे बृहत्फणशरीरे। पक्षे—महान् आभोगः पारपूर्णता यस्य तथोक्ते फणिभूभृति महाशीविषे शेषाद्राविति तु तत्त्वम्। दृगग्रभागे स्थिते सति समीपवर्तिन्येव दृष्टे सतीत्यर्थः। नृणां श्रीनिवाससेवार्थं सुदूरादागतानां यात्रिकाणामिति भावः। सुघोरं अतिरौद्रं गहनभवजन्तुसाध्वसं गहने महारण्ये भवानां जातानां जन्तूनां हिंस्रसत्त्वानां साध्वसं तत्कृतं भयं दूरं द्रवति पलायते। अहह महाशरीरे महाफणे च महाशीविषे महारण्यभूमावग्रत एव दृष्टे आरण्यहिंस्रसत्त्वभयं दूरीभवतीत्याश्चर्यमेतद्दर्शनस्यैव महाभयहेतुत्वादिति भावः। परिहारस्तु—गहनः दुःखकरः यः भवः संसारः तस्मात् जातं गहनभवजं तुशब्दोऽवधारणे उत्तरान्वयी। साध्वसं भयं दूरं तु द्रवति। यात्रिकाणां नृणां शेषाद्रिनिर्वर्णनमात्रात्संसारजनितभयमपास्तमेव भवतीति। 'गहनं वनदुःखयोः' इति रत्नमाला। भवजन्तु इत्यत्र 'वा पदान्तस्य' इति अनुस्वारस्य वैकल्पिकः परसवर्णो नकारः। अत्र महाव्याळदर्शनरूपप्रतिबन्धके सत्यपि यात्रिकाणामारण्यक्रूरजन्तुभयदूरीभवनरूपकार्योत्पत्तिः श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायानुप्राणिता वर्णिता॥

## चतुर्थी विभावना.

विभावना चतुर्थी स्यात्कार्योत्पत्तिरकारणात् ॥

अकारणात् कारणभिन्नात् कार्योत्पत्तिश्चतुर्थी विभावना ॥

रक्षति न वेति संशयलक्षणातिमिरं निराकरिष्यन्मे । ज्योत्स्नां दशनावळ्या सरीसृपगिरीश्वरस्सरीसर्ष्टि ॥ १११३ ॥

अत्र ज्योत्स्नाकारणभिन्नायाः दशनावळेर्ज्योत्स्नोत्पत्तिर्वर्णितेति लक्षणानुगतिः । दशनकिरणमसृणितं स्मितं ज्योत्स्नात्वेनाध्यवसितमिति परिहारः ॥

यथावा—

द्रुतमुपगूहति भगवति पिदधाना कौस्तुभं करतलेन । अङ्गुलिबिलगलिताभिस्तडिद्भिर्नतानना ऽभूच्छ्रीः ॥ १११४ ॥

अत्र करतलपिहितकौस्तुभमणिप्रभाः अनुक्षणमङ्गुलिबिलविशकलविगलिततया क्षणप्रभात्वेनाध्यवसिता इति विद्युत्कारणभिन्नात्कौस्तुभाद्विद्युज्जन्म वर्णितम् ॥

यथावा—

कनकाहार्यादुदिता उदारकूटास्सहस्रशो ऽहार्याः । तेभ्यः खर्जूरनगास्ते च वरिष्ठं फलन्त्यतिविचित्रम् ॥ १११५ ॥

कनकाहार्यात् हेमाद्रेः शेषाद्रेरिति च शेषाद्रेरेव नामान्तरमिदमित्यसकृदवोचाम। सहस्रशः उदारकूटाः उत्कृष्टः आरकूटः पित्तलं येषां ते तथोक्ताः 'रीतिः स्त्रियामारकूटः' इत्यमरः। अहार्याः गिरयः सहस्रशः उदिताः। पक्षे—अहार्याः केनापि हर्तुमशक्याः उदाराः महान्तः कूटाः शिखराणि उदिताः इति। तेभ्यः आरकूटाहार्येभ्यः अहार्येभ्यः उदारशृङ्गेभ्यश्च खर्जूरनगाः रजतशैलाः सहस्रशः उदिताः खर्जूरवृक्षा उदिता इति च 'खर्जूरं रूप्यखलयोः वृश्चिके ना द्रुमे द्वयोः' इति मेदिनी। 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः। ते खर्जूरनगाश्च वरिष्ठं ताम्रं फलन्ति जनयन्तीत्यर्थः। फलतिस्सकर्मकोऽपि भवति 'फलद्भिरुष्णांशुकरावमर्शात्काशानवं धाम पतङ्गकान्तैः' इत्यादिप्रयोगात्। पक्षे—अतिशयेन उरु वरं वा वरिष्ठं यथा स्यात्तथा फलन्ति फलानि प्रदर्शयन्तीत्यर्थः। 'वरिष्ठं मरिचेऽपि च। ताम्रे क्लीबं तित्तिरौ ना वरोरुतमयोस्त्रिषु'। इति मेदिनी। अत्र कनकाचलपित्तलाचलादिभ्यः पित्तलरजताचलाद्यकारणेभ्यस्तदुत्पत्तिरूपकार्यं वर्णितमितीयमपि विभावना। श्लेषसंकीर्णत्वं वक्ष्यमाणमालादीपकसंकीर्णत्वं मालारूपत्वं च पूर्वस्माद्विशेषः॥

यथावा—

उच्चतरान्नागधरादुदुम्बरागा निरङ्कुशमुदीताः।
प्रायश्शाखास्तेभ्यो जाता हारीतिफलमितोऽभ्युदितम् ॥ ११९६ ॥

उच्चतरात् नागधरात् सीसाद्रेः निरङ्कुशं यथा स्यात्तथा उदुम्बरागाः ताम्रवृक्षाः उदीता इति विरोधः। उरगाचलात्

जन्तुफलापरनामानः पादपा जाता इति परिहारः। 'नागं नपुंसके रङ्गे सीसके करणान्तरे' इत्युपक्रम्य 'नागः पन्नगमातङ्गक्रूराचारिषु तोयदे' इति, 'उदुम्बरस्तु देहल्यां वृक्षभेदेऽपि षण्डके। कुष्ठभेदेऽपि च पुमांस्ताम्रे तु स्यान्नपुंसकम्' इति च मेदिनी। तेभ्यः ताम्रवृक्षेभ्यः अयसश्शाखा अयश्शाखाः प्रकृष्टाश्च ताः अयश्शाखाश्च प्रायश्शाखाः श्रेष्ठलोहमयशाखा जाता इति विरोधः। प्रायः भूम्ना शाखा जाता इति परिहारः। इतः आभ्यश्शाखाभ्यः रीतिफलं पित्तलफलं अभ्युदितम्। हा इत्याश्चर्ये हारीति मनोहरप्रकारं मनोहरत्वेन प्रकाशमानं वा 'वल्गु वामं हारि शालि' इति, 'इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु' इति चामरः। 'इति हेतौ प्रकाशने' इति मेदिनी। फलं अभ्युदितमिति परिहारः। अत्रापि पूर्वोदाहरणवदेव सर्वम्। एकावळीसंकीर्णत्वं तु विशेषः॥

यथावा—

इदमद्भुतमतिमात्रं यदिहारुणनलिनवनरुचिवदान्यात्। पावयितुं जगदुदभूत्पादाद्देवस्य भास्वतो गङ्गा ॥११९७॥

अरुणनलिनवनरुचेः वदान्यात् दातुः। पक्षे—ततोऽपि महतः भास्वतः भानोः देवस्य। पक्षे—देवस्य भगवतः भास्वतः तेजस्विनः पादात् किरणात् चरणाच्च गङ्गा जाता। अत्र गङ्गाया अकारणादपि भानुपादात्तज्जन्मरूपकार्यं वर्णितम्। वक्ष्यमाणहेत्वलंकारसंकीर्णत्वं पूर्वेभ्यो विशेषः॥

ज्ञानमंदिरम् जंगमवाड़ी मठ काशी

## पञ्चमी विभावना

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धाच्चेत् पञ्चमी सा विभावना ।

यथावा—

कुम्भीनसपतिभूधरकुम्भिन्युल्लासभारमुल्लल-यन् । निर्जरसिंहः कश्चन मार्जयति स्म द्विपस्य बत भीतिम् ॥ १११८॥

निर्जरः युवा स चासौ सिंहश्च । पक्षे—देवश्रेष्ठः श्रीनिवास इत्यर्थः । कुम्भिन्याः करिण्याः भूमेश्च 'गौरिला कुम्भिनी क्षमा' इत्यमरः । उल्लासभारं प्रकाशातिशयं हर्षातिरेकं च । अत्र कुम्भिनीद्विपोल्लासनिवर्तकतया तद्विरुद्धान्निर्जरसिंहात्तदुल्लासनतद्भीतिमार्जनरूपकार्योत्पत्तिरभिहितेति लक्षणानुगतिः ॥

यथावा—

नागावनीभृदुच्चैर्धिनोति केसरिकिशोरकनिकायम् । सोऽपि करिणः प्रभिन्नान् स्वगर्जितैरेव हन्त संतनुते ॥ १११९ ॥

नागावनीभृत् गजराजः । शेषाद्रिरिति तु वस्तुस्थितिः । केसरिकिशोरकनिकायं सिंहशावकनिकरं उच्चैः धिनोति । सोऽपि सिंहशावकनिकरोऽपि स्वगर्जितैरेव करिणः गजान् प्रभिन्नान् मत्तान् 'प्रभिन्नो गर्जितो मत्तः' इति गजविशेषपर्यायेष्वमरः। विदारितानिति तु तत्त्वम् । अत्र केसरिकिशोरकप्रीणनाविरुद्धात् गजराजात्तत्प्रीणनरूपं कार्यं गजमदशोषकतया तन्मत्ततासंपादन-

विरुद्धात्केसरिकिशोरकसमुदयात्तन्मत्ततासंपादनरूपकार्यं च व र्णितमिति विभावनाद्वयं वक्ष्यमाणैकावळीसंकीर्णमिति विशेषः । श्लेषानिर्व्यूढत्वं तु पूर्ववदेव ॥

यथावा—

अन्तर्हितसरलगुणो घनतरलोभान्वितोऽप्यलं-कारः । मुक्ताहारोऽच्युत तव वसुविकिरणतोऽ-त्युदारतामेति ॥ ११२० ॥

अन्तर्हितः तिरोहितः कचिदप्यप्रकाश इति भावः । तथा-विधः सरलगुणः उदारगुणः यस्य स तथोक्तः । पक्षे—अन्तः स्वच्छिद्रान्तःप्रदेशे हितः निहितः प्रोतः सरलः अग्रन्थिलतया ऋजुः गुणः सुवर्णादितन्तुः यस्य स तथोक्तः 'सरलः पद्म-काष्ठे नाऽथोदारावक्रयोस्त्रिषु' इति मेदिनी । घनतरेण लोभेन अन्वितः । पक्षे—घनः तरलः हारमध्यगमणिः यस्य सः घनत-रलः 'तरलो हारमध्यगः' इत्यमरः । भान्वितः प्रभायुतः अत एव मुक्ताहारः त्यक्तभोजनः अतिकदर्यतया स्वोदरपूरणमप्यकु-र्वाण इति भावः । तथाहि स्मर्यते कदर्यलक्षणम्—

आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत् ।
लोभाद्यः पितरौ भ्रातॄन् स कदर्य इति स्मृतः ॥

इति । पक्षे—मुक्ताहारः मौक्तिकग्रथितहार इति प्रथितः अलङ्कारः आभरणं लुब्धः कश्चित्पुमानिति व्यज्यते । वसुविकिरणतः व-सूनां धनानां विकिरणतः स्वैरविश्राणनात् । पक्षे—किरणप्रसा-रणात् अत्युदारः महावदान्यः अतिपूज्यश्च 'उदारो दातृम-हतोः' इत्यमरः । तत्तां पति । अत्रौदार्यविरुद्धाल्लुब्धात्तत्कार्य-संपत्तिश्श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायेन वर्णिता । समासोक्त्युपस्कृ-तत्वं पूर्वस्माद्विशेषः ॥

यथावा—

हरिभुक्तशेषमेव हि यो भुङ्क्ते सोऽङ्ग मङ्गलं भुङ्क्ते।
यो ह्यन्यदेव भुङ्क्ते चित्रं सोऽप्यङ्गमङ्गलं भुङ्क्ते ॥

इदं पद्यं कस्यचित्कंचित्प्रत्यनुशासनरूपम् ॥ अङ्गेति संबोधनार्थकमव्ययम्। 'स्युः प्याट् फाडङ्ग हे है भोः' इत्यनुशासनात्। अङ्ग हे साधो! यः हरिभुक्तशेषमेव भगवन्निवेदितहविश्शिष्टमेव भुङ्क्ते अभ्यवहरति स पुमान् मङ्गलं सर्वपापापनोदनपूर्वकनिश्श्रेयसलाभपर्यन्तं कल्याणं भुङ्क्ते अनुभवति।

ततस्तु भगवद्भुक्तं प्राश्नीयान्नियतस्स्वयम्।
क्षयाय सर्वपापानां मोक्षसंसिद्धयेऽपि च ॥ इति,
त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां तरन्ति ते ॥

इति च श्रीमत्पारमेश्वरसंहिताश्रीभागवताद्युक्तेरिति भावः— यः पुमान् अन्यदेव भगवदनिवेदितमेव वा भगवदितरदेवनिवेदितमेव वा भुङ्क्ते सोऽपि अङ्ग! हे साधो! मङ्गलं भुङ्क्ते उक्तरीत्या कल्याणभाग्भवतीति चित्रम् 'नानिवेदितभोगस्स्यात्' इति भगवदनिवेदितान्नादिभोगस्य भरद्वाजसंहितादौ निषेधात्।

सकृदेव हि योऽश्नाति ब्राह्मणो ज्ञानदुर्लभः।
निर्माल्यं शङ्करादीनां स चण्डालो भवेद्ध्रुवम् ॥
कल्पकोटिसहस्राणि पच्यते नरकाग्निना।
निर्माल्यभुग्द्विजश्रेष्ठो रुद्रादीनां दिवौकसाम् ॥ इति ॥
विष्णोर्निवेदितं शुद्धं मुनिभिर्भोज्यमुच्यते।
अन्यनिवेदितं यत्तद्भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति च पाद्मब्राह्मादिषु भगवदन्यदेवतानिवेदितान्नाद्युपयोजनस्य

प्रत्यवायहेतुत्वस्यैव स्मरणाच्च तादृशान्नभोजनस्य मङ्गलप्रापकत्वोक्तिर्विस्मयावहैवेति भावः ॥ परिहारस्तु—अङ्गमङ्गलमिति समस्तं पदम् । अविद्यमानः ङ्ग इत्याकारकवर्णसमुदयो यस्य तत्तथोक्तं मङ्गलं मलं पापमित्यर्थः । भुङ्क्ते इति । 'मलोऽस्त्री पापविट्किट्टेषु' इत्यमरः । शब्दार्थयोस्तादात्म्यं तु न प्रस्मर्तव्यम् ॥ भगवन्निवेदितान्नाद्युपभोक्ता—

यज्ञशिष्टाशिनस्सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

इत्युक्तप्रक्रियया सर्वपापविनिर्मोकपूर्वककल्याणभाग्भवति । तादितरस्तु 'केवलाघो भवति केवलादी' 'ते त्वघं भुञ्जते पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात्' इति श्रुतिस्मृत्युक्तप्रकारेण केवलपापभोक्तैव भवतीति निर्गलितोऽर्थः । अत्र मङ्गलभोक्तृत्वविरुद्धाद्भगवदनिवेदिताद्यन्नभोजनात्तद्भोक्तृत्वरूपकार्यसंपत्तिरुक्ता । पूर्वार्धोक्तसमालङ्कारपुरस्कृतेयम् । पूर्वोदाहरणाद्विच्छित्तिविशेषान्तरं तु स्पष्टमेव ॥

अत्रेदमवधेयम्—लक्षणे विरुद्धादित्यस्य कार्यासहवृत्तेरित्यर्थः । तथाचात्र मङ्गलभोक्तृत्वरूपकार्यस्य भवगवदनिवेदितान्नादिभोजनरूपकारणस्य चैकस्मिन् पुरुषरूपे देशे असहवृत्तित्वाद्दैशिको विरोध इति । एवं 'कुम्भीनसपातिभूधर' इत्यादिषु प्रागुपदर्शितेषु त्रिष्वप्युदाहरणेषु दैशिक एव विरोधो द्रष्टव्यः ॥

यथावा—

स्वकरव्यतिकरितैर्हरिरतिनिशितैराशुगैर्महातेजाः । अतनुतरैरतनुत बत विमतान् जडताऽतिवेपितान् सद्यः ॥ ११२२ ॥

हरिः रविः भगवांश्च । स्वस्य करैः किरणैः कराभ्यां च

व्यतिकरितैः संश्लेषितैः संहितैश्च अत एव निशितैः तीक्ष्णैः आशुगैः मारुतैः बाणैश्च जडतया शैत्येन अप्रतिपत्तिमूढमनस्कतया च अतिवेपितान् अतिकम्पितान्। स्पष्टमन्यत्॥ अत्र जडताप्रयुक्तकम्पविरुद्धाद्भानोस्तत्संपत्तिरभिहिता। भानुकराणां जडताप्रयुक्तकम्पनस्य चैकस्मिन् काले असहवृत्तेः कालिको विरोध इति विशेषः॥

यथावा—

कुवलयविकासदश्रीरमृतकरोऽपि स्वतस्सतां नाथः। आमोदयते पुष्करसदो महोष्णश्रिया बतैष दिवा॥ ११२३॥

एषः सतां नक्षत्राणां नाथः चन्द्रमाः स्वतः अमृतकरः शिशिरांशुरिति भावः। कुलवयविकासदश्रीरपि दिवा अह्नि महोष्णया अतितिग्मया श्रिया स्वभासा पुष्कराणां पद्मानां सदः सभां समूहमिति यावत् 'स्त्रीनपुंसकयोस्सदः' इत्यमरः। आमोदयते सुरभीकरोति। बत इदं चित्रमित्यर्थः॥ वस्तुस्थितिस्तु स्वतः सतां ब्रह्मविदां अमृतकरः निश्श्रेयसदाता। कुवलयविकासदा भूवलयानन्ददायिनी श्रीः लक्ष्मीः शोभा संपद्वा यस्य स तथोक्तः। एषः नाथः जगतामधीश्वरो भगवान् महोष्णा अतिपटुः श्रीः संपत् यस्यास्सा अतिमहोष्णश्रीः तथोक्तया दिवा स्वर्गेण 'उष्णो ग्रीष्मे पुमान् दक्षाशीतयोरन्यलिङ्गकः' इति मेदिनी। 'दक्षे तु चतुरपेशलपटवस्सूत्थान उष्णश्च' इत्यमरश्च। पुष्करे सीदन्तीति पुष्करसदः। सदेः क्विप्। तान् द्युसदः देवान् 'पुष्करं खेऽम्बुपद्मयोः' इति मेदिनी। आमोदयते प्रहर्षयते इति 'आमोदो गन्धहर्षयोः'

इति मेदिनी । दिवः पटुतरसंपत्समृद्धिमत्तामापाद्य देवानानन्दयतीत्यर्थः । अत्र पुष्करपारिषदामोदनिवर्तकतया तद्विरुद्धाच्चन्द्रमसः पुष्करपारिषदामोदनिर्वर्तनरूपकार्यसंपत्तिरुदीरिता ॥ चन्द्रमसः पुष्करामोदस्य चैकस्मिम् काले सहानवस्थानात्कालिको विरोधः ॥

## कारणस्योद्भवः कार्याद्यदि षष्ठी विभावना ॥

कार्यादिति पञ्चम्यर्थो हेतुत्वं न त्वानन्तर्यादिः । अन्यथा कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तावातिप्रसङ्गस्स्यात् ॥

यथावा—

**सागरस्यपि विनतजने दयापयोधिं श्रियास्समुद्भूतम् । वीक्ष्याहीन्द्रगिरीन्दोर्विस्मयजलधिर्विजायते चित्रम् ॥ ११२४ ॥**

अत्र कार्यभूताभ्यां लक्ष्मीचन्द्राभ्यां कारणभूतजलधिजनिर्वर्णितेत्येषा विभावना । दयापयोधिरिव विस्मयो जलधिरिवेत्युपमितसमासाश्रयणेन महती दया महांश्च विस्मयो जायत इति विरोधपरिहारः ॥

यथावा—

**मनसो जातो विधुरिति ननु सा प्राहानिदंप्रथमवाणी । शुभवृषगिरीशमौळेर्विधोः प्रसन्नं मनोऽजनि विचित्रम् ॥ ११२५ ॥**

अनिदंप्रथमवाणी श्रुतिः 'चन्द्रमा मनसो जातः' इत्याह । शुभः वृषः वृषभः यस्य तस्य गिरीशस्य शङ्करस्य मौलेः शेखरभूतात् विधोः चन्द्रमसः प्रसन्नं मनः अजनीति विरोधः ।

शुभश्चासौ वृषगिरीशः शेषगिरिः तस्य मौळेः विधोर्भगवतः हेतुभूतात् मनः अस्य ममेत्यादिः। प्रसन्नं भगवद्दर्शनादिना वीतकलुषम्। अजनीति योजनाभेदेन तत्परिहारः। अत्रापि कार्याच्चन्द्रमसो मनसः कारणस्योत्पत्तिर्वर्णिता श्रुतिप्रसिद्धकार्यकारणभाववैपरीत्यवर्णनं पूर्वस्माद्विशेषः॥

यथावा—

**भानुरजायत भगवच्चक्षुष इति वदति पौरुषं सूक्तम्। धामनिधेरजनि हरेर्दृष्टिर्विशदा ममैतदाश्चर्यम्॥ ११२६॥**

पौरुषं सूक्तं 'चक्षोस्सूर्यो अजायत' इति वदति। विशदा प्रसन्ना हरेः भगवतः दृष्टिः चक्षुः धामनिधेः भानोः अजनि एतत् ममाश्चर्यम्। इति विरोधः। धामनिधेः तेजोनिधेः हरेः भगवतः श्रीनिवासात् मम दृष्टिः ज्ञानं 'दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षिण दर्शने' इत्यमरः। विशदा निर्मला अजनीति योजनाभेदेन परिहारः। अत्रापि कार्याद्भानोः कारणस्य भगवच्चक्षुष उदयो वर्णितः॥

यथावा—

**इन्द्रश्चाग्निश्च मुखादजनिष्टेति श्रुतं पुरुषसूक्ते। जिष्णोश्शुचेर्भगवतः प्रादुरभून्मुखमहो मम समक्षम्॥ ११२७॥**

'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' इति पुरुषसूक्ते श्रुतम्। भगवतः मुखं जिष्णोः इन्द्रात् शुचेः अग्नेर्वा मम समक्षं प्रादुरभूत् अजायत अहो इति विरोधः। परिहारस्तु– जिष्णोः जयशीलस्य

शुचेः अपहतपाप्मनः भगवतः मुखं मम समक्षं प्रत्यक्षं प्रादुरभूत् आविर्भूतमभूत् । अत्रापि कार्यादिन्द्रादग्नेश्च कारणस्य भगवन्मुखस्य प्रादुर्भावोऽभिहितः । अन्यत्तु पूर्ववदेव ॥

यथावा—

**विष्णुपदाद्गङ्गाऽभूद्विमलेति न्यशमयाम शास्त्रेभ्यः । चित्रमिदं गङ्गाया विष्णुपदं विमलमाविरभवदिति ॥ ११२८ ॥**

न्यशमयाम अशृणवाम गङ्गायास्सकाशात् विमलं विष्णुपदं भगवच्चरणं आविरभवत् अजायतेति विरोधः । गङ्गायाः हेतोः विष्णुपदं अन्तरिक्षं विमलं सत् आविरभवत् प्रकाशमासीत् इति परिहारः । कार्यात्कारणजनिस्स्पष्टैव ॥

इमे च षट् प्रकाराः कुवलयानन्दकारैर्लक्षिताः । प्राक्तनैस्तु अत्राद्य एव प्रकारो लक्षितः नान्ये पञ्च प्रकाराः एते च पञ्चप्रकारा दीक्षितोपज्ञान्येवेति ज्ञायन्ते ॥

रसगङ्गाधरकृदादयस्तु—"प्रथमप्रकारात् द्वितीयप्रकारस्य वैलक्षण्यं दुरुपपादमेव, कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिरित्यत्र कारणतावच्छेदकसंबन्धेन कारणतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य विवक्षितत्वात् । प्रकारान्तरस्वीकारापेक्षया तादृशविवक्षाया एव लघुत्वात् । एवं प्रतिबन्धकमपि कारणाभाव एव । प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वात् । इति तृतीयोऽपि भेदो न विलक्षणः । चतुर्थेऽपि भेदे कारणाभाव आर्थः । 'शङ्खाद्वीणानिनादोऽयम्' इत्युक्ते वीणां विनैवेति प्रत्ययादवैलक्षण्यम् । तस्माद्येन प्रकारेण प्रकारान्तराणामालीढत्वात् षट्प्रकारा इत्यनुपपन्नमेव । यदि तु यथाकथंचित्कुवलयानन्दोक्तिस्समर्थनीये-

त्याग्रहः तदा इत्थं समर्थनीयम् । तथाहि—विनाऽपि कारणं कार्यजन्मेति विभावनायास्सामान्यलक्षणम् । इयं च तावत् द्विविधा। शाब्दी आर्थी चेति। शाब्दी त्रिविधा। प्रतिबन्धकातिरिक्तकारणव्यक्तिप्रतियोगिताकाभावोक्तिपूर्विका, सत्यामपि कारणव्यक्तौ यदवच्छिन्नत्ववैकल्यप्रयुक्तः कार्याभावः तद्वैकल्योक्तिपूर्विका, स च कारणतावच्छेदकधर्मः क्वचित्कारणतावच्छेदकसंबन्धश्च। प्रतिबन्धकोक्तिपूर्विका चेति। आर्थ्यपि त्रिविधा। प्रकृतकार्यसमानजातीयकार्यान्तरस्य कारणात् प्रकृतविरुद्धकार्यस्य कारणात् स्वकार्याद्वा प्रकृतकार्यस्योत्पत्तिरिति । एतदर्थकमेव हि 'अकारणात्कार्यजन्मेत्यादि" इत्याहुः॥

इत्यलंकारमणिहारे विभावनासरः षट्त्रिंशः.

## (३७) अथ विशेषोक्तिसरः.

**विशेषोक्तिः पुष्कलेऽपि हेतौ कार्यं न चेद्भवेत् ।**

सत्यामपि कारणसामग्र्यां कार्यस्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्नामालंकारः। अस्यां च विरोधः प्रतिभासमानः प्रसिद्धकारणान्तरवैकल्यबुद्ध्या निवर्तते॥

यथा—

**स्नातं तीर्थेऽधीतं स्फीतं शास्त्रं कृतं सुकृतजातम्। एतन्ममाविनीतं चैतन्यं तदपि हन्त किं जातम्॥ ११२१॥**

चेतनैव चैतन्यं बुद्धिरित्यर्थः। हन्त किं जातमिति निर्वेदातिशयकथनम्। अत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदि-

षन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्याद्युक्तरीत्या तीर्थस्नानादीनां ब्रह्मवेदननिदानभूतचित्तशुद्धिहेतूनां बहूनां समवधानेऽपि चित्तशुद्धिरूपकार्यानुदयवर्णनाद्विशेषोक्तिः । तत्र ईश्वरसौहार्दयादृच्छिकसुकृतपरिपाकाद्यभावरूपं प्रतिबन्धकं प्रतीयते । इयमनुक्तनिमित्ता चित्तशुद्ध्यनुदयनिमित्तस्य प्रतिबन्धकस्यानुपात्तत्वात् ॥

यथावा—

सुबहुश्रुतोऽपि कश्चित्त्वां नारायण न वेत्ति परतत्त्वम् । अवगाढपायसोऽपि च तस्य रसं दारुहस्तक इवाहो ॥ ११३० ॥

अत्र बहुश्रुतत्वरूपकारणसद्भावेऽपि 'तत्त्वं नारायणः परः' इति श्रूयमाणो नारायण एव परं तत्त्वमिति ज्ञानरूपकार्यस्यानुदयो वर्णितः ॥

विद्या राजन्न ते विद्या मम विद्या न हीयते ।
विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानासि केशवम् ॥

इत्युक्तरीत्या ब्रह्मविद्याविधुरत्वतमोध्वस्तत्वादिरूपं प्रतिबन्धकं प्रतीयत इतीयमप्यनुक्तनिमित्ता । उक्तविधपरतत्त्वाज्ञाननिमित्तस्य प्रतिबन्धकस्यानुपादानात् । अवगाढं विलोडितं पायसं परमान्नं येन स तथोक्तोऽपि दारुहस्तकः पायससूपादिविलोडनपरिवेषणसाधनभूतो दारुनिर्मितो हस्ताकारः कश्चिद्वस्तुविशेषः 'स्यात्तर्दूर्दारुहस्तकः' इत्यमरः । अत्र—

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥

इति श्रीमद्भारतवचनार्थः प्रत्यभिज्ञाप्यते । उपमासंकीर्णत्वं तु पूर्वोदाहरणाद्विशेषः ॥

उक्तनिमित्ता यथा—

प्रायश्चीर्णान्यपि वा प्रायश्चित्तानि पापिनं मनुजम्। न हि नारायणविमुखं पुनन्ति तीर्थानि मद्यभाण्डमिव ॥ ११३१॥

अत्र नानाविधप्रायश्चित्ताचरणलक्षणकारणसद्भावेऽपि पूतत्वरूपकार्यानुदयः। इयमुक्तनिमित्ता नारायणविमुखमित्यपूततानिमित्तस्य प्रतिबन्धकस्योपात्तत्वात्। अनेन—

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराभाण्डमिवापगाः॥

इति श्रीभागवतश्लोकार्थः प्रत्यभिज्ञाप्यते॥

यथावा—

हन्त विशुद्धे पूर्णेऽप्यन्तर्गगने विधौ विलसमाने। बुद्धिर्मुग्धतमानां तमस्विनी न विजहाति मालिन्यम्॥ ११३२॥

विशुद्धे पूर्णे आभ्यां विशेषणाभ्यां 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिदहरविद्योदीरितमखिलहेयप्रत्यनीकत्वमनन्तकल्याणगुणाकरत्वं च संगृहीतम्। अन्तः ब्रह्मपुररूपशरीरान्तर्वर्तिनि हृदयपुण्डरीके विद्यमाने गगने 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः, तत्रापि दहं गगनम्' इति दहरविद्याप्रतिपादिते परस्मिन् ब्रह्मणि विधौ विष्णौ नारायणे। अनेन लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणसिद्धान्तप्रकारेण नारायणस्यैव सर्वपरविद्योपास्यत्वमित्ययमर्थस्सूचितः। विलसमानेऽपि 'अनेन सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः' इति तद्विद्योक्तं ब्रह्मस्वरूपप्रकाशस्यानावृततया भासमानत्वमु-

क्तम्। ताच्छील्यार्थकचानशा तस्य प्रकाशस्यानागन्तुकत्वं सूचितम्। मुग्धतमानां अविद्याच्छादितानां अनेन 'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमास्सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः' इति तत्रत्यश्रुत्यर्थोऽनुसंहितः। प्रत्यूढाः प्रतीपं नीताः स्वभावान्तरं प्रापिताः आच्छादिता इति यावत् इति तदर्थः। तमस्विनी तामसी बुद्धिः मालिन्यं सांसारिकदुःखमलिनतां न जहातीति। अन्यत्र विशुद्धे विमले पूर्णे समग्रकले विधौ चन्द्रमसि गगने अन्तः अन्तरिक्षस्य मध्ये शौण्डादिगणे अन्तश्शब्दपाठाद्गगने इत्यवयविन आधारत्वविवक्षायां सप्तमी। विस्तरस्तु रसास्वादिन्यां कृतोऽस्माभिः। विलसमाने सत्यपि तमस्विनी तमःप्रचुरा बुद्धिः गुहेति गम्यते। मालिन्यं तिमिरप्रयुक्तमलीमसत्वं न विजहातीति। अत्र विधुविलसनरूपकारणे विद्यमानेऽपि मालिन्यप्रहाणरूपकार्यानुदयो वर्णितः। इयमपि पूर्ववदुक्तानिमित्तैव, तमस्विनीति मालिन्याप्रहाणनिमित्तस्य प्रतिबन्धकस्योपादानात्। पूर्वा शुद्धा उपमोपस्कृता। इयं तु श्लेषादिसंकीर्णेति भेदः॥

यथावा—

**अपि हरिनखपरिभूतः क्षान्त्याद्यविभासुरः क्षपाध्यक्षः। स्वान्तेत्रपाध्यलीढो ह्यनूनवर्णो बभूव स खलु जडः॥ ११३३॥**

हरेः भगवतः नखैः परिभूतोऽपि क्षपाध्यक्षः चन्द्रमाः। स्वान्ते मनसि त्रपा लज्जा आधिः व्यथा ताभ्यां आलीढः

अभ्याप्तः निस्त्रपो निर्व्यथश्चेत्यर्थः । अत एव क्षान्त्या तादृश-परिभवसहनेन उपलक्षितः अत एव अविकलवर्णः पूर्णवर्ण एव हिशब्दोऽवधारणे। द्यवि अन्तरिक्षे 'द्योदिवौ द्वे' इत्यमरः। भासुरः बभूव। तत्र हेत्वन्तरमाह—स इति। सः चन्द्रमाः जडः खलु मूढ एव हि। मूढाः प्रायेण परेभ्यः प्राप्तेऽपि परिभवे न ग्लायन्ति किंतु विवेकविधुरा हृष्यन्त्यपीति भावः॥

पक्षे—क्षपाध्यक्ष इति शब्दः क्षान्त्याद्यत्रिभासुर इति समस्त-मेकं पदम्। क्षाभ्यां क्षकाराभ्यां अन्त्याद्ययोः चरमप्रथमभाग-योः विभासुरः क्षरूपाभ्यां अन्त्याद्यवर्णाभ्यां विभासुर इति वा। अत्र अस्मिन् स्वान्ते स्वान्तरे क्षपाध्यक्षशब्दमध्ये इत्यर्थः। पाध्यलीढः पाध्य इति वर्णसमुदयलीढः अविकलवर्णः संपूर्णा-क्षर एव बभूव। एकस्यापि वर्णस्यानपायादिति भावः। अत्र हरिनखपरिभूतत्वरूपकारणसत्त्वेऽपि त्रपाद्यनुदयो वर्णितः। जड इति त्रपाद्यनुदयानिमित्तस्य प्रतिबन्धकस्योपात्तत्वादुक्तानिमित्तैव। शब्दार्थतादात्म्यमूलकश्लेषोपस्कृतत्वं पूर्वस्माद्विच्छित्तिविशेषः॥

यथावा—

**सारससरसा दृक्ते प्रतिकूलोक्त्याऽपि न विकृ-तिलवं वा। विन्दति मुकुन्दसुन्दरि तस्यास्तादृ-ग्विधा हि परिपाटी॥ ११३४॥**

हे मुकुन्दसुन्दरि! सारससरसा कमलरमणीया तव दृक् प्रतिकूलोक्त्या स्वविप्रतीपवचसाऽपि विकृतिलवं वा विकार-लेशमपि न विन्दति। महोदारगभीरहृदयायास्तव निसर्गनित्य-रमणीया दृष्टिः क्षोभहेतुभूतक्षोदिष्ठप्रतिकूलगिरा न कदाऽपि वि-

कृतिमुपयाति। किंतु यथावस्थितैव भवतीति भावः। तथाऽवस्थाने हेतुमाह तस्या इति। हि यस्मात् तस्याः दशः परिपाटी रीतिः तादृग्विधा तत्स्वभाव एव तादृक् यत्क्षोभहेतौ सत्यप्यविकृततयैवावस्थानम्। अत एव विशेषोक्तिः। इयमप्युक्तविषया। तस्यास्तादृग्विधा हि परिपाटीति विकारानुदयनिमित्तस्य प्रतिबन्धकस्योपात्तत्वात्। अत्र सारससरसाशब्दः प्रतिलोमपाठेऽपि विकारलेशमपि न विन्दति। तस्याः सारससरसाशब्दस्य अर्थगतं स्त्रीत्वं शब्दे आरोप्यते। परिपाटी आनुपूर्वी तथाविधाहि। विलोमपाठेऽप्यनुलोमसुसदृशवर्णावस्थानरूपप्रकाशशालिनीति चमत्कारान्तरप्रदर्शनं विशेषः पूर्वोदाहरणात्॥

केचिदचिन्त्यनिमित्तां तृतीयामामनन्ति। उदाहरन्ति च—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम्॥

इति। अनुक्तनिमित्तायां निमित्तं निमित्तत्वावच्छेदकरूपेण चिन्त्यमानं प्रतीयते। इह तु न तथा। किंतु भविष्यति किंचिन्निमित्तमित्याकारेणेत्यनुक्तनिमित्तातोऽचिन्त्यनिमित्ताया भेद इति हि तेषामभिप्रायः। अन्ये तु 'नानुक्तनिमित्तायां चिन्त्यत्वं निमित्तविशेषणं, भेदान्तरकल्पनागौरवप्रसङ्गात्। किंतु चिन्त्यत्वमचिन्त्यत्वं चेति द्विप्रकारकमपि निमित्तं यत्र नोक्तं साऽनुक्तनिमित्ता तेन अचिन्त्यनिमित्ता अनुक्तनिमित्तातो न पृथग्भावमर्हति' इत्याहुः॥

चिन्त्यनिमित्ता पूर्वमुदाहृतैव॥

अचिन्त्यनिमित्ता यथा—

दुष्कृतिनिश्शेषीकृति कृतिनि त्वयि जाग्रति

**प्रभाववति । त्वद्वैभवविद्वेषी खलः कुतोऽद्यापि शिष्यते भगवन् ॥ ११३५ ॥**

अत्र दुष्कृद्विनाशनपटीयस्तरमहाप्रभावभगवज्जागरूकतारूपकारणसामग्रीसमवधानेऽपि तद्वैभवविद्वेषिखलजननिश्शेषीकरणरूपकार्यानुदयवर्णनाद्विशेषोक्तिः । तत्परिशेषणे निमित्तं किंचिद्भविष्यतीत्यचिन्त्यमेव तत्, प्रतीत्यविषयत्वात् ॥

यथावा—

**पन्नगनगधौरेयः प्रसन्नयाऽम्ब त्वयाऽनिशं सुहितः । चित्रं नमदस्खलितो न रागदुष्टाऽपि दृष्टिरेतस्य ॥ ११३६ ॥**

हे अम्ब! त्वया प्रसन्नया सुरया स्वच्छया संतुष्टया वा सत्येति वस्तुस्थितिः । 'प्रसन्ना स्यात्सुरायां स्त्री स्वच्छसंतुष्टयोस्त्रिषु' इति मेदिनी । 'गन्धोत्तमा प्रसन्नेरा' इति सुरापर्यायेष्वमरश्च । अनिशं सुहितः तृप्तः । पक्षे—सुतरां हितरक्षणेन सकलभुवनहितकृदित्यर्थः ॥

लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारुण्यरूपया ।
रक्षकस्सर्वसिद्धान्ते वेदान्तेष्वपि गीयते ॥

इति श्रीसाहित्येनैव जगद्रक्षणोक्तेः । मदेन चित्तविकारेण स्खलितः न भवति । पक्षे—नमदस्खलित इति समस्तमेकं पदम् । नमत्सु शरणागतेषु अस्खलितः आश्रितरक्षणव्रते च्युतिरहित इत्यर्थः । किंच एतस्य दृष्टिः रागेण शोणिम्ना मदकार्येण । अन्यत्र मात्सर्यादिदोषेण दुष्टा च न भवति । अत्र अनिशं

प्रसन्नासुहितत्वरूपकारणपौष्कल्यसद्भावेऽपि मदस्खालित्यादिकार्यानुदयवर्णनाद्विशेषोक्तिः । तादृशकार्यानुदये निमित्तं किं भवेद्वेत्याचिन्त्यमेव तत्, प्रतीत्यगोचरत्वात् । इयं श्लेषोत्तम्भितेति पूर्वोदाहरणाद्वैलक्षण्यम् ॥

यथावा—

ननु वासराधिपस्तव सेवायै वानराधिपो जातः । रघुवीर रूपभेदेऽप्यनयोरग्राहि हन्त सनभेदः ॥ ११३७ ॥

ननु रघुवीर! वासराधिपः भानुः तव सेवायै कैंकर्यं कर्तुं वानराधिपो जातः सुग्रीवतयाऽऽविरभूदित्यर्थः । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः । अनयोः वासराधिपवानराधिपोः रूपभेदे सत्यपि सः भेदः नाग्राहि । जनैरिति शेषः । हन्तेत्याश्चर्ये । अत्र रूपभेदग्रहणसामग्र्यां सत्यामपि तदग्रहणवर्णनाद्विशेषोक्तिरचिन्त्यनिमित्ता । अनयोः वासराधिपवानराधिपशब्दयोः सनभेदः सकारनकाराभ्यमेव भेदः अग्राहि नान्यवर्णैरिति वस्तुस्थितिः । अयमेव विशेषः पूर्वोदाहरणात् ॥

इदमत्रावधेयम्—यत्र कारणाभावकार्याभावयोः प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्येन श्रुत्या प्रतिपादनं तत्र विभावनाविशेषोक्त्योश्शाब्दत्वं अन्यत्रार्थत्वमिति ॥

यथा—

मधुरविधां चरितसुधां मधुमथन तवानिशं समापिबताम् । प्रतिकलमविकलरूपस्तर्षोत्कर्षोऽभिवर्धते चित्रम् ॥ ११३८ ॥

लोके ह्यसंनिकर्षस्तर्षहेतुः तदभावे संनिकर्षेऽपि तर्षोत्कर्ष उपनिबद्धः। तथा सन्निकर्षस्तृप्तिहेतुः तत्सद्भावेऽपि तृप्त्यभावो बोधितः। परंतु कारणाभावकार्याभावयोर्न प्रागुपदर्शितप्रकारेण प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्येन श्रुत्या प्रतिपादनमित्यार्थत्वमेव विभावनाविशेषोक्तिसंकरस्य। अमुमेव चार्थं हृदि निधाय मम्मटभट्टेन "यः कौमारहरः" इति पद्यमुदाहृत्यात्र स्फुटो न कश्चिदलंकार इत्यभिहितम् ॥

वामनस्तु—'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' इति व्यवाहार्षीत्। उदाहार्षीच्च 'द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्' इति। अत्र हि द्यूते राज्यं तादात्म्येनारोप्यते। तत्र सिंहासनरहितं हि द्यूतं सिंहासनसहितराज्यतादात्म्यं कथमवलम्बेतेत्यारोपोन्मूलयितृयुक्तिनिराकरणायारोप्यमाणे राज्येऽपि सिंहासनराहित्यं कल्प्यते। तेन दृढारोपं रूपकमेवेदं न विशेषोक्तिः। एवंच 'अचतुर्वदनो ब्रह्मा' इत्यादिपौराणिकपद्येऽपि रूपकविशेष एव। तथा गुणाधिक्यकल्पनायामपि रूपकविशेष एव। यथा 'धर्मो वपुष्मान् भुवि कार्तवीर्यः' इत्यादौ। एवंच 'एकगुणहान्युपचयादिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषः' इति विशेषालङ्कारं लक्षयन्तोऽपि प्रत्युक्ताः ॥

इत्यलङ्कारमणिहारे विशेषोक्तिसरस्सप्तत्रिंशः.

## (३८)–अथासंभवसरोऽष्टात्रिंशः.

---

**असंभाव्यत्वकथनमर्थसिद्धेरसंभवः ॥**

कस्यचित्कार्यस्य निष्पत्तेरसंभावनीयत्ववर्णनमसंभवो नामालंकारः । यथा –

कुरुसदसि द्रुपदसुता परिभूताऽभूद्यदा तथा धूर्तैः । तव करुणा तां भगवंस्तदाऽभिरक्षेत्तथेति को वेद ॥११३९॥

यथावा--

चरणत्रयमितधरणीवरणकृतार्थेन वामनेन हरे । जगतां त्रितयं भवताऽऽक्रम्यत इति केन नाम विज्ञातम् ॥११४०॥

यथावा—

सर्वद इति हृदयं त्वयि दर्वीकरगिरिपते मया न्यस्तम् । अपहरसि तदेव त्वं देव त्वामीदृगिति न वेदाहम् ॥११४१॥

अत्रोदाहरणत्रये पाञ्चालीरक्षणजगत्त्रयाक्रमणहृदयापहरणानां पदार्थानां निष्पत्तेरसंभावनीयत्वं को वेदेत्यादिभिराविष्कृतमिति लक्षणानुगतिः ॥

यथावा—

गोपकिशोरस्य वने तापो मा भूत्पिधेहि घन तपनम् । इत्याशासे विद्यात्का वा दावाग्निमेष पिबतीति ॥११४२॥

यशोदाया उक्तिरियम् । घनेति जलधरस्य संबोधनम् । अत्र गोपकिशोरस्य दावाग्निपानरूपपदार्थनिष्पत्तेरसंभाव्यत्वं का वा विद्यादित्यनेनाविष्कृतम् ॥

यथावा—

शुभभाविभवान्दद्या इति हि रमाधिप समाश्रिता एते । शुभभाविभवानेवं हरे त्वमेषां हरेरिति न विद्मः ॥११४३॥

शुभं कल्याणं भाः दीप्तिः विभवः ऐश्वर्यं एतेषां द्वंद्वः शुभभाविभवाः तान् । उत्तरार्धे विरोधपरिहारे हे शुभेति संबुद्धिः । भाविभवान् भविष्यज्जन्मानीत्यर्थः । अत्र शुभभाविभवहरणरूपपदार्थनिष्पत्तेरसंभावनीयता एवं हरेरिति न विद्म इत्यनेन प्रकाशिता ॥ रमाधिप हर इति संपत्प्रदानहरणसामर्थ्याभिप्रायगर्भविशेष्यन्यसनरूपपरिकराङ्कुरश्लेषविषमविशेषसंकीर्णोऽयमिति पूर्वेभ्यो विशेषः ॥

अयमलंकारो दीक्षितोपज्ञमेव । प्राचीनैस्तु न लक्षितः । तद्दर्शने तु प्रदर्शितेषु प्रथमेतरेषु 'चरणत्रयमितधरणी' इत्यादिषु त्रिषूदाहरणेषु यद्यपि विरोधालंकारेण भाव्यम् । वामनादीनां द्रव्याणां जगत्त्रयाक्रमणादिक्रियाभिर्विरोधस्य स्फुटत्वात् ।

अत एव कुवलयानन्दीयासंभवोदाहरणभूतं 'अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति' इति पद्यमलंकारसर्वस्वकारादयो द्रव्यक्रियाविरोधोदाहरणतयोपाददिरे। अन्तिमे 'शुभभाविभवान्दद्याः' इत्युदाहरणे तु वक्ष्यमाणविषमप्रकारभेदेन भवितव्यं, अर्थावाप्तिरूपेष्टार्थसमुच्चमादिष्टानवाप्तेरनिष्टप्रातिलम्भस्य च वर्णितत्वात्। तथाऽपि प्राथमिके 'कुरुसदासि द्रुपदसुता' इति पद्ये तादृशविरोधस्य वा अलंकारान्तरस्य वा असंभवादसंभवालंकार एवोक्तलक्षणलक्षितो विच्छित्तिविशेषशालितयाऽवश्याभ्युपेय इति द्वितीयाद्युदाहरणेष्वप्यर्थानिष्पत्त्यसंभाव्यतावर्णनलक्षणविच्छित्तिविशेषसद्भावस्य सहृदयहृदयैकसाक्षिकतया स एवालंकारः प्रधानीभूत इति तेनैव व्यपदेशो युक्तः 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायात्। अन्यस्तु तदङ्गत्वेनाप्रधानतयाऽवतिष्ठत इति सुधीभिराकलनीयम्॥

इत्यलंकारमणिहारे असंभवसरोऽष्टत्रिंशः

## ३९—अथासंगतिसरः

भिन्नाधिकरणत्वं यद्विरुद्धं हेतुकार्ययोः।
वर्ण्यते तमलंकारं प्राज्ञाः प्राहुरसंगतिम्॥

विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसंगतिर्नामालंकारः॥

यावत्कटाक्षधारा भावत्की प्रसरणोन्मुखाकारा।
तावत्तापा नमतां श्रीवत्साङ्क स्वयं लयमयन्ते॥

अत्र कटाक्षधाराप्रसरणौन्मुख्यलक्षणहेतोः तापलयरूपकार्यस्य च वैयधिकरण्ये अतिप्रसङ्गवारणाय विरुद्धेत्यादि । इह च विभिन्नदेशस्थितस्यैव तस्य कार्यप्रयोजकतया विरोधानवकाशः ॥ यथा—

पवनाशनगिरिनायक नवजलदस्तव जहार रुचिविभवम् । जगतां निर्वर्णयतां भवता बत निगळितानि नयनानि ॥ ११४५ ॥

अत्र निगळितानीत्यत्राभेदाध्यवसायलक्षणेनातिशयेन स्तेयरूपापराधहेतुकनिगळबन्धनतयाऽवस्थिते निश्चलीकरणे विषय्यंशमुपादाय तंप्रति समानाधिकरणतया प्रतीतस्य स्तेयरूपस्य हेतोर्वैयाधिकरण्यज्ञानात्पुरःप्रस्फुरन्विरोधो विषयांशावमर्शोत्तरं तं प्रति रुचिहरणाभिव्यज्यमानसुषमातिशयस्य भावनोपनीतस्य हेतुतायाः प्रतिसंधानान्निवर्तत इत्यभेदाध्यवसायोऽनुप्राणयिता विरोधश्चोत्कर्षयिता ॥ इयं शुद्धा ॥

यथावा—

रुपीतां हरेरमुष्णात्स्वातन्त्र्यश्रियमकुण्ठितप्रसराम् । मन्दस्मितमम्ब तवाविन्दत बत मर्दनं स्तनद्वंद्वम् ॥ ११४६ ॥

अत्र मर्दनमित्यत्राभेदाध्यवसाननिबन्धनेनातिशयेन मोषणनिमित्तकमर्दनरूपतयाऽवस्थिते निष्पीडनरूपे विषये विषय्यंशमुपादाय तंप्रति सामानाधिकरण्येन प्रसिद्धस्य कारणस्य मोषणरूपस्य वैयधिकरण्यज्ञानात्पुरतस्स्फूर्तिमान्विरोधो विषयांश-

विचारादनन्तरं तंप्रति स्वातन्त्र्यश्रीमोषणाभिव्यक्तस्य कामपारवश्यस्य कारणतायाः प्रतिसंधानान्निवर्तेत इत्यत्राप्यभेदाध्यवसायविरोधयोरनुप्राणकत्वोत्कर्षकत्वे प्राग्वदेव। इयमपि शुद्धा॥

यथावा—

मुग्धा मुखसुषमा तव मुकुरस्य श्रियमचूचुरत्सकलाम्। शुद्धे शशाङ्कबिम्बे कलङ्कमस्मिन्नेह बत विधिर्विदधे ॥ ११४७ ॥

शुद्धे 'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः' इत्युक्तरीत्या स्तैन्यदोषविधुरतया निरपराधे। अन्यत्र शुभ्रे। कलङ्कं चौर्यापवादं लक्ष्म च 'कलङ्कोऽङ्कापवादयोः' इत्यमरः। अत्र कलङ्कं विदधे इत्यत्राभेदाध्यवसायलक्षणातिशयेन चौर्यहेतुकापवादारोपरूपतामापन्ने लाञ्छनविधाने विषय्यंशमुपालम्भ्य तंप्रति सामानाधिकरण्येन विदितस्य हेतोश्चौर्यरूपस्य वैयधिकरण्यज्ञानात्पुरः प्रतीयमानो विरोधो विषयांशविमर्शोत्तरं तंप्रति मुकुरश्रीचौर्याभिव्यक्तलावण्यविशेषस्य हेतुतायाः प्रतिसंधानान्निवर्तेत इत्यभेदाध्यवसायानुप्राणितत्वं विरोधोत्कर्षितत्वं च पूर्ववदेव। श्लेषोपबृंहितेयम्॥

यथावा—

कमले विलोचनश्रीः कमलेनैव व्यमोषि तव विमला। इन्दोर्बत प्रतीपा कारा तेजोविवर्द्धनी त्वजनि ॥ ११४८ ॥

तुशब्दो भिन्नक्रमः। प्रतीपा प्रतिकूला। स्वतेजोऽसहिष्णुना कमलेन कृतेऽपराधे स्वस्य दण्डप्राप्तेरसंभावितत्वादिति भावः।

कारा नु अपराधियोग्यो बन्धनालयवासस्तु इन्दोः तेजोविव-र्धनी तेजसः छेदयित्री अजनि । बतेति खेदे । पक्षे प्रतीपा प्रातिलोमवर्णा कारा राकेत्यर्थः । तेजोविवर्धनी कलाभिवृद्धिदा-यिनी अजनीत्यर्थः । राकायां तस्य पूर्णत्वादिति भावः । अत्रापि कार्यकारणयोः कारावासमोषणयोर्वैयधिकरण्यम् । अन्यत्सर्वं पूर्ववत् ॥

यथावा—

विशदयितुं जगदखिलं दिशिदिशि जगदीश विदि-
शिविदिशि तथा । यशसि तव धावमाने शशि-
पादा हन्त भृशमखिद्यन्त ॥ ११४९ ॥

अत्रापि पादखेदधावनयोः कार्यकारणयोर्विरुद्धं वैयधिकरण्यं वर्णितम् । शशिनः पादाः चरणाः अखिद्यन्तेति विरोधः । परिहारस्तु किरणाः स्वकरणीयस्याखिलजगद्वैशद्यस्य यशसैव कृततया स्वनैष्फल्यचिन्तनेन दैन्यमलभन्तेति । इयमपि श्लेषोपबृंहिता प्राग्वदेव ॥

यथावा—

कुचरूपमचलयुगलं विचचाल हृदि व्रजेन्दु-
वदनायाः । चित्तहृदो विलुलितो दत्तहृशस्तत्र
नन्दतनयस्य ॥ ११५० ॥

अत्रापि कार्यकारणयोर्विलोडनाचलचलनयोर्विरुद्धा भिन्नाधिरणकता द्रष्टव्या । रूपकोपस्कृतत्वं विशेषः ॥

यथावा—

वाराणसीमधाक्षीन्नारायणचक्रमतियुगान्तार्कम् । आपेदिरेऽरिललनास्तापाटोपं दिशस्तु विस्फोटम् ॥ ११५१ ॥

अत्र दाहस्य कारणस्य तापविस्फोटयोश्च कार्ययोस्सामानाधिकरण्येन हेतुहेतुमद्भावशालिनोस्तद्विपरीतं भिन्नाधिकरणत्वं निबद्धम् । विस्फोटो नामाग्निदाहादिजन्यो बुद्बुदाकारस्त्वग्विकारविशेषः पिटकापरनामा । 'विस्फोटः पिटकं त्रिषु' इत्यमरः । अन्यत्र विस्फोटः विदलनं 'विदलः स्फुटनं भिदा' इत्यमरः 'स्फुटिर् विशरणे' इति धातुः । पूर्वोदाहरणेषु कारणमेकं कार्यं चैकं, अत्र तु कारणमेकं द्वे कार्ये ते अपि भिन्नाधिकरणे इति विशेषः ॥

यथावा—

ज्यां कर्षति रघुवीरे शरावळी न्यपतदाशरावळ्याम् । सममूर्छद्विष्फारः ककुभो निष्फालिता विचित्रमिदम् ॥ ११५२ ॥

सममूर्छत् अमुह्यत् । उच्छ्रितोऽभूदिति वस्तुस्थितिः । 'मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः' इति धातोस्संपूर्वकाल्लङ् । 'सम्मूर्छनमभिव्याप्तौ संमूर्छामोहयोरपि' इति विश्वः । निष्फालिताः विशीर्णाः कृताः 'फल विशरणे' ण्यन्तादस्मात्कर्मणि क्तः । यद्वा निष्फालो विशरणं । निष्पूर्वकात्फलेर्घञ् । स आसां संजात इति निष्फालिताः । निष्फालवत्यः कृता इति वा । निष्फालव-

च्छब्दाण्णाविष्ठवद्भावे 'विन्मतोः' इति मतुपो लुक् । अत्र शरावळीनिपतनस्य कारणस्य मूर्छानिष्फलनयोः कार्ययोश्च वैयाधिकरण्यम् । पूर्वोदाहरणवदत्रापि कारणमेकं कार्ये द्वे इति ध्येयम् ॥

यथावा—

**श्रुत्यञ्चलपरिशीलनमासीन्मौर्व्या उपासनं तु हरेः । बाणानां मोक्षस्तु प्राणानां हन्त वैरिवर्गस्य ॥ ११५३ ॥**

हरेरिति आसीदिति च सर्वत्र संबध्यते । हरेः मौर्व्याः श्रुत्यञ्चलपरिशीलनं वेदान्तविमर्शः कर्णान्तस्पर्शश्च । आसीत् । उपासनं निदिध्यासनं, पक्षे प्रयोगः । तत्तु हरेः बाणानामासीत् । मोक्षः संसारबन्धमुक्तिः शरीरत्यागश्च, स तु वैरिवर्गस्य प्राणानां आसीत् । अत्र श्रुत्यञ्चलपरिशीलनरूपकारणस्य उपासनरूपकार्यस्य च एवं उपासनरूपकारणस्य मोक्षरूपकार्यस्य च वैयाधिकरण्यम् । अत्र कारणे द्वे कार्ये च द्वे । मालारूपता एकावळीरूपता चात्र ध्वन्यत इति विशेषः ॥

यथावा—

**कर्षणमविन्दत ज्या फलं कलम्बेष्वलं चकान तव । तद्भुजे रिपुवर्गस्सौहित्यं तव बभूव बत भगवन् ॥ ११५४ ॥**

हे भगवन् ! तव ज्या मौर्वी । भूरित्यपि गम्यते । कर्षणं लाङ्गलविलेखनं आकर्षणं च अविन्दत । कलम्बेषु बाणेषु फलं सस्यं धान्यबीजं वा । पक्षे आयसमग्रिमशल्यमित्यर्थः ।

फलमिष्वग्रे सस्ये फलके जातीफले धने फाले ।
भोगे बीजे लाभे हेतूत्पन्ने फली तु फलिनी स्यात् ॥

इति रत्नमाला। चकान दिदीपे 'कन दीप्तौ' लिट्। तत्फलं रिपुवर्गः बुभुजे अभ्यवजह्रे। अन्यत्र त्वत्प्रयुक्तबाणाग्रमनुबभूव। तद्विद्धोऽभवदिति यावत्। सौहित्यं भोजनजनिता तृप्तिस्तु। पक्षे शत्रुहननप्रयुक्ता तुष्टिः तव बभूव। अत्र कर्षणफलयोः भोजनतृप्त्योश्च वैयधिकरण्यम्। इयं श्लेषोपस्कृता वक्ष्यमाणैकावळीसंकीर्णा मालारूपा चेति द्रष्टव्यम्॥

अस्यां च विभावनायामिव कार्यांशेऽतिशयोक्त्यनुप्राणनमावश्यकं, अन्यथा विरोधो दुष्परिहारस्स्यात् इत्यलंकारसर्वस्वकारादीनां मतम्। तच्चोदाहृतेषु पद्येषु व्यभिचारादसंगतम्। न हि 'आपेदिरेऽरिललनास्तापाटोपं' इत्यादावरिललनातापाटोपाद्यवाप्त्यंशे अतिशयोक्तिरस्ति, किंतु श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसानमात्रम्। तस्मात् येनकेनापि प्रकारेण कार्याभेदाध्यवसानमावश्यकमिति तु संगतम्। यद्यपि 'शुल्यश्वलपरिशीलनम्' इत्यादौ कारणांशेऽपि श्लेषादिना अभेदाध्यवसानं संभवति। तथाऽपि नासौ तदंशे नियतः। 'वाराणसीमधाक्षीत्' इत्यादौ दाहाद्यंशे तदभावात्। 'सा बाला वयमप्रगल्भमनसस्सा स्त्री वयं कातरास्सा पीनोन्नतिमत्पयोधरभरं धत्ते सखेदा वयम्' इति प्राचीनोदाहरणपद्ये बालात्वस्त्रीत्वाद्यंशे तल्लेशस्याप्यसंभवात्॥

क्वचिदसंगतिसमाधानेन चारुतातिशयो दृश्यत इति कुवलयानन्दकाराः॥ तत्र यथा—

**हारस्त्वोरसि निहितश्श्रिरमया शौरिहृदयमुदलासीत्। तादात्म्यौदार्यमिदं मोदाय न कस्य वा भवेदनयोः॥ ११५५॥**

उद्लासीत् प्रकाशते स्म। हृष्यति स्मेति परिहारः। अनयोः श्रीश्रीशयोः तादात्म्यौदार्यं--

अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात्।
तादात्म्यं विद्धि संवन्धं मम नाथस्य चोभयोः॥

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्ततादात्म्यमहत्त्वं कस्य वा मोदाय न भवेदिति योजना। अत्र हारनिधानं लक्ष्मीवक्षसि, उल्लासस्तु शौरिहृदयस्येति हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यं निबद्धम्। तत्समाधानाय भगवतो लक्ष्मीतादात्म्यं भगवच्छास्त्रप्रतिपादितमुपन्यस्तम्। तादात्म्यं चात्र लोकप्रसिद्धमभेदरूपं उदाहृतशास्त्रसिद्धाविनाभावरूपं च श्लेषेणाभिन्नतयाऽध्यवसितमिति ध्येयम्। तथाचात्रामुखेप्रतीताऽप्यसंगतिस्समाधानप्रतिपादनेनाभासीभवतीति विरोधवदसंगत्याभासोऽपि विच्छित्तिविशेषशालितया अलंकारो भवतीति द्रष्टव्यम्॥

नन्विह कार्यकारणवैयधिकरण्यप्रयुक्तो विरोधाभास इति विरोधालंकार एव किं न स्यादिति चेच्छ्रूयताम्—एषा हि विरोधवोधिनी, न तु विरोध एव। तथाहि—असंगतौ कार्यकारणयोर्द्वयोर्भिन्नाधिकरणत्वप्रयुक्तो विरोधप्रतिभासः। विरोधस्तु जात्यादेर्जात्यादिना सह एकाधिकरण एव प्रथमतो विरोधप्रतिभासः। न चैवं सति किमिति विरोधलक्षणे तथाऽनुक्तमिति शङ्क्यम्। तत्रैकाधिकरण इत्यनुक्तावपि तथैव पर्यवसानात्। ततश्चासंगतेर्विरोधोपजीव्यत्वेन विरोधापवादकतया अपवादभूतासंगतिविषयपरिहारेणैव विरोधसामान्यविषयतया उत्सर्गभूतस्य विरोधस्य व्यवस्थितिः। तथाच विरोधालंकारे ह्येकस्मिन्नधिकरणे द्वयोस्संबन्धाद्विरोधभानं असंगतौ त्वधिकरणद्वय इति तस्मादस्य वैलक्षण्यमिति प्राञ्चः॥

नव्यास्तु—व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोस्समानाधिकरणत्वेनोपनिबन्धने विरोधालंकारः । समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोर्द्वयोर्वैयधिकरण्येनोपनिबन्धने असंगतिः । प्रागुक्तासंगतिलक्षणे हेतुकार्ययोरिति च समानाधिकरणमात्रोपलक्षणम् । तेन—

नेत्रं निरञ्जनं तस्याश्शून्यास्तु वयमद्भुतम् ।

इत्यत्र निरञ्जनत्वशून्यत्वयोरुत्पाद्योत्पादकभावलक्षणसंबन्धानन्तर्भावेन शुद्धसमानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोरप्यसंगतिस्संगच्छते । यथाश्रुते तु सा न स्यात् । तथाच स्फुट एव विरोधालंकारादसंगतेर्भेद इति वदन्ति ॥

---

## द्वितीयासंगतिः.

### कार्यमन्यत्र यत्तस्य ततोऽन्यत्र क्रियाऽपि सा ॥

एकस्मिन्नधिकरणे कर्तव्यस्य वस्तुनस्तद्भिन्नाधिकरणे करणमप्यसंगतिरलंकार इत्यर्थः ॥

यथा—

**ग्रसता पुरा हिरण्यं प्रसभं नृहरेः प्रतापहव्यभुजा । तत्सुतभीर्व्यद्राव्यत तत्सुदतीनां व्यलाप्यत च वृन्दम् ॥ ११'५६ ॥**

हिरण्यं सुवर्णं, नामैकदेशग्रहणाद्धिरण्यकशिपुं च । व्यद्राव्यत द्रवीकृता । पक्षे अधाव्यत । द्रवतेर्ण्यन्तात्कर्मणि यक् । 'द्रुतं शीघ्रविलीनयोः' इति हेमचन्द्रः । व्यलाप्यत द्रवीकृतं । विपूर्वकात् 'ली द्रवीकरणे' इति धातोर्ण्यन्तात्कर्माणि यकि लङ् ।

'विभाषा लीयतेः' इत्येज्विषये आत्वे 'अर्तिह्री' इत्यादिना पुगागमः। पक्षे पर्यदेव्यत। 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः। विपूर्वकाल्लुपतेर्ण्यन्तात्कर्मणि यकि लङ्। अत्र हिरण्यरूपेऽधिकरणे अग्निकर्तव्यस्य विद्रावणस्य विलापनस्य च तद्भिन्ने प्रह्लादत्रासरूपे हिरण्यकशिपुसुदतीबृन्दरूपे चाधिकरणे करणं वर्णितम्। श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायोत्तम्भितेयम्॥

यथावा—

सूते कटाक्षलक्ष्मीस्सा ते साधुषु समस्तपुरुषार्थान्। व्यातानस्त्वमरिष्टं विश्वविभो तदितरेषु सुस्पष्टम्॥ ११५७॥

अरिष्टं सूतिकागृहं अशुभं च 'अरिष्टमशुभे ताम्रे लशुने सूतिकागृहे' इति रत्नमाला। तदितरेषु असाधुषु। अत्र कटाक्ष लक्ष्मीकर्तृकपुरुषार्थप्रसवाधिकरणेषु साधुषु कर्तव्यस्यारिष्टकरणस्यासाधुषु करणम्। श्लेषसमासोक्त्युपबृंहितेयम्॥

यथावा—

तमसा मलीमसा ये भूयांस्यागांसि ते वितन्वन्ति। सत्त्ववतां दममधिकं स त्वं विदधासि तव नयोऽन्यादृक्॥ ११५८॥

चतुर्थपादे सः त्वं इति च्छेदः। दमं दण्डं दान्तिं च 'दमो दण्डे चेन्द्रियनिग्रहे' इति रत्नमाला। अत्राप्यपराधिषु कर्तव्यस्य दमस्यानपराधिषु करणं निबद्धम्। श्लेषव्याजस्तुतिसंकीर्णेयम्॥

यथावा—

**ननु नाथ भवतिनिष्ठां भगवन्नियतं चिकीर्षुणा कविना। क्रियते काममदादिद्विषिनिष्ठापरमपद-विदा चित्रम् ॥११५९॥**

ननु नाथ! भगवन्! परमं श्रेष्ठं यत्पदं शब्दशास्त्रं तद्वेत्तीति तथोक्तेन। पक्षे परमं पदं पदनीयं परब्रह्मस्वरूपं तद्विदा। अनेन 'तस्यैवात्मा पदवित्' इति श्रुतिः प्रत्यभिज्ञाप्यते। कविना विदुषा भवतिनिष्ठां भवतिः भूधातुः श्तिपा निर्देशोऽयं, 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति स्मरणात्। तस्मात् निष्ठां क्तं क्तवतुं वा प्रत्ययं "क्तक्तवतू निष्ठा" इत्यनुशासनात्। अन्यत्र भवति त्वयि निष्ठां नैष्ठिकतां त्वदेकान्त्यमित्यर्थः। चिकीर्षता सता कामं पर्याप्तं यथास्यात्तथा। अदादिद्विषिनिष्ठेति समस्तं पदम्। अदादिः 'अद भक्षणे' इत्युक्तो धातुः आदिः यस्य तथाभूते आदादिके इत्यर्थः। द्विषिः 'द्विष अप्रीतौ' इत्युक्तो धातुः। इका निर्देशोऽयं। तस्मिन् निष्ठा क्तः क्तवतुर्वा प्रत्ययः। अन्यत्र काममदादिद्विषीति समस्तं पदम्। कामो मदश्च आदिर्यस्य तस्मिन् द्विषि वैरिवर्गे जात्यभिप्रायकमेकवचनम्। निष्ठा नैष्ठिकता क्रियते इति चित्रम्। कामस्य मदनस्य मदं हर्षं दर्पं वा, आदिशब्देन कुतूहलादिर्गृह्यते, तं द्वेष्टीति तथोक्ते पशुपतौ निष्ठा क्रियते इत्यप्यर्थ उपस्क्रियते। काममदादिवैरिवर्गे निष्ठा नाशः क्रियत इति परिहारः। कामादिवैरिवर्गावधीरणमन्तरा भगवन्निष्ठा दुस्साधेति भावः। 'निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः' इत्यमरः। अत्रान्यत्र करणीयाया निष्ठाया अन्यत्र कृतिरुपवर्णिता। वैलक्षण्यं तु पूर्वेभ्यस्स्पष्टमेव ॥

यथावा—

बर्हं स्वीये मूर्धनि दाशार्ह निधित्सुरेव पूर्वं त्वम् । रिपुजनमूर्धनिबर्हं व्यदधाश्चातुर्यमद्भुतं भवतः ॥ ११६० ॥

हे दाशार्ह भगवन्! स्वीये मूर्धनि शीर्षे बर्हं पिञ्छं निधित्सुः निधातुमिच्छुः रिपुजनानां मूर्धनि बर्हं पिञ्छं व्यदधा इति विरोधः। रिपुजनमूर्ध्नां निबर्हं निबर्हणं हिंसनं व्यदधा इति परिहारः। 'बर्ह हिंसायाम्' इति धातोर्निपूर्वकाद्घञ्। 'प्रमापणं निबर्हणम्' इत्यमरः। अत्रान्यत्र न्यसनीयस्य बर्हस्यान्यत्र न्यसनं वर्णितम्। श्लेषोत्तम्भितव्याजस्तुतिसंकीर्णेयमिति विशेषः॥

यथावा—

श्रितजनधामनि सततं धनमतिवेलं तितांसता भवता। अभियातिधामनिधनं माधव समतानि सततमतिवेलम् ॥ ११६१ ॥

श्रितजनानां धामनि गृहे धनं वित्तं तितांसता तनितुमिच्छता। तनोतेस्सन्नन्ताच्छता। भवता अभियातीनां रिपूणां धामनि गृहे धनं वित्तं समतानि व्यस्तारीति विरोधः। अभियातीनां धाम्नां वेश्मनां तेजसां प्रभावानां वा निधनं नाश इति परिहारः॥

यथावा—

संततमसुरव्यूहे संपद्पूर्वां स्थितिं विधित्सुस्त्व-

म् । तामसुराणां व्यूहे तामरसविलोचन व्यधा-
श्चित्रम् ॥ ११६२ ॥

संपदा श्रिया अपूर्वां आश्चर्यावहां स्थितिं मर्यादां । पक्षे समित्याकारकपदं पूर्वं यस्यास्तां स्थितिं संस्थितिं निधनमित्यर्थः । शब्दार्थयोस्तादात्म्यवैभवं न प्रस्मर्तव्यम् । अनयोरप्युदाहरणयोरन्यत्र करणीयस्यान्यत्र करणं द्रष्टव्यम् ॥

तृतीयासंगतिः

कर्तुमन्यत्प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धक्रिया च सा ॥

अन्यत्कार्यं कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकार्यकरणमसंगतेस्तृतीयः प्रकारः ॥

यथा—

विनतामिमां विधित्सुर्जनतां भुव्युत्तमां रमा-
नाथ । विदधास्यनुत्तमामिति विपुलं वितनोति
विस्मयमिदं नः ॥ ११६३ ॥

अनुत्तमां निहीनां पक्षे अविद्यमाना उत्तमा यस्यास्सा इति पञ्चमीबहुव्रीहिः । सर्वोत्तमामित्यर्थः । 'क्लीबे प्रधानं प्रमुख प्रवेकानुत्तमोत्तमाः' इत्यमरः । यद्वा अनुत्ता अनिरस्ता मा लक्ष्मीर्यस्यास्तां केनापि कदाऽप्यनपनोद्यसंपदामित्यर्थः । नुत्तेत्यत्र नुदेः क्तः 'नुदविद' इत्यादिना निष्ठानत्वस्य विकल्पेन विधा

नाम्न 'रदाभ्यां निष्ठातो नः' इति नत्वं 'नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूतविद्धाक्षिप्तेरितास्समाः' इत्यमरः। अत्र विनतजनतामुत्तमां चिकीर्षता भगवता सा अनुत्तमैव कृतेत्यन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकार्यकरणं निबद्धमिति लक्षणसंगतिः। श्लेषदत्तहस्तेयम्॥

यथावा--

**माहाकुलतां प्रथयन्माहाकुलतां धुनोषि शौरे! त्वम्। कालिन्दीं मोदयसे कालिन्दीभेदनेऽनुषक्तोऽपि॥११६४॥**

महाकुलस्यापत्यं पुमान् माहाकुलः 'तस्यापत्यम्' इत्यर्थे 'महाकुलादञ्खञौ' इत्यञ्। 'माहाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः' इत्यमरः। तस्य भावः माहाकुलता तां उत्तमकुलप्रसूततां सज्जनतामित्यर्थः। प्रथयन 'लक्षणहेत्वोः' इति शता। हेतुरिह फलं प्रथयितुमित्यर्थः। माहाकुलतां कुलीनतां धुनोषीति विरोधः माहानां गवां 'उस्रा माहा च शृङ्गिणी' इत्यमरः। आकुलता व्यग्रतां धुनोषीति परिहारः। कालिन्द्याः यमुनायाः भेदने भिदायां भिदेर्भावे ल्युट्, अनुषक्तोऽपि कालिन्दीं यमुनां मोदयसे इति विरोधः। कालिन्दीभेदने बलभद्रे। भिदेः कर्तरि नन्द्यादित्वाल्युः, अनुषक्तोऽपि कालिन्दीं तन्नाम्नीं दिव्यमाहिषीं मोदयसे इति परिहारः। अत्र माहाकुलताप्रख्यापनकालिन्दीभेदनयोः प्रवृत्तस्य माहाकुलताधूननकालिन्दीमोदनलक्षणविरुद्धकार्यकरणं श्लेषोत्तम्भितं निबद्धम्॥

यथावा—

**पुण्यजनान् संत्रातुं पुरुषोत्तम! भुवि कृतावता-**

रोऽपि। पुण्यजनान् ध्वंसयसे पुराचरित्रं तवैतदतिचित्रम् ॥ ११६५॥

पुण्यजनान् धार्मिकान् संत्रातुं पुण्यजनान् ध्वंसयसे इति विरोधः। यातुधानानिति परिहारः। अत्र 'परित्राणाय साधूनाम्' इति गीतोऽर्थोऽनुसंहितः। अत्र पुण्यजनसंत्राणप्रवृत्तस्य तद्ध्वंसनरूपविरुद्धकार्यकरणं श्लेषतो निबद्धम् ॥

यथावा—

द्विषतां विशुशोषयिषुर्जीवनमहिराजगिरिशिखरभास्वन्! । द्रुतमप्सरस्सु यदिमान्निदधाथाद्भुतमितोऽपि किं जगति ॥ ११६६ ॥

जीवनं प्राणनं सलिलं च। अप्सरस्सु स्वर्वेश्यासु अपां सरस्सु च। अत्र द्विषतां जीवनशोषणे प्रवृत्तस्य जलसरस्सु निधानरूपं विरुद्धकार्यमुपवर्णितम्। इयमपि श्लेषसंकीर्णैव ॥

यथावा –

माधुर्यं प्रचिकटयिषुरिक्ष्वाकुकुलेऽखिलेश्वराविरभूः। प्रथयन् बहुमुखकीर्तिं तामेव तनीयसीं बत व्यतनोः ॥ ११६७॥

माधुर्यं मधुररसवत्त्वं प्रचिकटयिषुस्सन् इक्ष्वाकुकुले कटुतुम्बीनिवहे आविरभूरिति विरोधः सर्वलोकप्रियत्वं प्रकटयितुमिच्छुस्तदनुगुणे इक्ष्वाकुमहाराजान्वाये आविरासीरिति परिहारः। 'स्वादुप्रियौ तु मधुरौ' इत्यमरः। 'इक्ष्वाकुः कटुतु-

स्यां स्त्री सूर्यवंश्यनृपे पुमान्’ इति मेदिनी। बहुमुखकीर्तिं विश्वतोमुखं यशः तामेव बहुमुखकीर्तिमेवेति विरोधः। दशाननयश एवेति परिहृतिः ॥

यथावा—

रावणनिकारणान्ननु लङ्कामविभीषणां चिकीर्षुस्त्वम्। सविभीषणामतानीरहो फणिगिरीन्द्र! कोसलेन्द्रत्वे ॥ ११६८॥

निकारणात् निबर्हणात् ‘प्रमापणं निबर्हणं निकारणम्’ इत्यमरः ॥

यथावा—

विश्वामित्रोल्लासं विधातुमिच्छन्महाहवे पूर्वम्। विश्वामित्रनिरासं व्यतनोरतनुप्रभाव दाशरथे! ॥

महाहवे महत्यध्वरे सङ्गरे च ‘आहवौ यागसङ्गरौ’ इति रत्नमाला। विश्वस्य मित्रं विश्वामित्रः कुशिकनन्दनः। ‘मित्रे चर्षौ’ इति विश्वशब्दस्य दीर्घः। तस्य उल्लासं विधातुमिच्छन् विश्वामित्रनिरासं व्यतनोरिति विरोधः। विश्वेषाममित्राणां निरसनमिति परिहारः ॥

यथावा—

भीष्मद्रोणक्ष्वेडाकुलं पृथासुतबलं समाधित्सन्। कृष्णाशृगालितोदनमतनोरतिमात्रमब्जनयन! त्वम् ॥ ११७० ॥

हे अब्जनयन! भीष्माः भयानकाः ये द्रोणाः वृश्चिकाः तेषां क्ष्वेडः गरळं तेन। पक्षे भीष्मद्रोणयोः क्ष्वेडाः सिंहनादाः ताभिः आकुलं 'भीषणे त्रिषु भीष्मस्स्याद्रुद्रगाङ्गेययोस्तु ना। द्रोणः कृपीपतौ काके भेकवृश्चिकयोस्तु ना। क्ष्वेडा वंशशलाकायां सिंहनादेऽपिच स्त्रियाम्। क्ष्वेडो ना पुंसि गरळे' इति च रत्नमाला। पृथासुतानां बलं समाधित्सन् औषधमन्त्रादिना अभयदानादिना च तत्प्रतीकारं विधित्सन्। कृष्णाः नीलवर्णाः आशुगाः शीघ्रगामिनः ये अळयो वृश्चिकविशेषाः 'अलिद्रोणौ तु वृश्चिके' इत्यमरः। पक्षे कृष्णस्य अर्जुनस्य आशुगानां बाणानां आळिः पङ्क्तिः तत्तोदनं तत्करणकव्यथनं अतनोः। अत्र वृश्चिकक्ष्वेडाकुलतासमाधित्सोः तद्विरुद्धकृष्णवृश्चिककरणकव्यथनमुपवर्णितम्॥

यथावा—

कलुषं जगतां हर्तुं जलजेक्षण! दिव्यरूपमेतद्धाः। ललनानां व्रजजनुषां कलुषयसि बतामुनैव हृदयानि॥ ११७१॥

कलुषं वृजिनम्। अमुनैव दिव्यरूपेणैव कलुषयसि वृजिनवन्ति करोषि। कामाविलानि करोषीति वस्तुस्थितिः। 'कलुषं क्लीबेंऽहस्याविले त्रिषु' इति रत्नमाला॥

यथावा—

शकलयितुं लोकानां सकलमरिष्टं तवावतारोऽयम्। अमुनैव समेधयसे रमेश! तेषामरिष्टमिति चित्रम्॥ ११७२॥

अरिष्टं अशुभं। शकलयितुं ध्वंसयितुं। अमुनैव अवतारेणैव। तेषां लोकानां अरिष्टं शुभं 'अरिष्टे तु शुभाशुभे' इत्यमरः। अनयोरपि पद्ययोरुक्तादिशैवासंगतिस्संगमयितव्या॥

इदमन्तिममसंगतिप्रकारद्वयं दीक्षितोपज्ञमेव—

अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा॥
अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन् द्यां तथाऽकृथाः।
गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेदं पुराऽकरोः॥

इति तैरेव लक्षणयोर्लक्ष्ययोश्च कुवलयानन्दे संदर्शितत्वात्॥

अत्र केचित्—'अन्यत्र करणीयस्येत्याद्यसंगतिप्रकारद्वयान्तरकथनमयुक्तं, अपारिजातामित्यत्र पारिजातराहित्यचिकीर्षया कारणभूतया सह पारिजातराहित्यस्य कार्यस्य विरुद्धवैयधिकरण्योपनिन्धनात 'विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः' इति प्राथमिकासंगतितो वैलक्षण्यानुपपत्तेः। आलम्बनाख्यविषयतासंबन्धेन चिकीर्षायास्सामानाधिकरण्येन कार्यमात्रं प्रतिहेतुत्वस्य प्रसिद्धेः। एवं 'गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि' इत्याद्युदाहरणे 'विरुद्धात्कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना' इत्युक्तविभावनाप्रकारेणैव गतार्थत्वादसंगतिभेदान्तरकल्पनाऽनुचिता' इत्याहुः॥

अत्र वदन्ति 'अपारिजाताम्' इत्यस्य न प्राथमिकासंगतावन्तर्भावः। न हि 'विषं जलधरैः पीतं मूर्छिताः पथिकाङ्गनाः' इत्यादाविव कार्यकारणवैयधिकरण्यप्रयुक्तोऽत्र विच्छित्तिविशेषः, येन प्राथमिकासंगतावेवेयमन्तर्भाव्येत। किंतु अन्यत्र करणीयस्य समानकर्तृकस्य कार्यस्यान्यत्र करणप्रयुक्त एव॥

एवं 'गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि' इत्यस्य विरुद्धात्कार्यसंपत्तिरूपविभावनायां नान्तर्भावः। न ह्यत्र 'शीतांशुकिरणास्तन्वीं हन्त

सन्तापयन्ति ताम्' इत्यादाविव निवर्त्यनिवर्तकभावविरोधश्च-मत्कारी, येनोक्तविभावनाविशेषेऽन्तर्भावश्शक्येत वक्तुम् । अ-पितु अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिरूप इति सहृदयहृदय-मेवात्र प्रमाणमिति । विस्तरस्त्वन्यत्र । तस्मादुपदर्शितमसंगति-प्रकारद्वयान्तरमवश्यमेष्टव्यमित्यलं बहुना ॥

एवं 'अन्यत्र स्थितस्यान्यत्रोपलम्भेऽप्यसंगतिर्दृश्यते, इति काव्यदर्पणकारः । तदेदमुदाहरणम्—

श्रुतिशिरसि विचिन्वन्तः प्रतिकलमपि देव-देव! धीमन्तः । व्यालाधीशेलाधरमौलावाश्चर्य-माप्नुवन्ति त्वाम् ॥ ११७३ ॥

इत्यलंकारमणिहारे असंगतिसर एकोनत्रिंशः.

---

## ४०—अथ विषमालंकारसरः.

अनानुरूप्यभाजोर्यद्घटनं विषमं हि तत् ॥

यत्रातिमात्रवैधर्म्यादत्यन्तमननुरूपयोः द्वयोः पदार्थयोर्घ-टनं संबन्धो वर्ण्यते तत्र विषमालंकारः । संबन्धश्च संयोगादि-रुत्पाद्योत्पादकभावश्चेति सर्वप्रकारसाधारणमेतल्लक्षणमिति ध्येय-म् । अत एव हि 'अननुरूपसंसर्गो हि विषमम्' इत्यलंकारसर्वस्व-कारः ॥

यथा —

क्व नु लोकनायकस्त्वं क्व जरद्विरदोऽपि नक्र-

संक्रान्तः। अस्य विपत्त्यपनुत्त्यै त्रस्यन् द्रवसि स्म तव कृपा कियती ॥ ११७४ ॥

अत्र सर्वलोकेश्वरत्वेन तिर्यग्जन्तुत्वेन चाननुरूपयोर्भगवज्जरद्गजयोर्घटनं वर्णितम्। अधिकरणशक्तिप्रधानाभ्यां क्वेत्यव्ययाभ्यामनुचितघटनत्वमाविष्कृतम्। अत्र संबन्धस्संयोगरूपः॥

यथावा—

जडमूर्धन्यः क्वाहं जगदीश! तवानुभूतिभाग्यं क्व। जम्बुककिशोरकः क्व नु जम्भारिपुरीविभूत्यनुभवः क्व ॥ ११७५ ॥

अत्राज्ञमूर्धन्यत्वेन दुष्प्रापतममहापुरुषार्थत्वेन चाननुरूपयोर्भक्तभगवदनुभवयोस्संबन्धः। इदमान्ध्रभाषाप्रसिद्धलोकप्रवादानुकृतिलक्षणलोकोक्त्यलंकाररूपदृष्टान्तालंकारसंकीर्णं, पूर्वं तु शुद्धमिति भिदा॥

यथावा—

केनाप्यकम्पनीया महीयसी श्रीश! तव विभूतिः क्व। फूत्कृतिमात्रविनेया लघीयसी पशुपतेः क्व च विभूतिः ॥ ११७६ ॥

हे श्रीश! इदं संबोधनं विवक्षितविभूतेर्महीयस्त्वाद्यभिप्रायगर्भम्। केनापि ब्रह्मणाऽपीति भावः। अकम्पनीया, तव 'महाविभूतेस्संपूर्णषाड्गुण्यवपुषः प्रभोः' इति महाविभूतित्वेन प्रसिद्धस्येति भावः, महीयसी विभूतिः ऐश्वर्यं क्व, फूत्कृति-

मात्रेण केवलफूत्कारेणैवेति लोकोक्तिरियम् । अल्पीयसा यत्ने-नैवेति भावः । विनेया उट्टङ्कनीया, पशुपतेः—इदं विवक्षितत-द्विभूतिलघीयस्त्वाभिप्रायकम्, न तु तवेव श्रीपतेरिति भावः । लघीयसी विभूतिः ऐश्वर्यं च, रुत्र । भस्मेति च गम्यते । तस्य फूत्कृतिमात्रोट्टङ्कनीयत्वप्रसिद्धेः । न ह्यनयोस्साधर्म्यं कलयाऽपि घटेतेति भावः । अत्र श्रीपतिपशुपतिविभूत्योरनानुरूप्यभाजोर्घ-टनम् । व्यतिरेकपरिकराङ्कुरोपस्कृतामिदम् ॥

यथावा—

**नतपातन एवान्यो नतपावन एव नाथ! स भ-वांस्तु । नारायणगिरिनायक! दूरादिन्धे ततो हि तवभेदः ॥ ११७७ ॥**

अन्वयः त्वादितरो देवः नतपातन एव स्वाश्रितान् संसारे पातयत्येवेत्यर्थः । 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः' इत्यादिना 'ते हि सं-सारगोचराः' इत्युक्तरीत्या स्वयमेव संसारसागरे निमग्नस्स्वा-वलम्बिनो जनान् कथमुन्मज्जयेदिति भावः । सः 'तेषामहं स-मुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' इत्युक्तप्रकारेण प्रसिद्धः भवांस्तु नतपावन एव । 'पावनस्सर्वभूतानां त्वमेव रघुनन्दन' इत्या-द्युक्तरीत्या सर्वाघविध्वंसनपूर्वकमुच्चैर्गतिप्रदातेति भावः । अत एव नारायणगिरिनायक शेषाद्रीश्वर हे नाथ ! ततः नतपातनाद-न्यस्माद्देवात्, तव नतपावनस्य तव भेदः भिदा दूरात् इन्धे अतिशायिततया प्रकाशते । पक्षे—नतपातनः नतपावन इ-त्याभ्यां तौ शब्दावेव गृह्येते । तत इति षष्ठ्यास्सार्वविभक्ति-कस्तसिः । तयोः नतपातननतपावनशब्दयोरित्यर्थः । तवभेदः

त व इति वर्णाभ्यां वैलक्षण्यं दूरादिन्धे। अत्रापि देवतान्तरश्रीनिवासयोरननुरूपयोर्घटनम् ॥

यथावा--

**अशनायातीतोऽनघ! निस्सङ्गः क्वाच्युतस्वरूपस्त्वम्। आद्यूनोऽत्यासङ्गः क्वादित्यस्स्वस्वरूपविभ्रष्टः ॥ ११७८ ॥**

हे अनघ भगवन्! अशनायातीतः अशनायोपलक्षितोर्मिषट्कप्रतिभटः 'अशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' इति श्रुतेः। निस्सङ्गः कर्मसंबन्धगन्धशून्यः। कर्मफलाननुषक्तो वा. 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इति श्रुतेः 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा' इति गानाच्च। अच्युतं अप्रच्युतं स्वरूपं स्वभावो यस्य स तथोक्तः। रामकृष्णाद्यवतारदशास्वप्यजहत्स्वस्वभाव इत्यर्थः।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

इति गानात्।

प्रादुर्भावास्तु सेनेश मदंशत्वाद्विशेषतः।
अजहत्स्वस्वभावा हि दिव्याप्राकृतविग्रहाः ॥
दीपाद्दीपा इवोत्पन्ना जगतो रक्षणाय ते ॥

इति विष्वक्सेनसंहितावचनमप्यत्रैवानुकूलम्। ईदृशः त्वं क्व। आद्यूनः औदरिकः 'आद्यूनस्स्यादौदरिकः' इत्यमरः। उदरम्भरणैकनिरतत्वात्सर्वाशीति भावः। अत्यासङ्गः अतिमात्रकर्मसंबद्धः कर्मफलस्पृहावान्वा। अत एव स्वस्वरूपविभ्रष्टः

तिरोहितज्ञानानन्दादिस्वभाव इति यावत्। आदित्यः क्व युवयो-रौपम्यं दवीय इति भावः। वस्तुतस्तु आदित्यः आदित्यशब्दः आद्यूनः आदि इति वर्णाभ्यां विश्लिष्टः अत्यासङ्गः अविद्य-मानः त्य इत्याकारकवर्णसमुदयसंबन्धो यस्य स तथोक्तस्सन् स्वस्वरूपविभ्रष्टः आदित्येतिसर्ववर्णापाये निश्शोषितस्वप्रकृतिरिति यावत्। शब्दार्थयोस्तादात्म्यं न विस्मर्तव्यम्। अत्रापि भगव-दादित्ययोरनानुरूप्यभाजोर्घटनं श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायनिर्व्यू-ढम्॥

यथावा—

**आदौ दुग्धं मध्ये भिदुरमथेन्दुस्तु दूषितः प-श्चात्। क्वनु तानि जगदधीश्वर! कदाऽप्यदूषितम-हो यशः क्व तव॥ ११७९॥**

हे जगदधीश्वर! दुग्धं क्षीरं आदौ प्रथममेव दूषितमिति लिङ्गविपरिणामेन योज्यम्। अविशदमिति जनैः प्रत्याख्यात-मित्यर्थः। भिदुरं कुलिशं मध्ये मध्यकाले दूषितम्। अथ किंच इन्दुस्तु पश्चात् अन्ते दूषितः। तानि दुग्धादीनि 'नपुंसकमनपुं-सकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इति नपुंसकैकशेषः, क्व। कदाऽ-पि आदिमध्यावसानसमयेषु जात्वपि अदूषितं तव यशः क्व। तेषामस्य च साधर्म्यं न कदाऽपि घटेतेति भावः। पक्षे—दुग्धभिदुरेन्दुशब्दाः आदिमध्यावसानेषु क्रमेण दुवर्णघटिता इत्यर्थः। दुः उषितो यस्मिन् स इति विग्रहः, आहिताग्न्यादेरा-कृतिगणत्वान्निष्ठायाः परनिपातः। यशस्तु यशश्शब्दस्तु कदाऽप्य-दूषितमेव दुवर्णसंबन्धस्यैव तत्राभावात्। अत्र दुग्धादीनां भग-

वद्यशसश्चाननुरूपाणां घटनम् । पूर्वोदाहरणेषु वस्तुसङ्घटनम् । तत्राप्याद्योदाहरणद्वयं शुद्धं, अन्यानि श्लेषादिसंकीर्णानि । अत्र तु दुग्धादीनां यशसश्च तर्कितं घटनं, 'त्वं क तस्या मुखं क' इतिवत् । श्लेषव्यतिरेकसंकीर्णत्वं च विशेषः ॥

यथात्रा—

द्यूतस्थितिमानादौ मध्यम एवान्ततोऽणिमहितश्च । क्व द्युमणिः क्वाधूर्तोऽच्युताश्रितोऽत्युत्तमो महामहिमा ॥ ११८० ॥

आदौ पूर्ववयसि द्यूतस्थितिमान् द्यूतनिरतः । अत एव मध्यम एव उत्तमत्वेनापरिगणित एव सन् अन्ततः चरमवयस्यपि अणिमाहितः अणिमा हितो यस्य स तथोक्तः केवललाघवप्रसक्तः । द्युमणिः भानुः क्व । पक्षे आदौ द्युना द्यु इति वर्णसमुदयेन ऊता स्यूता या स्थितिः तद्वान् । मध्यः मः मवर्णो यस्य स तथोक्तः । अन्ततः अन्ते णिना णिवर्णेन माहितः द्युमणिः द्युमणिशब्दः । आदिमध्यावसानेषूक्तवर्णघटित इत्यर्थः । अधूर्तः अनक्षदेवी अत्युत्तमः महान् महिमा महत्त्वं यस्य स तथोक्तः । अच्युताश्रितः भागवतः क्व । अनयोर्महदन्तरमित्यर्थः । अत्र भानुभागवतयोरननुरूपयोर्घटनम् । श्लेषव्यतिरेकसंकीर्णता घटनस्य तर्कितता च तुल्या ॥

भगवति हरिणि हिरण्मयि भवती क्व पुरस्सुवर्णवद्भाना । इतरा च सुरी क्व नु वा पश्चार्धे रीतिवर्णमाप्तवती ॥ ११८१ ॥

हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयी तस्यास्संबुद्धिः। हे हरिणि सुवर्णप्रतिमे! प्रचुरहिरण्ये हरितवर्णे इति वस्तुस्थितिः। 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीप्। तत्संनियोगेन नः। ततो णत्वं च 'हरिणी स्यान्मृगी हेमप्रतिमा हरिता च या' इत्यमरः। हरिणीरूपधारिणीति वा। 'श्रीर्धृत्वा हरिणीरूपमरण्ये विचचार ह' इति पुराणादिति विद्यारण्यभाष्यम्। अत्र 'हिरण्यवर्णां हरिणीम्, चन्द्रां हिरण्मयीम्' इति श्रुतिस्स्मर्तव्या। हे भगवति! भवती ईदृशी त्वं क्व। पुरः पूर्वकाय एव न तु सर्वस्मिन्विग्रहे सुवर्णवद्भाना सुवर्णवत् हेमतुल्यं न तु हेमत्वेनैव भानं प्रकाशो यस्यास्सा तथोक्ता, पश्चार्धे अपरभागे पृष्ठभागे इत्यर्थः। 'अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः' इत्यपरशब्दस्य पश्चभावः। रीतिवर्णं रीतिः पित्तलापरपर्यायमारकूटं 'रीतिस्स्त्रियामारकूटम्' इत्यमरः। तस्याः वर्णं आप्तवती। न तु पित्तलमयी वा। इतरा अन्या सुरी देवस्त्री सरस्वती पार्वती शच्यादिश्च क्व वा। तव तस्याश्च रूपलावण्यवैभवादौ महदन्तरमिति भावः। वस्तुतस्तु—सुरी सुरीशब्दः पुरः आदौ सुवर्णमस्यास्तीति सुवर्णवत् भानं प्रकाशो यस्यास्सा प्रथमं सु इत्याकारकाक्षरघटितेति यावत्। पश्चार्धे अपरस्मिन्नर्धे। सुरीशब्दस्य वर्णद्वयात्मकत्वात्प्रथमस्य वर्णस्य पूर्वार्धत्वं द्वितीयस्योत्तरार्धत्वमिति ध्येयम्। रीतिवर्णं री इत्याकारकमक्षरं आप्तवती प्राप्तेत्यर्थः। अत्र भगवत्याश्श्रियः अन्यदेवललनायाश्चाननुरूपयोर्घटनं। अन्यत्सर्वं पूर्ववत्॥

यथावा—

एकोऽपि न मम सुगुणो नाथ प्रत्युत गुणत्रि-

**तयबद्धः । ईशीय वशयितुं कथमनन्तगुणवशितसकललोकं त्वाम् ॥ ११८२ ॥**

हे नाथ! मम एकोऽपि सुगुणः बन्धनपूर्वकवशीकरणसाधनभूता द्रढीयसी रज्जुः। 'रज्जुस्त्रिषु वटीगुणे' इत्यमरः। न नास्ति। सत्यार्जवदयादिरात्मगुणो नास्तीति वस्तुस्थितिः। नैतावदेव, प्रत्युत उक्तवैपरीत्येन 'प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये' इति गणव्याख्याने। अहमेव गुणात्रितयेन रज्जुत्रयेण सत्त्वरजस्तमोरूपेण च प्राकृतगुणत्रयेण बद्धः अस्मीति शेषः। अनन्तैः असंख्याकैः गुणैः रज्जुभिः सौशील्यादिभिः कल्याणगुणैश्च वशितलोकं स्वायत्तीकृताखिलभुवनं त्वां वशयितुं कथमीशीय। अत्र कविभगवतोरननुरूपयोर्घटनं क्वशब्दाभ्यां विनैव दर्शितमिति विशेषः। अन्यत्सर्वं प्राग्वदेव॥

यथावा—

**सुहृदच्युत दुर्हृदा परमपदज्ञैरुदश्चयते तुल्यम्। तेषु कथं द्वावपि तौ निपातयन् गण्यतां पदज्ञमुनिः ॥ ११८३ ॥**

हे अच्युत! पद्यते प्राप्यत इति पदं, परमं च तत्पदं च परमपदं परब्रह्मस्वरूपं,

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।

इति,

समस्तहेयरहितं विष्णवाख्यं परमं पदम्।

इत्यादिप्रमाणात्। तत् जानन्तीति तथोक्ताः। तैः परब्रह्मवेदिभिः। पक्षे परमाः श्रेष्ठाः पदज्ञाः वैयाकरणाः तैः। सुहृत्

दुर्हृद्वा अनुकूलः प्रतिकूलो वा उदञ्चयते संसारसागरादुद्ध्रियते। 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' इत्युक्तलक्षणानां तेषां मित्रामित्रविभागवैषम्यगन्धोऽपि न संभवतीति भावः। तेषु एवंप्रकारेषु परमपदज्ञेषु तौ सुहृद्दुर्हृदौ द्वावपि निपातयन् भवाब्धौ निमज्जयन्। पक्षे सुहृद्दुर्हृच्छब्दौ निपातयन् 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति सूत्रेण निपातयन्। निपातनं नाम लक्षणाभावे शब्दसाधुत्वाय स्वरूपेणोच्चारणम्। पदज्ञः केवलं तत्तत्प्राकृतवस्तुवेदी मुनिः। पक्षे केवलपदज्ञः न तु परमपदज्ञः शब्दशास्त्रदर्शी मुनिः पाणिनिरित्यर्थः। क्व परब्रह्मवेत्तारः क्व चायं केवलशाब्दिको मुनिरिति भावः। अत्र ब्रह्मविदां पाणिनेश्चाननुरूपाणां घटनं क्वशब्दमन्तरेणैव दर्शितं पूर्ववदेव। तुल्ययोगितादिसंकीर्णत्वं विशेषः। अत्र केनापीत्याद्युदाहरणेषु यथासंभवं गम्यमानं घटनाविशेषमादाय लक्षणानुगतिर्बोध्या॥

---

## द्वितीयविषमम्.

### विलक्षणस्य कार्यस्योत्पत्तिं च विषमं विदुः॥

कारणरूपाविजातीयरूपशालिकार्योत्पत्तिरपि विषममित्यर्थः॥

यथा—

दलितेन्दीवरसुन्दरललिततमा तावकावयवसुषमा। मेधां मयि प्रसूते वैधात्रवधूसुधांशुरुचिविशदाम्॥ ११८४॥

अत्र 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायवि-

स्वा श्यामाद्विशदोत्पत्तिर्वर्णिता। अत्रोत्पत्तिलक्षणसंसर्गस्यानुरूपता। अभेदाध्यवसानलक्षणेनातिशयेन समवायिकारणरूपतया स्थिते निमित्तकारणे समवेतकार्यरूपतया स्थिते निमित्तकार्ये वा विषय्यंशमादाय स्फुरितो विरोधो विषयांशविमर्शोत्तरं विनिवर्तत इतीहाप्यभेदाध्यवसानस्यानुप्राणयितृत्वं तदुत्तम्भितविरोधाभासस्य च परिपोषकत्वम्। अयमेव चांशोऽत्र कविप्रतिभोन्मेषितत्वादलंकारताबीजम्। तेन 'गोमयाद्वृश्चिका जायन्ते' इत्यादौ कार्यकारणयोर्वैरूप्यसंभवेऽपि नालंकारत्वं, तस्य वास्तवत्वेन कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वाभावादित्यलंकारदर्शननिष्णातानां पन्थाः। कार्यकारणयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावे पञ्चमी विभावना। विलक्षणगुणशालित्वे त्वयं विषमप्रभेद इति कुवलयानन्दे स्थितम्॥

यथावा—

शशिविशदात्क्षीरोदात्कठिनतराद्वा मदम्ब धरणितलात्। कथमाविरभूद्भवती कनकपिशङ्गी शिरीषमृदुलाङ्गी ॥ ११८५ ॥

अत्र विशदतरात्कठिनतराच्च कारणात्पिशङ्गकोमलरूपविजातीयकार्योत्पत्तिः। इदं वक्ष्यमाणयथासङ्ख्यसंकीर्णम्॥

यथावा—

जाता जगदीश्वर ते चरणाज्जलजारुणाज्झरी हरिणा। स्वक्षीरपूरपातॄन् सूते कृष्णाकृतीनियं चित्रम्॥ ११८६ ॥

हरिणा पाण्डुरवर्णा 'हरिणः पाण्डुरः' इत्यमरः। क्षीरी गङ्गा। क्षीरं जलं दुग्धं च। कृष्णाकृतीन् श्यामलाकारान् प्राप्तभगवत्सारूप्यानिति तु वस्तुस्थितिः। अत्रापि कारणगुणप्रक्रमविरुद्धादरुणाद्धवळोत्पत्तिः धवलाच्छ्यामलोत्पत्तिश्च वर्णिता। इदं मालारूपवक्ष्यमाणैकावळीपरिष्कृतं श्लेषोत्तम्भितं चेति विशेषः॥

केचित्तु—कारणक्रियातो विरुद्धक्रियस्य कार्यस्योत्पत्तावपि विषमप्रभेदं मन्वानाः

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः॥

इति लक्षयित्वा

त्वमामोदयसे लोकांस्त्वत्तेजस्तापयत्यरीन्।

इति द्वितीयप्रभेदमुदाहार्षुः। तन्मते इदमुदाहरणम्, यथा—

**अमृतं प्रसवितुरब्धेरमृतांशुमपि त्वमम्ब जनिताऽसि। परमाद्भुतमेतन्नः प्रासूथाः कर्दमं कथं त्वमिति॥ ११८७॥**

हे अम्ब! अमृतं अमृतांशुमपि प्रसूतवतोऽब्धेः त्वं जनिता असि। त्वं ईदृशीति भावः। कर्दमं पङ्कं कथं प्रासूथा इति विरोधः, कर्दमाख्यं पुत्रमिति परिहारः। 'कर्दमेन प्रजा भूताः' इति श्रुतेः। अत्रामृतामृतांशुजननक्रियावतो जलधेः कारणात् कर्दमजननक्रियाशालिलक्ष्मीरूपकार्योत्पत्तिर्वर्णिता। श्लेषोपस्कृतमिदम्॥

यथावा—

**नरकनिराकरणचणप्रगुणश्रीरमणचरणजा ध-**

रणिः । नरकं वक्रं च सुतं प्रासोष्ट न कस्य वि-
स्मयायेदम् ॥ ११८८ ॥

नरकस्य निरयस्य निराकरणेन वित्तौ निराकरणचणौ 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चणप्प्रत्ययः । प्रगुणौ अवक्रौ प्रकृष्टमार्दवादिगुणशालिनौ च 'ऋजावजिह्मप्रगुणौ' इत्यमरः । यौ श्रीरमणचरणौ ताभ्यां जाता 'पद्भ्यां भूमिः' इति श्रुतेः । धरणिः नरकं निरयं वक्रं कुटिलं च सुतं प्रासोष्टेति विरोधः । नरकाख्यं दानवं अङ्गारकं च प्रासोष्टेति वस्तुस्थितिः । 'नरकः पुंसि निरयदेवारातिप्रभेदयोः, वक्रौ भौमेऽनृजौ त्रिषु' इति मेदिनीरत्नमाले । अत्र नरकानिराकरणक्रियावतः आर्जवगुणशालिनश्च भगवच्चरणात्कारणाज्जाताया धरण्या नरकरूपसुतजननक्रियावैशिष्ट्यं वक्रत्वरूपगुणविशिष्टसुतप्रसूतिश्च वर्णिते इति पूर्वस्माद्विच्छित्तिविशेषः ॥

समाधानगर्भमपीदं विषमं दृश्यत इति विश्वेश्वरादयः । तत्रोदाहरणं यथा—

स्वाहारसमं सूते सुतं प्रसूरिति वचो हरे न
मृषा । शिशिराऽपि त्वद्दृष्टिर्यदसौद्भवतापकवळना-
त्तपनम् ॥ ११८९ ॥

हे हरे ! प्रसूः माता स्वाहारसमं स्वाभ्यवहृतवस्त्वनुरूपगुणं सुतं सूते इति वचः न मृषा सत्यमेव । यत् यस्मात् कारणात् त्वद्दृष्टिः दृक् स्वयं शिशिराऽपि भवस्य संसृतिसंस्बन्धिनां तापानां संतापानां आध्यात्मिकादीनामिति तु तत्त्वं,

कबळनात् ग्रसनात् अपनयनादिति तु तत्त्वम्। तपनं तापशालिनं आहारानुरूपमिति भावः। असौत् प्रासूत 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' इति धातोर्लङ्। यद्यपि 'प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम्' इत्युक्तं, तथाऽपि 'मातः कद्रु यदि प्रसौति भवती भूयस्सुतानीदृशान्' इति मुरार्यादिप्रयोगदर्शनात् गर्भविमोचनार्थकताऽप्यस्य प्रसिध्यतीत्यविरोधः॥

यथावा—

तव नयनं ननु भास्वानुदारवृन्दारकं सुतं सूताम्। कथमेष कपिमसावीदा विदितं कपिरिति श्रुतो ह्येषः॥ ११९०॥

ननु भगवन्! तव नयनं नेत्रभूतः भास्वान् भानुः। अनेन तेजस्वित्वमुक्तम्। उदारश्चासौ वृन्दारकश्च महारूपवन्तं उत्तमं देवं वा। पक्षे वदान्यमुख्यं कर्णमित्यर्थः 'उदारो दातृमहतोः, वृन्दारकौ रूपिमुख्यौ' इति चामरः। सुतं सूतां जनयतु। महातेजस्विनो भानोस्तादृशसुतप्रसूतिरनुरूपैवेति भावः। एषः ईदृश एव भास्वान् कपिं तिर्यञ्चं जातिवृत्तरूपादिभिरतिनिहीनमिति भावः। सुग्रीवमिति वस्तुस्थितिः। कथं असावीत् प्रासूत। सौतेर्लुङ्। अतिमात्रविसदृशप्रसूतिर्विरुद्धेति प्रश्नः। समाधत्ते—आ इति। आ इति स्मरणार्थकमव्ययं, 'आ प्रगृह्यः स्मृतौ' इत्यमरः। विदितं इदानीं स्मृतमित्यर्थः। हि यस्मात् एषः भास्वानेव कपिरिति श्रुतः श्रुतिप्रतिपादितः। तस्मात्कपिमसावीदिति कार्यकारणसारूप्यपरिचिन्तनेन समाधानं 'कपिर्बभस्ति तेजनम्, इति श्रुतिर्भानुं कपिशब्दवाच्यं ब्रूते। कं जलं

पिबतीति कपिरितिव्युत्पत्तेः। अत एव 'कप्यासम्' इति पद-विवरणावसरे 'कापिस्त्वादित्यः कं पिबति किरणैः' इति वरदगुरवः। 'कपयोऽर्कैभवानराः' इति रत्नमाला। अत्रोभयत्रापि समाधानगर्भं विषमम्। प्रथमे गुणविरोधस्य प्रयोजकान्तराधीनं समाधानं, द्वितीये क्रियाविरोधस्य कारणे कार्यधर्मकल्पनाधीनं समाधानमिति विशेषः॥

---

## तृतीयविषमम्.

### इष्टार्थोद्योगतोऽनिष्टावाप्तिश्च विषमं मतम्॥

अनिष्टावाप्तिरित्यत्र न इष्टावाप्तिरितीष्टावाप्तिशब्देन नञ्समासः। इष्टानवाप्तिरित्यर्थः। अन्यश्च न इष्टमनिष्टमितीष्टशब्देन नञ्समासः। अनिष्टस्यानर्थस्यावाप्तिरित्यर्थः। उक्तमर्थद्वयमप्यावृत्तिलभ्यम्। ततश्चाभीष्टार्थमुद्दिश्य किंचित्कार्यमारब्धवत इष्टानवाप्त्यनिष्टावाप्ती मिळिते एको भेदः, केवलेष्टानवाप्तिः केवलानिष्टावाप्तिश्चेति प्रत्येकं भेदद्वयमिति त्रयो भेदास्संगृहीता भवन्ति। इष्टार्थश्च—स्वस्य किंचित्सुखसाधनार्थावाप्तिः दुःखसाधनानर्थनिवृत्तिश्च, परस्य दुःखसाधनानर्थप्रापणं सुखसाधनार्थनिवृत्तिश्चेति चतुर्विधः। तेन इष्टानवाप्तिघटिते भेदद्वितयेऽपि चातुर्विध्यम्। अनिष्टश्च—स्वस्य दुःखसाधनानर्थप्राप्तिः, परस्य सुखसाधनार्थप्राप्तिः, दुःखसाधनानर्थनाशश्चेति त्रिविधः। स्वस्येष्टप्राप्तिस्तु गणितेति नानिष्टे गण्यते। तेनानिष्टावाप्तिघटिते भेदद्वितयेऽपि त्रैविध्यम्॥

उदाहरणानि—तत्र स्वसुखसाधनार्थावाप्तिरूपेष्टार्थोद्योगादिष्टानवाप्तौ दुःखसाधनरूपानिष्टप्रतिलम्भे च यथा—

रामं सलक्ष्मणं प्राक्प्राप्ता रक्षस्स्वसा वृषस्यन्ती । तन्मध्ये व्यग्राऽभूद्विग्रा नव्यं मुखे विकारमिता ॥ ११९१ ॥

रक्षस्स्वसा शूर्पणखा वृषस्यंती कामुकी सती 'अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि' 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' इति वृषशब्दात्क्यच्यसुक् । 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः । सलक्ष्मणं रामं प्राप्ता । तयोः रामलक्ष्मणयोर्मध्ये व्यग्रा तत्परिहासवचनैराकुला । ततस्साहसप्रवृत्त्या विग्रा विगता नासिका यस्यास्सेति बहुव्रीहौ 'वेग्रो वक्तव्यः' इति विशब्दोत्तरस्य नासिकाशब्दस्य ग्रादेशः । 'विग्रो विगतनासिकः' इत्यमरः । लक्ष्मणेन च्छिन्ननासिकेति भावः । अत एव मुखे वदने नव्यं अपूर्वं विकारं विकृतिं इता प्राप्ता अभूत् । इणः कर्तरि क्तः । अत्र व्यग्रेतिशब्दः मुखे आदौ नव्यं नविद्यमानो व्य इति वर्णसमुदयो यस्मिन् कर्मणि तद्यथास्यात्तथा । नञ्शब्देन समासः । विकारं तत्रैव वि इत्याकारकं वर्णं इता सती विग्राऽभूदिति योजना । विग्रेति निष्पन्नेत्यर्थश्चमत्कारी । अत्र सलक्ष्मणं राममुपभोगसुखसाधनरूपस्वेष्टसिद्ध्यर्थमुपसर्पन्त्याश्शूर्पणखाया न केवलं तदलाभः अपितु नासिकाच्छेदरूपदुःखसाधनानर्थावाप्तिश्च निबद्धेति लक्षणंसगतिः । अत्रेष्टसाधनतया निश्चितात्कारणादनिष्टकार्यावाप्त्या उत्पत्तिलक्षणसंसर्गस्यानानुरूप्यम् । एवमुत्तरत्रापि ॥

यथावा—

त्वद्वज्रकण्ठिकाश्रियमीप्सुस्सौदामनी मुखेऽ-

भिहता । भूत्वाऽसौ रमणीमणि कमले पशुक-
ण्ठबन्धयोग्याऽऽसीत् ॥ ११९२ ॥

हे रमणीमणि कमले! असौ तेजस्वितया प्रत्यक्षदृश्या सौदामनी विद्युत् सुदाम्ना अद्रिणा एकदिगिति विग्रहे 'तेनैकदिक्' इति प्राग्दीव्यतीये अणि 'अन्' इति नकारस्य प्रकृतिभावे 'टिड्ढाण्' इति ङीप्। त्वद्वज्रकण्ठिकायाः श्रियं तद्वद्दीप्यमानतयाऽजस्रं त्वत्कण्ठावस्थानसौभाग्यमिति भावः। ईप्सुः आप्तुमिच्छुस्सती अत एव मुखे वदने अभिहता प्रहृता भूत्वेति लोकोक्तिः। स्वस्वरूपदुर्लभोत्कर्षलिप्सुतया तया त्वद्वज्रकण्ठिकया मुखोपरिकृतप्रहारेति भावः। पक्षे सौदामनीशब्दव्यक्तिः मुखे प्रथमभागे अभिहता। असौरमणीत्यत्र असौः रमणीतिच्छेदः। 'रो रि' इति रेफलोपः। अत एव असौः अविद्यमानः सौ इत्याकारकवर्णो यस्यास्सा तथोक्ता भूत्वा। सौकारापनयने दामनीति निष्पन्नेति भावः। नौरितिवदयं शब्दः। पशुकण्ठबन्धनयोग्याऽऽसीत् 'पशुरज्जुस्तु दामनी' इत्यमरः। दामैव दामनी। स्वार्थिके अणि प्रकृतिभावङीपौ प्राग्वत्। अत्र सौदामन्याः लक्ष्मीकण्ठाभरणश्रीलाभरूपेष्टसाधनार्थमुद्युञ्जानाया न तदलाभमात्रं किन्त्वतिनिहीनपशुकण्ठबन्धनार्हरज्जुतावाप्तिलक्षणोत्कटानिष्टलाभो वर्णितः॥

यथावा—

इष्टार्थलाभलोभादुपसर्पन्त्या व्रजेन्दुवदनायाः।
सद्यस्तनलाभेप्सुर्नीवीमपि शौरिरकृत बत शिथि-
लाम् ॥ ११९३ ॥

शौरिः इष्टः अर्थस्य धनस्य लाभः अधिकफलं 'लाभोऽधिकं फलम्' इत्यमरः। तस्मिन् लोभात्। पक्षे अभीप्सितोपभोगरूपप्रयोजनलाभलोभादित्यर्थः। उपसर्पन्त्याः समीपमायान्त्याः व्रजेन्दुवदनायाः नीवीमपि परिपणमपि; पक्षे कटिवसनबन्धमपि 'स्त्रीकटीवस्त्रबन्धेऽपि नीवी परिपणेऽपि च' इत्यमरः। परिपणं मूलधनं 'नीवी परिपणं मूलधनम्' इत्यनुशासनात्। शिथिलां नश्वरीं। पक्षे विस्रस्तां। अकृत। बतेति खेदे। तत्र हेतुः सद्यस्तनलाभेप्सुरिति। तादात्विकस्वलाभेप्सुरेवायं न त्वन्ययोगक्षेमचिन्तक इति भावः। तत्क्षणवक्षोजपरिरम्भेच्छुरिति वास्तवार्थः। अत्राधिकधनलाभार्थिन्या व्रजविलासिन्या मा भूत्तदवाप्तिः किंतु स्वलाभमात्रेप्सुना शौरिणा तन्मूलधनमपि शिथिलितमित्यनिष्टप्रतिलम्भश्च वर्णितः। उपपादितार्थद्वयश्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायजीवातुकोऽयं विषमोपन्यास इति ध्येयम्॥

यथावा—

**अहमपि विधुरिति मधुरिपुसधर्मतायै निबद्धविस्पर्धः। विधुतोऽमुनाऽन्ततोऽभूत् ग्लौरलसत्तामवाप्य गौरेव॥ ११९४॥**

पूर्वार्धं स्पष्टार्थम्। ग्लौः मृगाङ्कः अमुना मधुरिपुणा विधुतः तिरस्कृतः अत एव अलसत्तां लसतो भावः लसत्ता न लसत्ता अलसत्ता तां अप्रकाशमानतां। यद्वा अलसः मन्दः स इवाचरतीत्यलसन् तस्य भावः अलसत्ता तां आलस्यमित्यर्थः। अवाप्य मन्दो भूत्वेत्यर्थः। अन्ततः पर्यवसाने गौः पशुरेव अभूत्। न तु भगवत्सधर्मेति भावः। पक्षे ग्लौशब्दः

अन्ततः मध्ये 'अन्तोऽस्त्री निश्चये नाशे स्वरूपेऽग्रेऽन्तिकेऽन्तरे' इति रत्नमाला । गकारौकारयोरन्तराळे इति भावः । विधुतः उत्सारितवर्ण इति यावत् । अत एव अलसत्तां लस्य लवर्णस्य सत्ता स्थितिः न लसत्ता अलसत्ता लवर्णस्थित्यभावं प्राप्य गौरेव गौरिति शब्द एवाभूत् । उक्तरीत्या लकारोत्सारणे तथा निष्पत्तेरिति भावः । अत्रापीष्टानवाप्त्यनिष्टप्राप्ती पूर्ववत् ॥

यथावा—

लतिकास्त्वत्तनुतुलनाकुतुकादभ्येत्य जननि तद्विधुताः । मुखवर्णविपर्यासात्तिलका भूत्वा वनान्तभुवमगमन् ॥ ११९५॥

हे जननि! अल्पाः लताः लतिकाः, अल्पार्थे विहितेन कना लतानामतिसौकुमार्यं व्यञ्जितम् । त्वत्तनुलतातुलनाकुतुकात् अभ्येत्य अभिमुखमागत्य तद्विधुताः त्वत्तन्वा न्यक्कृताः अत एव मुखवर्णस्य वदनशोभायाः विपर्यासात् पराभवलक्षणवैवर्ण्यादित्यर्थः । पक्षे मुखवर्णयोः आदिमाक्षरयोः ल ति इत्येतयोः वैपरीत्यात् प्रातिलोम्यात् तिलकाः वृक्षविशेषाः भूत्वा 'तिलकः क्षुरकः' इत्यमरः । अनेन लतावस्थावस्थितसौकुमार्यस्यापि हानिर्द्योत्यते । पक्षे उक्तरीत्या लतिकाशब्दस्तिलका इति निष्पन्न इत्यभिप्रायः । वनान्तभुवं अगमन् कस्यापि वदनं दर्शयितुमनीशानाः क्वापि गहनान्तरे न्यलीयन्तेति भावः । सर्वं पूर्ववत् ॥

यथावा—

हरिनन्दकधुततेजास्स्वरुर्विधून्वन् शिरस्स्व-

मथ रोषात् । अभवत्संमुख एत्य स्थितोऽपि पुनरप्यधः कृतस्तेन ॥ ११९६ ॥

स्वरुः दम्भोळिः हरिनन्दकजिगीषुरिति भावः । हरेः भगवतः नन्दकेन तन्नाम्ना खड्गेन धुततेजाः अत एव स्वं शिरो विधून्वन्निति क्रोधानुभावोक्तिः । अथ तत्क्षणमेव रोषात् संमुखे अग्रभागे एत्य स्थितोऽपि द्वंद्वयुद्धार्थमिति भावः । तेन नन्दकेन पुनरपि अधःकृतः न्यक्कृतः अभवत् । सर्वथाऽपि नाजैषीत् किंतु पराभूत एवासीदिति भावः । पक्षे स्वरुः स्वरुशब्दः शिरः अग्रभागावस्थितामिति यावत् । स्वं स्वेत्याकारकं वर्णसमुदयं विधून्वन् । त्यजन् सन् अभवत्संमुख इत्यत्र अभवत् त्संमुखे इति च्छेदः । अभवत् संमुखे इतिच्छेदपक्षे तकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वम् । मुखे अग्रभागे त्सं त्सेत्याकारकवर्णसमुदयं एत्य स्थितोऽपि त्सरुर्भूत्वा स्थितोपि स्वरुशब्दे मुखगतस्ववर्णलोपे तत्रैव त्सवर्णन्यसने त्सरुरिति निष्पत्तेरिति भावः । तेन नन्दकेन अधःकृतः मुष्टेः खड्गाधोभागावस्थानादिति भावः । 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः । अत्र स्वरोर्नन्दकजयरूपेष्टालाभः अधःकृतत्वरूपोत्कटानिष्टप्रतिलम्भश्च श्लेषेण निबद्धः । शब्दार्थयोस्तादात्म्यवैभवमीदृशस्थलेषु न विस्मर्तव्यम् ॥

यथावा—

लक्ष्म्या कुचकोकतुलाप्रेप्सुस्स्तबको बको बभूवास्तः । इष्टानवाप्त्यनिष्टप्राप्ती खलु सूनभागिनो नियते ॥ ११९७ ॥

लक्ष्म्या श्रिया कुचकोकस्य स्वकुचचक्रवाकस्य तुलां प्रे

ष्सुः स्तवकः प्रशस्तकुसुमगुच्छः अस्तः निरस्तस्सन् 'नुत्त-नुन्नास्तनिष्ठ्यूतविद्धाक्षिप्तेरितास्समाः' इत्यमरः । वकः बभूव कोकसाम्यप्रेप्सया यतमानो निरस्तः कह्वाख्यो निहीनः खगोऽभूत् न तूत्तमश्रीकुचकोकसदृश इति भावः । किंच वकः शिवमल्ली बभूव लक्ष्म्या निरस्तः पाशुपताख्यपुष्पतरुविशेषो बभूवेत्यप्यर्थो गम्यते । 'शिवमल्ली पाशुपत एकाष्ठीलो वको वसुः । इत्यमरः । 'वकस्तु वकपुष्पे स्यात्कह्वे श्रीदे च रक्षसि' इति मेदिनी च । लक्ष्मीनिरस्तस्य पाशुपतमतप्रवेशो युक्त एवेति भावः । पक्षे स्तवकः स्तवकशब्दः अस्तः अविद्यमानस्तवर्णः वको बभूव । भागो भागधेयं 'भागो रूपार्थके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः' इति विश्वः 'भागिनं भजते सुखम्' इति प्रयोगश्च । सूनः सुष्ठु ऊनः भागः सोऽस्यास्तीति सूनभागी तस्य अतिमात्रनिहीनभाग्यस्येत्यर्थः । पक्षे भजतीति भागी 'संपृचानुरुध' इत्यादिना भजतेर्घिनुण् 'चजोः कु घिण्यतोः' इति कुत्वम् । सूनानां कुसुमानां भागी तस्य पुष्पभाज इत्यर्थः । सुगममन्यत् । अत्रापीष्टानवाप्तचनिष्टप्रतिलम्भौ पूर्ववदेव । अर्थान्तरन्यासशिरस्कश्लेषसंकीर्णता तु विशेषः ॥

यथावा—

**तव वर्णमुपजिहीर्षुर्माधव मध्ये स्ववर्णविभ्रष्टः । वकवृत्तिमेव लब्ध्वा बलाहको नाश्रयते स्म वाचाऽपि ॥ ११९८ ॥**

हे माधव ! बलाहकः वारिवाहकः बलाहकशब्दश्च तव वर्णं अपजिहीर्षुः अत एव मध्ये अन्तरैव स्ववर्णात् विभ्रष्टः । पक्षे मध्ये स्ववर्णाभ्यां ला ह इत्येताभ्यां विभ्रष्टः । लाहौ इत्येतौ वर्णौ विभ्रष्टौ यस्येति वा । वकवृत्तिमेव—

अधोदृष्टिर्नैकृतिकस्स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च स वकव्रतिको द्विजः ॥

इत्युक्तप्रकारां वकवृत्तिमेव यद्वा स्वाभीप्सितालाभाद्वकवत्तूष्णीं स्थितिमित्यर्थः । कह्वाख्यखगत्वमेव वा । पक्षे व क इति वर्णयोः स्थितिमेव लब्ध्वा वलाहकशब्दो लाहवर्णयोरपाये वकवर्णयोरेव स्थितिं भजत इति भावः । वाचाऽपि नाश्चयते स 'हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' इत्युक्तरीत्या वाङ्मात्रेणाप्यार्चितो नासीदित्यर्थः । यद्वा वकस्य तिर्यक्त्वान्मनुष्यार्हवागवाप्तिर्नासीदेवेति भावः । अत्र वलाहकस्य न भगवद्वर्णापहाररूपेष्टानवाप्तिमात्रं अपितु स्ववर्णभ्रंशाद्युत्तरोत्तरोत्कटानिष्टोपलम्भश्च वर्णितः ॥

यथावा—

श्रीस्तनसाम्यं प्रेप्सुः कुलाचलो निश्चितः कुलालोऽभूत् । तत्सदृशा इति कलशानपि विदधानः किमीप्सितं लब्धा ॥ ११९९ ॥

कुलाचलः निश्चितस्सन् कर्तरिक्तः कुलालः कुम्भकारः अभूत् । पक्षे कुलाचलशब्दः निर्गतः चकारो यस्य सः निश्चः निश्चः कृतो निश्चितः कुलालः अभूत् । अत्रापि श्रीस्तनसाम्यरूपेष्टानवाप्तिपूर्वकं कुलाचलस्य कुलालत्वरूपानिष्टप्रतिलम्भः ॥

यथावा—

कलभस्तव गतिविभवं सुलभं मत्वा त्वया प्रतिस्पर्धी । अलभत कशाभिघाताच्छलभत्वं हन्त वृषभाशिखरिविभो ॥ १२०० ॥

कशायाः 'अश्वादेस्ताडनी कशा' इत्यमरः, अभिघातात्। पक्षे शेन शवर्णेन अभिघातः विलोपनं 'साधनं कृता' इति समासः। कस्य कवर्णस्य शाभिघातः तस्मात् ककारमपनीय शकारन्यसनादिति यावत्। कलभः शलभत्वं पतङ्गत्वं कलभशब्दश्शलभशब्दत्वं च ॥

यथावा—

फणिगिरिनायकभामिनि तावकतनुसौकुमार्यहरणेच्छम्। कश्याहतेश्शिरीषं करीषभूतं जगज्जननि जातम् ॥१२०१॥

हरणे इच्छा यस्य तत् हरणेच्छं, शिरीषस्य विकारः पुष्पं शिरीषं 'छ्रिहीनं प्रसवे सर्वे' इति क्लीबता। कशामर्हतीति कश्या अर्हार्थे 'दण्डादिभ्यो यः' इति यः। कशाप्रहारानुगुणतैक्ष्ण्येति यावत्। तादृश्या आहतेः 'कश्यः कशार्हे' इत्यमरः। पक्षे ककारेण शिवर्णस्याहतेः शिवर्णस्थाने ककारन्निवेशादिति यावत्। करीषभूतं शुष्कगोमयवदातिपरुषभूतम्, पक्षे करीषमितिपदं जातं 'तद्धि शुष्कं करीषोऽस्त्री' इत्यमरः। अत्र शिरीषस्य श्रीतनुसौकुमार्यलाभरूपेष्टप्राप्तिर्माभूत, प्रत्युत नैसर्गिकस्वसौकुमार्यप्रतीपकार्कश्यरूपानिष्टलाभश्च जात इति ध्येयम् ॥

यथावा—

तपनस्य शरीरं त्वत्तपनीयविमानदीप्तिमादित्सु। अशकतयाऽऽदित एव हि करीरमासीत्सरीसृपगिरीन्दो ॥ १२०२ ॥

हे सरीसृपगिरीन्दो! तपनस्य भानोः शरीरं वपुः शरीरपदं च । त्वत्तपनीयविमानदीप्तिं आदित्सु आदातुमिच्छामात्रं कृतवत् सत् आदितः प्रथमत एव अशकतया अशक्ततया । शक्नोतीति शकं पचाद्यच् । ततो नञ्समासः ततस्तल् । पक्षे-अशः अविद्यमानशवर्णः कः ककारो यस्मिंस्तत् तस्य भावः तत्ता तया । शकारलोपेन तत्रैव ककारप्राप्त्येत्यर्थः । करीरं वंशाङ्कुरः आसीत् तद्वन्नीलमासीत् । निस्तेजस्कमभूदिति भावः। पक्षे करीरमिति निष्पन्नमभूदित्यर्थः । 'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमरः । अत्र भानोश्शरीरस्य श्रीनिवासकनकविमानदीप्त्युपादित्सारूपेष्टालाभः करीरत्वरूपानिष्टोपलम्भश्च ॥

यथावा—

चक्रस्त्वत्कुचताप्तयै कमपि भजन्नन्तराप्यवैलोम्यम् । क्रकचस्सन्परमुद्भवमेत्याग्रे भवति वक्रकच एव ॥ १२०३ ॥

हे श्रीरित्यध्याहृत्य संबोधनम् । चक्रः कोकः त्वत्कुचताप्तयै तावकस्तनजन्मलब्धये अन्तः मनसि कंचिद्देवं स्वप्रीतिदं भानुं वा। 'मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः' इत्यमरः। भजन्नपीति योजना उपासीनोऽपीत्यर्थः। वैलोम्यं विलोमत्वं 'वृत्तौ चालोमशौ स्तनौ' इत्युक्तसुलक्षणस्तनत्वार्हमरोमशत्वं आप्य अपीत्येतदत्राप्यनुषज्यते । तावन्मात्रं प्राप्यापि क्रकचस्सन् करपत्रं भूत्वा अरोमशत्वेन करपत्रजन्म लब्धवानितिभावः। अग्रे अनन्तरं अन्यं उद्भवं जन्म 'जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः एत्य अलोमशतया क्रकचजन्मलब्ध्वाऽपि स्वेष्टार्थसिद्धेर्जन्मान्तरं प्राप्यापीत्यर्थः । वक्रकच एव वक्रकेश एव भवति न तु स्तनजन्म लब्धवानिति भावः ।

वक्रश्चासौ कचश्चेति विग्रहः। पक्षे चक्रशब्दः वैलोम्यं प्रतिलोमवर्णत्वं आप्य अन्तः मध्ये कमपि कवर्णमपि भजन् ककच इति निष्पन्नः। अथ अग्रे कवर्णादप्यादौ परं अतिशयितं यथा स्यात्तथा। उद्भवं उद्गता भा यस्य तं तथोक्तं उद्भूततया भासमानमित्यर्थः। वं वकारं एत्य वक्रकच इति निष्पद्यत इत्यर्थः॥

यथावा—

**विकलङ्कः कोऽपि खगस्तव वाहत्वेप्सुरविरभूदग्रे। अनुकलमथ विकृतिवशात् खगेन्द्रवाहन बभूव कलविङ्कः॥ १२०४॥**

हे खगेन्द्रवाहन! भगवन्! इदं प्रकृतविवक्षितार्थोपस्कारकम्। विकलङ्कः हेतुगर्भमिदं, विकलङ्कत्वाद्धेतोः कोऽपि खगः कशब्दवाच्यो भानुरपि। यद्वा कः खगो विकलङ्कोऽपीति योजना। ईदृशस्यापि विवक्षितेष्टासिद्धिराश्चर्यैति भावः। 'मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः, इत्यमरः। कोऽपि खगः यःकश्चिदज्ञातनामा पक्षीत्यर्थोऽप्युपस्कार्यः। 'शरार्कविहगाः खगाः' इत्यमरः। तव वाहत्वं वाहनत्वं खगेन्द्रत्वमिति भावः। ईप्सुः आप्तुमिच्छुः, इच्छा स्वायत्ता न तु फलप्राप्तिरिति भावः। अग्रे आदौ अविः मेषः मूषको वा अभूत्। वस्तुतस्तु अविः अविशब्दवाच्यः तेजोरूपो वा तव भवनं वा अभूत्। तन्मण्डलान्तस्स्थितत्वात्तवेति भावः। 'अविर्ना पर्वते सूर्ये मेषे मूषककम्बळे। प्राकारे भवने भासि स्त्री तु पुष्पवतीभुवोः' इति रत्नमाला। 'मूषककम्बळे' इत्यत्र आखौ कम्बळे चेत्यर्थः इति 'अवयश्शैलमेषार्काः' इत्यमरश्लोकव्याख्यानावसरे दशटीकासर्वस्वकारादयः। पक्षे अग्रे आदौ अविः विकारशून्यः त्यक्तविवर्ण इत्यर्थः। अभूत्। अथ अनन्तरं अनु-

कलं प्रतिक्षणं विक्रातिवशात् उत्तरोत्तरविलक्षणविकारावाप्तिवशात्। पक्षे कलौ ककारलकारौ तयोः पश्चात् अनुकलं 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना पश्चादर्थेऽव्ययीभावः। विक्रातवशात् वेः वि इत्यकारकवर्णस्य क्रातिः करणं न्यसनमिति यावत्। तद्वशात् कलविङ्कः खगः चटकाख्यः पक्षी अभूत्। विकलङ्कशब्द उक्तरीत्या प्राथमिकवर्णोत्सारणेन ककारलकारानन्तरं विवर्णन्यसनेन च कलविङ्क इति निष्पन्न इति निर्गळितोऽर्थः। अत्र विकलङ्कखगस्य न परमभीष्टभगवद्वाहनतानवाप्तिः अपितु मूषकत्वाद्युत्कटानिष्टप्रतिलम्भश्च शब्दार्थतादात्म्यनिबन्धनश्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायजीवातुक इति विभावनीयम्॥

यथावा -

तव रुचिलिप्सु परास्तं ध्वस्तसुवर्णं कुसुम्भमम्ब ततः। क्लैब्यं विहाय पुंस्त्व भजतु तथाऽपि स्तनेन जीयेत॥ १२०५॥

हे अम्ब! कुसुम्भं महारजनं कनकं वा। पक्षे कुसुम्भमिति पदं 'कुसुम्भं हेमनि महारजने ना कमण्डलौ' इति मेदिनी। महारजनं कुङ्कुमकुसुममित्याहुः। तव रुचिं त्विषं लिप्सु अतएव परास्तं त्वद्रुचा निरस्तं अत एव ध्वस्तः सुवर्णः शोभनस्वकीयवर्णः सु इत्याकारकवर्णश्च यस्य तत्तथोक्तं सत्। ततः ईदृशावस्थावाप्त्यनन्तरं क्लैब्यं अधृष्टतां नपुंसकलिङ्गतां च विहाय पुंस्त्वं पौरुषं भजतु कलशः करिकुम्भो वा जायताम्। पक्षे पुंलिङ्गत्वं भजतु। सु इति वर्णोत्सारणेन कुम्भ इति पुल्लिङ्गो निष्पद्यतामिति भावः। कुम्भशब्दो हि 'कुम्भौ घटेभमूर्धांनौ' इति पुंस्त्वेनानुशिष्टः। तथाऽपि तवेत्येतदनुषज्यते। तव स्तनेन

स्वतस्सिद्धपुंस्त्वेनेति भावः। एकवचनस्य एकेनैव सुकरे जये न द्वाभ्यामपि सन्नद्धव्यमित्यभिप्रायः। जीयेत अभिभूयेत। जयतेरत्राभिभवार्थकत्वात्सकर्मकता। तदुक्तं हरिणा—

जयिर्जयाभिभवयोराद्यर्थेऽसावकर्मकः।
उत्कर्षप्राप्तिराद्यार्थो द्वितीयेऽर्थे सकर्मकः॥

इति। अत्र कुसुम्भस्य न स्वेप्सितालाभमात्रं अपितु रूपान्तरग्रहणेऽप्यवर्जनीयोऽनिष्टप्रतिलम्भश्च निबद्धः॥

यथावा—

इष्टत्वद्वदनतुलाऽनाप्तयाऽऽद्यन्तक्षरः क्षपाकर एषः। क्षेत्रं परमपि विन्दन् क्षपाकरः पाकरसहितोऽम्ब प्राणीत्॥ १२०६॥

हे अम्ब! एषः क्षपाकरः चन्द्रमाः क्षपाकरशब्दश्च। इष्टा स्वाभिलषिता या त्वद्वदनतुला तस्याः अनाप्त्या आद्यन्तावभिव्याप्य आद्यन्तं आपादमस्तकं आजन्मनिधनं वा क्षरः क्षीणस्सन् आद्यन्तयोः शुक्लप्रतिपदमावास्ययोः क्षरः क्षीण इति च। पक्षे आद्यन्तौ क्षरौ क्षकाररेफौ यस्य स तथोक्तः परं अन्यत् क्षेत्रं शरीरं उत्तमं सिद्धस्थानं वा 'क्षेत्रं शरीरे केदारे सिद्धस्थानकळत्रयोः' इति मेदिनी। कमपि भगवदभिव्यक्तिक्षेत्रमित्यर्थः। विन्दन्नपि। पक्षे क्षे त्रं इति भिन्नं पदं क्षे परं त्रमिति योजना। क्षे परं क्षकारमात्रे त्रं विन्दन् क्षकारस्थाने त्रेतिवर्णसमुदायं प्राप्नुवन्नित्यर्थः। त्रपाकरः लज्जाश्रित एव पाकरसेन हितः भोक्तृभ्यस्सौहित्यरूपहितकारी माहनसिकस्सन्निति भावः। प्राणीत् अजीवत्। पक्षे त्रपाकर इति निष्पन्नः पाकर इति वर्ण

सहितः क्षकारमात्रे वर्णान्तरं प्राप्तोऽपि पाकर इति वर्णानुपूर्व्यामविकृत एव सत्तामलभतेत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववदेव इष्ठानवाप्त्यनिष्टप्राप्ती ॥

यथावा—

सुरमान्विताऽपि हरिमुखभवस्मितात्प्रेप्सुरुत्तमं वर्णम् । लोपितभूयोवर्णाऽसुरमा भिल्लयेव सुरभिमल्ल्यासीत् ॥ १२०७ ॥

सुरभिमल्ली वसन्तसंबन्धिमाल्लिकाकुसुमम् । सुरभिसंबन्धित्वकथनान्मल्लिकाया वर्णसौरभाद्यतिशयः प्रत्याय्यते । सुरभिः मनोज्ञा मल्ली मल्लानाम खुरळीखेलनपरा जातिविशेषाः, तज्जातिस्त्रीत्यप्यर्थोऽनुसन्धेयः । पक्षे सुरभिमल्लीशब्दश्च । तयोस्तादात्म्यम् । शोभना च सा रमा श्रीः तयाऽन्विताऽपि । सुराणां मा लक्ष्मीः तदन्विताऽपीति वा । अपिशब्देन तावता अपर्याप्तत्वं गम्यते। हरेः भगवतः मुखभवं यत् स्मितं तस्मादपि स्मितवर्णादपीति यावत् । स्मितस्य मुखभवेति विशेषणेन ब्राह्मणवर्णत्वं गम्यते। उत्तमं वर्णं प्रेप्सुः । तेनेति शेषः स्मितेनेत्यर्थः । लोपितः भूयान् वर्णो नैसर्गिको यस्याःसा तथोक्ता। अत एव असुरमा सुष्ठु रमत इति सुरमा पचाद्यच् । ततो नञ्तत्पुरुषः हर्षविरहितेति यावत् । भिल्ली किराती आसीत् मल्लजातेरपि निहिनजातिरभूदिति भाव । मल्ली भिल्लीत्युभयत्रापि जातिलक्षणो ङीष् । पक्षे लोपिताः भूयांसो वर्णाः अक्षराणि यस्याःसा 'छिन्नभूयिष्ठधूमा' इत्यादावल्पावशिष्टधूमेत्यादिवत् अल्पावशेषिताक्षरेति भावः । लुप्तान्वर्णानेव दर्शयति—असुरमेति । सु र

मेति वर्णत्रितयविधुरा अतएव भिल्लीति आसीत्। सुरभिमल्ली-शब्दे सुरमेति वर्णावलीलोपे भिल्लीति वर्णद्वयस्यैव पारिशेष्यादिति भावः। अत्र सुरभिमल्ल्याः भगवद्वदनस्मितादप्यधिकवर्णलिप्सारूपेष्टालाभः स्ववर्णभ्रंशाद्यनिष्टप्रतिलम्भश्च शब्दार्थतादात्म्याबलम्बिश्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायसाम्राज्येन निर्व्यूढः ॥

यथावा—

त्वद्गतिमीप्सुश्चौर्यादणकोऽच्युत वारणोऽन्तरासन्नः। वानरतामापापररूपाप्तया तदनु वान एवाभूत् ॥ १२०८ ॥

हे अच्युत! वारणः गजः वारणशब्दश्च चौर्यात् त्वद्गतिं ईप्सुः अत एव अणकः गर्ह्यः 'खेटगर्ह्याणकास्समाः' इत्यमरः। पक्षे अविद्यमानणकारस्सन् अन्तरा इच्छाचौर्ययोर्मध्य एव सन्नः विशीर्णः सदेर्विशरणार्थकात्कर्तरि क्तः। 'रदाभ्यां' इति निष्ठातस्य पूर्वदकारस्य च नत्वम्। पक्षे अन्तरा णकारापगमानन्तरमवशिष्टवार इति वर्णद्वितय मध्ये सन् विद्यमानः नः नकारो यस्य स तथोक्तस्सन् वानरतां प्लवगतां वानरशब्दतां च आप प्राप्तवान्। तदनु अपररूपस्य ततोऽपि निहीनरूपस्य आप्तया। पक्षे अपरं अपगतरेफं यद्रूपं तस्य आप्तया। रेफोत्सारणेनेति यावत्। वान एव शुष्क एव अभूत्। 'वानश्शुष्कफले शुष्के सीवने गमने कटे' इति हेमचन्द्रः। पक्षे वानशब्दः अभूत्। अत्र वारणस्य भगवद्गतिस्तेयरूपेष्टानवाप्तिः अणकत्वाद्यनिष्टप्रतिलम्भश्च निबद्धः ॥

यथावा—

नीलाम्बर भगवंस्तव चेलाकारं परं परिप्रेप्सुः।

विनयन्नप्यात्मानं वनराशिः प्रान्ततो वराशिरभूत् ॥१२०१॥

हे नीलाम्बर बलभद्र भगवन्! 'नीलाम्बरो रौहिणेयः' इत्यमरः। वनराशिः जलधिः वनराशिशब्दश्च। परं उत्कृष्टं तव चेलाकारं वसनस्य नीलरूपं तत्तुल्यतामित्यर्थः। परिप्रेप्सुः अत एव आत्मानं स्वं विनयन्नपि तद्रूपग्रहणयोग्यतार्थं शिक्षयन्नपि। पक्षे विनं कुर्वन्विनयन् विगतनकारं कुर्वन् सन् प्रान्ततः पर्यवसाने वराशिः स्थूलपटः 'वराशिः स्थूलशाटकः' इत्यमरः। अभूत् अन्यत्र वराशिरिति निष्पन्न इत्यर्थः। अत्र भगवद्बलभद्रदिव्यांशुकरूपलक्षणेष्टालाभः स्थूलपटत्वरूपानिष्टप्रतिलम्भश्च वनराशेर्वर्णितः॥

यथावा—

भुव इव तवाप्यनन्त प्राप्तुं यदंशुकत्वमुद्युङ्क्ते। आद्याकारह्रासाद्वाराशिस्स्याद्वराशिरेव तदा॥

हे अनन्त! उल्लङ्घितत्रिविधपरिच्छेद भगवन्! वाराशिः जलधिः भुव इव परिच्छिन्नया भूमेरिव तत्रापि अपरिच्छिन्नस्य भवतोऽपि अंशुकत्वं सूक्ष्माम्बरत्वं 'अंशुकं श्लक्ष्णवस्त्रे स्याद्वस्त्रमात्रोत्तरीययोः' इति मेदिनी। प्राप्तुं यदि उद्युङ्क्ते तदा आद्याकारस्य प्राथमिकस्वस्वरूपस्यापि ह्रासात् संकोचात् वराशिः स्थूलपट एव स्यात् न तु सूक्ष्मश्लाघ्यतमभवाद्दिव्यांशुकमिति भावः। वाराशिशब्दः प्राथमिकस्य आवर्णस्य ह्रस्वत्वाद्वराशिरिति निष्पन्न इति वस्तुस्थितिः। अत्रापि पूर्ववदेव विषमम् संभावनसंकीर्णत्वं विशेषः॥

यथावा—

द्विजजनिभुवमच्युत तव वदनं द्विजराजताम-
दात्पूर्णेन्दुः। वशयितुमिच्छुः क्रमशो मलिनात्मा-
ऽविप्रभामुपाजीवदहो ॥ १२११ ॥

हे अच्युत! पूर्णेन्दुः द्विजराजतामदात् अहं ब्राह्मणानां राजेति गर्वात् 'सोम एव नो राजेत्याहुर्ब्राह्मणीः प्रजाः' इति श्रुतेः। द्विजजनिभुवं ब्राह्मणोत्पत्तिस्थानं 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इति श्रुतेः। तव वदनमपि वशयितुं स्ववशे विधातुं इच्छन् सन् क्रमशः क्रमेण मलिनात्मा ईदृशसंकल्पेन पापिष्ठस्सन्, असितपक्षे कलापचयेन निष्प्रभशरीर इति वस्तुस्थितिः। अविप्रस्य अब्राह्मणस्य शूद्रस्य भां वर्चः, स्वस्य ब्राह्मणराजताप्रख्यापनाय तज्जनिस्थानभूतभगवन्मुखवशीकरणप्रवृत्तस्स्वयमेवाब्राह्मणतामवापेत्यर्थः। पक्षे अवेः भानोः तेजः उपाजीवत् उपजीव्यत्वेनाभ्युपैदित्यर्थः। दर्शे चन्द्रमसः रविसंबन्धस्य तद्दत्ततेजस्त्वस्य च श्रुत्यादिप्रसिद्धत्वात्। आहुश्च ज्योतिर्विदः—'सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्छितास्तमो नैशम्। क्षपयन्ति' इति। अत्रापीष्टानवाप्त्यनिष्टप्राप्ती स्पष्टे॥

यथावा—

यशसा मराळिका तव विजिताऽमाळिर्भव-
न्त्यथ कथंचित्। राका सती स्मितरुचाऽन्ततोऽ-
म्ब कारास्थिता ह्यवाङ्मूर्धा ॥ १२१२ ॥

हे अम्ब! मराळिका हंसी त्वद्यशस्साम्यमभिलषन्तीति भावः। तव यशसा विजिता सती अत एव अमाळिः अमा-

वास्यायास्सखी भवन्ती सती 'आळिस्सखी' इत्यमरः। मालिना भवन्तीति यावत्। पक्षे अमा आळिः इति च्छेदः। मकारळिकाराभ्यां शून्या सतीत्यर्थः। अथ कथंचित् महता प्रयत्नेन। पक्षे मकाराळिकारत्यागक्लेशेनेत्यर्थः। राका पूर्णनिशाकरपूर्णिमा सती वैशद्यं संपादितवतीति यावत्। मराळिकेति शब्दव्यक्तिः त्यक्तमकारळिकारत्वेन राकेति निष्पन्नेत्यर्थः। तव विजितेत्येतत्पदद्वयमप्यनुषज्यते। तव स्मितरुचा तदवस्थालोकनजनितमन्दहासत्विषा विजिता सती अन्ततः पर्यवसानदशायां अवाङ्मूर्धा अधःकृतशिरास्सत्यपि कारास्थिता बन्धनालयस्था। हीत्यवधारणे। अभूत् उक्तदुरवस्थामेवाप्नोत् न तु स्वाभीष्टमिति भावः। पक्षे अवशिष्टा राकेति शब्दव्यक्तिर्विलोमत्वे कारेति निष्पन्नाऽभूदित्यर्थः। अत्र मराळिकायास्सर्वथाऽपि श्रीयशास्स्मितरुचिसाम्यरूपेष्टालाभः मालिन्याद्यनिष्टावाप्तिश्च शब्दार्थतादात्म्यमूलकश्लेषावलम्बिनी॥

यथावा—

**त्वत्कचकलापलक्ष्म्या स्वकलापच्युतिमुपेत्य वचनीयः। कनकगिरीशविलासिनि कपीशतामश्नुते कलापीशः॥ १२१३॥**

हे कनकगिरीशविलासिनि! कनकगिरिः वेङ्कटाद्रिः। कलापीशः मयूरवरेण्यः त्वत्कचकलापलक्ष्मीप्रेप्सुरिति भावः। अत एव त्वत्कचकलापलक्ष्म्या हेतुभूतया स्वकलापस्य स्वबर्हस्य च्युतिं हानिं एत्य वचनीयः स्वकनीयस्त्वमविगणय्य महनीयरमाकचकलापतौल्यलिप्सुस्स्वकलापस्यैव हानिमवाप्य लोकैर्गर्ह-

णीयस्स्यान्निति भावः । कपीशतां कीशोत्तमतां अश्नुते स्वाभीष्टालाभानिष्टाभ्यागमाभ्यां आकुलमनाः कपिवदतिमात्रचपलो भवतीति भावः । अन्यत्र कलापीशशब्दः स्वकस्य स्वकीयस्य लावर्णस्य अपच्युतिं प्रच्यवनं एत्य वचनीयः वक्तुमर्हश्चेत् कपीश इति निष्पद्यत इत्यर्थः ॥

यथावा—

त्वत्फालरुचा ध्वस्ता विकलाऽच्युत विधुकला कमपि वर्णम् । अप्राप्तागतपूर्वाकारा तत आविला समजनिष्ट ॥ १२१४ ॥

हे अच्युत! विधुकला चन्द्रकला त्वत्फालविडम्बनेच्छुरिति भावः । त्वत्फालरुचा त्वदीयललाटसुषमया ध्वस्ता पराभूता अत एव विकला अवयववैकल्यं प्राप्ता कमपि यं कंचिदपि वर्णं रूपं अप्राप्ता नैतावदेव गतपूर्वाकारा ध्वस्तप्राचीनस्ववर्णा सती ततः आविला अनच्छा समजनिष्ट 'कलुषोऽनच्छ आविलः' इत्यमरः । पक्षे विधुकलेति शब्दव्यक्तिः अर्थगतस्य स्त्रीत्वस्य शब्द आरोप इत्यसकृदवोचाम । ध्वस्ता धुः अस्तः निरस्तः यस्यास्सा तथोक्ता निरस्तधुवर्णा सतीत्यर्थः । विकला विकलेति निष्पन्ना सती कमपि क इत्याकारकवर्णमपि अप्राप्ता विगतककारेति यावत् । आगतपूर्वाकारा आगतः अधिगतः पूर्वः सर्ववर्णेभ्यः प्रथमः आकारः आ इति वर्णः यस्यास्सा तथोक्ता सती आविला समजनिष्ट । विधुकलाशब्दो धुवर्णलोपे विकलेति निष्पन्नः ततः ककारलोपे आदावाकारप्राप्तौ चाविलेति निष्पन्न इति निर्गळितोऽर्थः । अत्रापीष्टावाप्त्यनिष्टप्राप्ती स्पष्टे ॥

यथावा—

इक्षुरसोऽम्ब त्वद्वाग्रसदूरधुतस्सदासतां बिभ्रत्। कमपि भजन्नन्तेऽभूदिक्षुरको नास्स मधुपभोग्योऽपि ॥ १२१५ ॥

हे अम्ब! सः स्वादुत्वेन जगद्विदितः इक्षुरसः रसालासव इति यावत्। त्वद्वाग्रसादप्युत्कर्षेप्सुरिति भावः। त्वद्वाग्रसेन दूरधुतः अत एव दासतां किंकरतां बिभ्रदपि अन्ते अनन्तरं कमपि भजन् ब्रह्माणमुपासीनोऽपि इक्षुरकः क्षुद्रकण्टाकिवृक्षविशेष एवाभूत् न तु त्वद्वाग्रसादुत्कृष्टः। अत एव मधुपानां शीधुपातॄणां मधुकराणामिति च। भोग्योऽपि नास्स नासीत्। आसेति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्। 'मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते' इत्युक्तेरिति भावः। पक्षे इक्षुरसशब्दः सदा असतां अविद्यमानसकारतां बिभ्रत् ध्वस्तसकार इत्यर्थः। अन्ते अवसाने कं कवर्णमपि भजन् प्राप्नुवन् सन् इक्षुरक इति निष्पन्न इत्यर्थः। अत्रेक्षुरसस्य इष्टानवाप्तिरनिष्टप्राप्तिलम्भश्च स्पष्ट एव॥

यथावा—

स्वरतोऽम्ब वल्लकी तव धुता तुलयितुं वचांसि कीरीभावम्। यान्त्येव वल्लरीत्वं याता सुकुमारतापराभूताऽभूत् ॥ १२१६ ॥

हे अम्ब! वल्लकी वीणा त्वत्स्वरतुलनेच्छुरिति भावः। तव स्वरतः कण्ठस्वरेण धुता सती तव वचांसि तुलयितुं कीरीभावं शुकीभावं यान्त्येव गच्छन्त्येव वल्लरीत्वं कुसुममञ्जरीत्वं याता। कीरीभावावाप्त्यवसर एव वल्लरी बभूवेत्यर्थः।

अथ सुकुमारतया सौकुमार्येण पराभूता अभूत्। पक्षे वल्लकी-शब्दः कीरीभावं कीवर्णस्य रीवर्णत्वं कीवर्णापनयनेन रीवर्णन्यसनामित्यर्थः। यान्त्येव सती वल्लरीति निष्पन्नेत्यर्थः। अत्र वल्लक्या ईप्सितालाभः अनिष्टपरंपरावाप्तिश्च द्रष्टव्या॥

यथावा—

नारायण तव कीर्तिभिरैरावत एव भग्नमुखवर्णः। वलतेत्रपावलीढः पारावततामवाप्य वनसीम्नि॥ १२१७॥

भग्नः मुखवर्णः वदनतेजः आदिवर्णश्च यस्य स तथोक्तः। अत एव त्रपया लज्जया अवलीढः। पक्षे अत्र पावलीढः इति च्छेदः अत्र निरस्तमुखवर्णस्थाने पावलीढः पावर्णेन युक्तः पारावततां कपोततां तद्वद्धूम्रवर्णतामिति यावत्। पक्षे पारावतशब्दतामित्यर्थः। स्पष्टमन्यत्। अत्रापि भगवत्कीर्तितौल्येप्सोरैरावतस्य इष्टालाभानिष्टप्राप्ती वर्णिते॥

यथावा—

भ्रष्टस्वाद्याकारस्त्वद्गाम्भीर्येप्सुरथ धुतोऽकूपारः। आपद्यासारत्वं श्रीपरिवृढ कूपमात्ररूपमवाप॥ १२१८॥

हे श्रीपरिवृढ! अकूपारः सिन्धुः त्वद्गाम्भीर्येप्सुः अत एव धुतः त्वयेति शेषः। अत एव भ्रष्टः स्वस्य आद्यः प्राथमिकः आकारो रूपं गाम्भीर्यादिकं यस्य स तथोक्तः। भ्रष्टः स्वाद्यः रुच्यः आकारो यस्येति च। अत एव असारत्वं विबलत्वं नी-

रसत्वं च आपद्य प्राप्य कूपः प्रमाणमस्य कूपमात्रं तत्तुल्य-प्रमाणमित्यर्थः। तादृशं च तत् रूपं अवाप। अगभीर आसी-दिति भावः। पक्षे अकूपारशब्दः भ्रष्टः स्वस्य आद्यः प्राथ-मिकः अकारः अ इति वर्णो यस्य स तथोक्तः। द्वितीयाकार-व्यावृत्त्यर्थमाद्याकार इत्युक्तम्। असारतां आश्च रश्च आरौ ताभ्यां सह वर्तत इति सारः न सारः असारः तस्य भावः तत्ता तां आकाररेफरूपव्यञ्जनविहीनतामित्यर्थः। आपद्य कूपावेव कूपमात्रं तथोक्तं रूपं अवाप। आद्याकारस्य पकारोत्तराकार-रेफव्यञ्जनयोश्चापायेन कूप इति वर्णद्वयमात्रावशेषितं रूपमल-भतेत्यर्थः। अत्रापि पूर्ववदेव विषममनुसन्धेयम्॥

यथावा—

कलभाधीशस्स्वकरे त्वदूरुभेप्सुस्त्वया कृतो विकलः। भाधीशोऽप्यस्तु ततश्चरणेन नखेन वा समः किं स्यात्॥ १२१९॥

हे भगवन्! कलभाधीशः गजराजः स्वकरे त्वदूर्वोः भां ईप्सुः अत एव त्वया विकलः निस्तेजाः रलयोरभेदात् विकरः शुण्डाविधुर इति वा कृतः। ततः भाधीशः भानां आद्न्तोऽयं भाशब्दः भासामित्यर्थः, अधीशः सहस्रांशुः भानां ताराणां अधीशः चन्द्रमाः अपिवा अस्तु। तत इत्यावर्त्यते। ततः एवं भणनादपि चरणेन तवाङ्घ्रिणा नखेन वा समः स्यात् किम्। भानुत्वेऽप्यारुण्याच्चरणतुल्यः इन्दुत्वेऽपि विशदिमादिना नखतुल्यो वा न स्यादिति भावः। अन्यत्र कलभाधीशशब्दः ककारलकारविधुरितः भाधीश इति निष्पद्यत इत्यर्थः। पूर्वव द्विषमम्॥

यथावा—

त्वद्वचनरसधुतत्वाद्व्यपयातायाऽवसत्तिमत्स्वा-
न्ता। सा मृद्वीका स्वामिनि कामं स्यान्मृत्तिकैव
को विशय:॥ १२२०॥

हे स्वामिनि! या मृद्वीका द्राक्षा 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा' इत्यमरः। त्वद्वचनरसलिप्सुरिति भावः। त्वद्वचनरसेन धुतत्वात् व्यपयाता दूरं क्वापि गता सती अवसत्तिः अवसादः सोऽस्यास्तीति अवसत्तिमत् स्वान्तं हृदयं यस्यास्तथाभूता आभूदिति शेषः दीनमानसाऽभूदित्यर्थः। सा मृद्वीका कामं मृत्तिकैव स्यात् मृदाकारतामेवापद्येत। तद्वन्नीरसा संपद्येतेति भावः। पक्षे धुतत्वाद्व्यपयातेत्यत्र धुतत्वात् द्व्यपयातेति च्छेदः। धुतत्वात् व्यपयातेति प्राथमिकच्छेदपक्षे दकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वं, याऽवसत्तिमत्स्वान्तेत्यत्र या अवसत् त्तिमत्स्वान्तेति च्छेदः। या मृद्वीकेति शब्दव्यक्तिः द्व्यपयाता द्वी इत्याकारकवर्णादपगता। द्वी इत्याकारकवर्णः अपयातो यस्या इति वा। उत्सारितद्वीवर्णेत्यर्थः। त्तिः द्वित्वघटितस्तिकारः सोऽस्यास्तीति त्तिमान् स्वान्तः स्वान्तरं यस्यास्सा तथोक्ता सती अवसत् अवात्सीत्। अस्मिन् पक्षे अवसत्तिमदित्यत्र तकारत्रये 'झरो झरि सवर्णे' इति द्वितीयतकारस्य लोपे अर्थद्वयेऽपि द्वितकारत्वं द्रष्टव्यम्। 'अन्तोऽस्त्री निश्चये नाशे स्वरूपेऽग्रेऽन्तिकेऽन्तरे' इति रत्नमाला। मृत्तिकैव स्यात् उक्तरीत्या मृत्तिकेति निष्पद्येतेत्यर्थः। अत्र मृद्वीकाया न परं श्रीवचनरसालाभः अपितु मृत्तिकात्वरूपोत्कटानिष्टप्राप्तिः।

यथावा—

दिवमेत्य शचीपतिरिति नहुषोऽभिख्यातिलि-
प्स एवाथ। शप्तोऽभिख्याहीनः पाराङ्मुख्या-
च्छ्रियस्तिलिप्सोऽभूत् ॥ १२२१ ॥

नहुषः प्रसिद्धः दिवं स्वर्गं एत्य ऐन्द्रं पदमासाद्येति यावत्। शचीपतिरिति अभिख्यातौ लिप्सा यस्य स तथाभूतस्सन्नेव। अथ ईदृशसंकल्पानुपदमेव श्रियः लक्ष्म्याः पाराङ्मुख्यात् शप्तः मुनिनेति शेषः। अभिख्याहीनः तेजोविधुरः तिलिप्सः अजगरः अभूत्। यद्यपि 'अथ गोनसे। तिलिप्सस्स्यात्' इत्यनुशासनात् गोनसाख्यमहाहिविशेषवाच्येव तिलिप्सशब्दः, न त्वजगरवाची 'अजगरे शयुर्वाहस इत्युभौ' इत्यनुशासनात्। तथाऽपि तयोर्गोनसाजगरयोर्ग्राहनक्रयोरिव यत्किंचिद्वैलक्षण्यानादरेणाभेदः कविसमयासिद्ध इति ध्येयम्। तिलिप्सशब्दं तिलित्स इति केचित्पठन्ति। अस्माभिस्तु तिलिप्स इति प्रचुरपाठमनुसृत्यायं विच्छित्तिविशेषः प्रदर्शितः। 'तिल गतौ' तेलतीति तिलिः 'इक्कृष्यादिभ्यः' इति इक् जङ्गमं वस्तु। तं प्साति भक्षयतीति तिलिप्सः। 'प्सा भक्षणे' आदादिकादस्मात् 'आतोऽनुपसर्गे' इति कः। यद्वा 'तिल स्नेहने' तुदादिः तिलनं तिलिः, तेन प्सातीति तथोक्तः। यथाकथंचिदर्थप्रदर्शनमिदम्। नात्रावयवार्थे विशेषतोऽभिनिवेष्टव्यं रूढशब्दत्वादस्य। अत्र नहुषस्य शचीपतित्वख्यातिलाभलक्षणेष्टानवाप्तिपूर्वकाजगरत्वरूपाद्यनिष्टलाभो निबद्धः। पक्षे अभिख्यातिलिप्सशब्दः अभिख्येति वर्णपङ्क्तेर्विरहे तिलिप्स इत्यवशिष्यत इत्यर्थः॥

यथावा—

ननु मेचकीबुभूषुस्तव बहुधामापहरणतः कोऽपि खगः । पापस्सन्पेचकतामाप गतः कृष्ण हन्त विशदांशुकताम् ॥ १२२२ ॥

ननु हे कृष्ण! इदं वक्ष्यमाणार्थोपस्कारकम् । विशदां स्फुटां शुकतां कीरत्वं गतः प्राप्तः कोऽपि खगः शुक इत्यर्थः । बहु यथास्यात्तथा मेचकीबुभूषुः स्वकीयहरितवर्णस्य नातीवमेचकत्वादतिश्यामलीभवितुमिच्छुरित्यभिप्रायः । यद्वा विशदाः अंशवो यस्य स तथोक्तः, कप्, पाण्डुरवर्ण इत्यर्थः । तत्तां गतः प्राप्तः कोपि खगः हंस इति भावः । मेचकीबुभूषुः असितीभवितुमिच्छुः । अभूततद्भावे च्विः । पक्षे मेचकाः चन्द्रकाः अस्य सन्तीति मेचकी मयूरः बुभूषुः 'मेचकस्तु मयूरस्य चन्द्रके श्यामले पुमान् । तद्युक्ते वाच्यवत् क्लीबं स्रोतोऽञ्जनान्धकारयोः' इति मेदिनी । 'मेचकश्चन्द्रके ध्वान्ते नीले ना तद्वति त्रिषु' इति रत्नमाला च । तव धाम्नः त्विषः नीलिम्न इत्यर्थः । अपहरणतः अपहाराद्धेतोः पापः पातकी सन् 'अथ त्रिषु द्रव्ये पापपुण्यसुखादि च, इत्यमरः । पेचकतां उलूकतां आप हन्तेति विषादे । वस्तुतस्तु कोपि खगशब्दः बहुधा मेचकीबुभूषुः मेचकशब्दो भवितुमिच्छुः, मः म् इति हलमात्रस्य आपहरणतः ईषदपहारात् पं प् इति व्यञ्जनं आप्नोतीति पापः तथाभूतस्सन् पेचकतां पेचकशब्दतामाप मेचकशब्दो बुभूषुरुक्तरीत्या पेचकशब्दोऽभूदित्यर्थः । अत्र शुकस्य हंसस्य वा मयूरतां प्राप्तोर्न केवलं तदलाभः अपितु पेचकत्वरूपोत्कटानिष्टप्रतिलम्भः । अयं च शब्दार्थतादात्म्यवैभवासादितमहिमश्लेषभित्तिकाभेदातिशयनिर्व्यूढः ॥

एषूदाहरणेषु प्रायेणोपमामूलकत्वं अप्रस्तुतप्रशंसागर्भत्वं श्लेषोत्तम्भितत्वं च द्रष्टव्यम् । एवमिष्टानवाप्त्यनिष्टप्राप्त्युभयकृता उत्पत्तिलक्षणसंसर्गस्याननुरूपता सामान्यतो दर्शिता । पूर्वोक्तचतुर्विधभेदाया इष्टानवाप्तेः पूर्वोक्तत्रिविधभेदनानिष्टेन संसृष्टौ इयमेव द्वादशविधा भवति । तत्र स्वस्य सुखसाधनवस्त्वनवाप्ति-दुःखसाधनवस्तुप्राप्तिरूप उभयभेदस्तावदुदाहृतः ॥ स्वस्य दुःखसाधनवस्त्वनिवृत्तिदुःखान्तरसाधनावाप्तिरूपद्वयं यथा—

तरळत्वं विजिहासुर्द्युमणिस्तव हारमध्यरत्न-
त्वम् । प्राप्यापि न तदहासीत्परंतु तत्रास बत
वृषाद्रिमणे ॥१२२३॥

द्युमणिः तरणिः स्वर्लोकरत्नमित्यपि गम्यते । तरळत्वं स्वस्य चापल्यं पिद्धत्वं वा भास्वरत्वमिति तु वस्तुस्थितिः । 'तरळं चञ्चले पिद्धे भास्वरेऽपि त्रिलिङ्गकम्' इति मेदिनी । विजिहासुः तव हारमध्यरत्नत्वं प्राप्यापि तत् तरळत्वं नाहासीत् नात्याक्षीत् । पुनरपि तरळत्वमेवापद्यतेत्यर्थः । हारमध्यगत्वात्तरळसंज्ञो बभूवेति वस्तुस्थितिः । परंतु तत्रास त्रासाख्यं मणिदोषमवाप्सीत् बिभायेति वा अर्थः । 'त्रासो भीमणिदोषयोः' इति विश्वः । पक्षे तत्र आस इति च्छेदः । तत्र हारमध्ये । आस दिदीपे इत्यर्थः । 'अस दीप्तौ' लिट् । अत्र द्युमणेस्तरळत्वरूपदुःखसाधनवस्तुनिवृत्त्युद्यमात्तदनिवृत्तिः त्रासरूपदुःखान्तरसाधनावाप्तिश्च निबद्धा । इदमेवानर्थपरिहारार्थरूपेष्टार्थसमुद्यमात्तदनवाप्तिरनिष्टान्तरप्राप्तिश्चेति व्यवह्रियतेऽन्यत्र ॥ श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायोत्तम्भितमिदम् ॥

परस्य दुःखसाधनप्रापणरूपेष्टार्थसमुद्योगात्तदनवाप्तिः स्वस्य दुःखसाधनप्राप्तिरित्युभयं यथा—

हिंसितुमना भवन्तं कंसरिपो स्तन्यदानतः काचित् । हिंसामाप नृशंसा पुंसामवतंस बहुतरां सैव ॥ १२२४ ॥

अत्र सैवेत्यनेन भगवदनिष्टप्रापणाभावो दर्शितः ॥

यथावा—

राघव तव प्रतापप्रदीपनिर्वापणाय कृतयत्नाः। निशिचरबलपतिशलभास्सुलभं निर्वापणं स्वयमविन्दन् ॥ १२२५ ॥

निर्वापणाय शमनाय। निर्वापणं शमनं निधनं च। 'निर्वापणं संज्ञपनम्' इत्यमरः। अत्र निशिचरबलपतिशलभानां रघुवरप्रतापप्रदीपनिर्वापणरूपेष्टार्थसमुद्योगात्तदनवाप्तिः प्रत्युत स्वेषामेव तदनिष्टप्राप्तिः। रूपकसंकीर्णमिदम् ॥

यथावा—

बन्द्धुं जगतां बन्धुं नन्दवधूस्त्वां गुणैः प्रयस्यन्ती । सन्दानिता गुणैस्ते नन्दात्मज सैव मन्दविस्पन्दा ॥ १२२६ ॥

त्वां गुणैः रज्जुभिः बन्द्धुं नद्धुं 'बन्ध बन्धने' अस्मात्तुमुन्। नकारदकारधकारसंयोगः। ते तव गुणैः रज्जुभिः सौशील्यादिकल्याणगुणैश्च। अत्र यशोदाया न केवलं स्वनन्दनबन्धनप्रापणरूपेष्टानवाप्तिः। अपितु तद्गुणैरात्मन एव बन्धनरूपानिष्टप्रतिलम्भः। अस्य बन्धस्यानिष्टत्वं च गुणशब्दोपात्तार्थद्वयश्लेषाभित्तिकाभेदाध्यवसायनिर्व्यूढम् ॥

यथावा—

त्वद्रूपमभिबुभूषुं विभग्नवदनं विधाय जीमूत-
म् । वेधाः क्रोधान्मुमुवे भग्नमुखोऽयं भवत्यतो
मूतः ॥ १२२७ ॥

वेधाः ब्रह्मा तव रूपं स्निग्धश्यामलिमानं अभिभूषुं अभिभवितुमिच्छुं । अभिभवः दुःखसाधनानुकूलव्यापारः । जीमूतं क्रोधात् विभग्नवदनं विधाय मुखे गाढं प्रहृत्येति भावः । लोकोक्तिरियम् । मुमुवे बबन्ध । 'मूङ् बन्धने' लिट् । अत एव अयं जीमूतः भग्नमुखः पराहततया परेषां वदनं दर्शयितुमनीश इति यावत् । मूतः बद्ध एव भवति । मूङ्धातोरेव कर्मणि क्तः । 'बद्धे संदानितं मूतम्' इत्यमरः । जीमूतशब्दो लुप्तमुख्यजीवर्णः मूत इति भवतीति वस्तुस्थितिः । अत्र भगवद्रूपाभिभवरूपतद्दुःखसाधनलक्षणस्वेष्टार्थोद्योगेन न केवलं जीमूतस्य तदलाभः, किंतु मुखभङ्गादिरूपदुःखसाधनावाप्तिश्च निबद्धेति लक्षणसंगतिः ॥

यथावा—

श्रीकुचजयसन्नद्धस्तदभिविलूनाग्र्यगुणक एव
ततः । कमपि भजन्नाकारं कोकः काको भवन्नरि-
ष्टोऽभूत् ॥ १२२८ ॥

कोकः चक्रवाकः 'कुक आदाने' इत्यस्मादचि लघूपधलक्षणो गुणः । श्रीकुचयोः जये अभिभवे । अभिभवो न्यूनीकरणं परसमवेतदुःखानुकूलव्यापारः । तस्मिन् सन्नद्धः सज्जः । अत एव ताभ्यां अभिविलूनः सर्वात्मना छिन्नः अग्र्यः श्रेष्ठः

गुणः रम्यत्वादिः पराक्रमादिश्च यस्य स तथोक्तः । 'शेषाद्विभाषा' इति कप् । कृत्तपरार्थ्यमौर्वीक इत्यपि गम्यते। एवकारेण निरस्तस्य गुणस्य पुनर्दौर्लभ्यं द्योतितम्। अत एव ततः कमपि अतिशोचनीयं आकारं आकृतिं भजन् काको भवन् वायसो भवन् अरिष्टः अरिष्टं अशुभं मृत्युचिह्नं वा अस्यास्तीत्यरिष्टः अर्श आदित्वादच् । अरिष्टशब्दवाच्योऽभूदिति तु तत्त्वम् । 'अरिष्टमशुभे ताम्रे लशुने सूतिकागृहे । मृत्युचिह्ने च ना त्वेष काके फेनिलनिम्बयोः' इति रत्नमाला । पक्षे कोकः कोकशब्दः अग्रचः अग्रे स्वान्तरं भवः गुणः गुणसंज्ञिक ओकारः यस्य स तथोक्तः अग्रचगुणः कः कवर्णः सः विलूनो यस्येति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। निरस्तकोवर्ण एवेति भावः। ततः कं कवर्णं । आकारमपीति योजना आवर्णं च भजन् कोकारस्थाने कावर्णं प्रतिपद्यमान इत्यर्थः । अत एव काकोभवन् काक इति निष्पद्यमानस्सन् अरिष्टः वायसवाचक इति यावत्। अभूत। वाच्यावचकयोस्तादात्म्यं न विस्मर्तव्यम्। अत्र श्रीकुचाभिभवरूपतुदःखसाधनलक्षणस्वेष्टार्थलाभोद्योगात्कोकस्य न तदलाभमात्रं प्रत्युत काकतावाप्तिपर्यन्तानिष्टप्राप्तिरित्युभयं दर्शितम् ॥

यथावा—

त्वन्मुखतिलकं जेतुं चान्द्रमसो मदबलाद्यदि कलङ्कः। उद्वल्गेत्तद्विजितः कङ्को भविता मदम्बलं चोज्झन् ॥ १२२९ ॥

हे श्रीरिति सामर्थ्याल्लभ्यते। चान्द्रमसः कलङ्कः मदश्च बलं च मदबलं समाहारद्वंद्वैकवचनम्। श्यामलिमातिशयगर्वात्

आश्रयबलाच्च त्वन्मुखतिलकं जेतुं अभिभवितुं उद्वल्गत् उत्पते-द्यदि तेन तिलकेन विजितः मदं गर्वं बलं शक्तिं च उज्झन् कङ्को भविता गृध्रविशेषतुल्यो भविता। गृध्रो ह्यामिषगृध्नुस्त द्दौर्लभ्यसौलभ्ये अविमृश्य सहसाऽभिपत्य यथा बलीयोभिर्वि-हायोभिरभिहतो दूरं धावेत्तथाऽयमपि कलङ्क इति भावः। पक्षे मदम्ब लं च इति च्छेदः। हे मदम्ब मन्मातः! कलङ्कः कल-ङ्कशब्दः लं लकारं, चकारो भिन्नक्रमः कङ्क इत्यनेन संबध्यते। उज्झन् कङ्कश्च भविता कङ्क इति च निष्पत्स्यत इत्यर्थः। यद्वा चस्त्वर्थः उज्झंश्चेति संबध्यते। लं त्यजंस्तु कङ्कइति भवि-तेत्यर्थः। अत्रापि कलङ्कस्य श्रीवदनतिलकाभिभवरूपेष्टार्थोद्योगा-त्तदनवाप्तिः कङ्कत्वरूपोत्कटानिष्टप्राप्तिश्च श्लेषमूलातिशयोपजी-विता वक्ष्यमाणसंभावनरूपेण निबद्धा॥

यथावा—

**नाथ मसारस्तव रुचिजयमीप्सुरुपेत्य सप्रथ-मभङ्गम्। लब्ध्वाऽपि विभवमग्रे विसारतां प्राप्त-वान् जितोऽक्षिभ्याम्॥ १२३०॥**

हे नाथ सः प्रसिद्धः मसारः इन्द्रनीलः 'मसार इन्द्र-नीले स्यात्' इति 'मसारगल्वर्कमुखः' इत्यत्र भूषणे कोश उदाहृतः। तव रुचेः जयं अभिभवं ईप्सुस्सन् प्रथमभङ्गं आदा-वेव पराभवम्। पक्षे मसारशब्दः, सप्रथमभङ्गमित्यत्र सप्रथ म-भङ्गमिति च्छेदः। हे सप्रथेति संबुद्ध्यन्तं नाथेत्यस्य विशे-षणम्। प्रथया प्रख्यात्या सह वर्तत इति सप्रथः तस्य संबुद्धिः। मभङ्गं मकारलोपं उपेत्य अग्रे अनन्तरं आदिभागे च विभवं प्राभवं जयसाधनभूतमिति भावः। पक्षे वि इति वर्णस्य भवं

सत्तां लब्ध्वाऽपि। अपिना तद्विभवस्याकिंचित्करता द्योत्यते। पक्षे अपिस्समुच्चये। न केवलं मकारलोपं किंतु तत्रैव विकारस्थितिं च प्राप्येत्यर्थः। विसारतां मीनतां 'विसारश्शकुली च' इत्यमरः। निस्सारतां दौर्बल्यमिति च गम्यते। पक्षे विसार इति निष्पन्न इत्यर्थः। अक्षिभ्यां तव नयनाभ्यां जितः। अत्रापि पूर्ववदेवोभयम् ॥

यथावा—

दानेन त्वद्विजये धुरि शबलाशोज्झिता कथंचिदथ। प्राप्ताऽपि कान्तिमत्वं नाथ बलाकैव भवति न तु जेत्री ॥ १२३१ ॥

हे नाथ! शबला कामगवी दानेन औदार्येण करणेन त्वद्विजये त्वत्कर्मकाभिभवे विषये धुरि आदावेव आशोज्झिता त्यक्तप्रत्याशेत्यर्थः। अथ कथंचित् कान्तिमत्वं कान्तिरिच्छा तद्वत्तां जयविषयकस्पृहामित्यर्थः। 'कान्तिश्शोभेच्छयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी। द्युतिमत्तामित्यपि गम्यते। प्राप्ताऽपि बलाकैव बिसकण्ठिकैव भवति। न तु तव जेत्री तद्वत्काप्युड्डीयते न तु त्वामभिभवितुमीष्ट इत्यर्थः। पक्षे शबला शबलेति शब्दव्यक्तिः धुरि प्रथमभागे शोज्झिता शकारेण त्यक्ता अथ कान्तिमत्त्वं का इति वर्णः अन्तिमो यस्य तत् कान्तिमं तस्य भावं तकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वम्। 'शरदः कृतार्थता' इत्यादाविव सामान्ये नपुंसकम्। प्राप्ताऽपि अन्ते कावर्णघटिता सती बलाकैव भवति। न तु जेत्रीशब्द इत्यर्थः। अत्रापि पूर्ववदेव सर्वम् ॥

यथावा—

**भगवन्बलभद्र त्वद्वसनश्रीविजयलिप्सुरथ मध्ये। व्यत्यस्तहलाकर्षणरभसेन बलाहको बकोवृत्तः ॥ १२३२ ॥**

हे भगवन् बलभद्र! नीलाम्बरत्वद्योतनायेदम्। बलाहकः वारिवाहकः नैल्यातिशयद्योतनायेदम्। त्वद्वसनश्रियः विजयं अभिभवं लिप्सुः अथ मध्ये अस्मिन्नवसर एव पर्यस्तं परितः क्षिप्तं यत् हलं लाङ्गलं तदाकर्षणरभसेन त्वत्कर्तृकेणेति भावः। बकः वृत्तः परानिष्टप्रापणालाभस्वानिष्टप्राप्तिमूलकमनःखेदवशात्स्वकीयनैसर्गिकश्यामलिमविधुरो बकवत्पाण्डुर एवाभूत् न तु त्वद्वसनश्रीविजयेन कमनीयश्यामलिमोत्कर्षमिति भावः। बकवद्ध्यानपरोऽभवदिति वा। पक्षे बलाहकशब्दः मध्ये स्वान्तराळे पर्यस्तौ व्यत्यस्तौ यौ ह ला इति वर्णौ तयोः कर्षणरभसेन उत्सारणेन, पर्यस्तं यथास्यात्तथा हला इति वर्णयोराकर्षणरभसेनेति वा। आदौ चरमहवर्णस्य अनन्तरं प्राथमिकलावर्णस्योत्सारणेनेत्यर्थः। बको वृत्तः बक इति निष्पन्न इत्यर्थः॥

यथावा—

**त्वन्नयनयुगजिगीषाकुतुकादभ्येत्य जननि तदपास्तः। हरिण इहक्षतिमुपयन्नगादिरिणतां खगाद्रिपतिमहिळे ॥ १२३३ ॥**

हरिणः कुरङ्गः हरिणशब्दश्च। इह लोके क्षतिं हानिम्। पक्षे इना इकारेण हक्षतिं हकारस्य भ्रंशं संबन्धसामान्यषष्ठ्यासमासः। उपयन् हकारस्थाने इकारं प्राप्तवान् सन् इरिणतां शून्यतां स्वरूपहानिमित्यर्थः। पक्षे इरिणशब्दतां अगात्। 'अथ

त्रिषु विषाणं स्यात्' इत्युपक्रम्य 'इरिणं शून्यमूषरम्' इति णान्तनानार्थेष्वमरः । 'इरिणं तूषरे शून्ये' इति मेदिनी च ॥ अत्र हरिणस्य परानिष्टप्रापणरूपेष्टानवाप्त्यनिष्टप्राप्ती ॥

यथावा--

त्वां सर्वगन्धमच्युत सौरभतश्चन्दनो यदि जिगीषुः । चक्रभिदां गन्तैव क्रन्दन एवाथ भवति मन्येऽहम् ॥ १२३४ ॥

सर्वगन्धं 'सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धः' इति श्रुतं 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादिना प्राकृतगन्धादिनिषेधात् अप्राकृतास्स्वासाधारणाः नित्यनिरवद्याः निरतिशयास्स्वभोग्यभूताः कल्याणास्सर्वे गुणा अस्य सन्तीत्यर्थः। ईदृशं त्वां चन्दनः प्राकृतपरिमितगन्धाश्रय इति भावः। सौरभतः जिगीषुर्यदि चक्रेण सुदर्शनेन भिदां भेदनं 'साधनं कृता' इति समासः। चकारस्य क्रैतिवर्णेन भिदां निरसनं च गन्तैव । अथ ईदृगवस्थावाप्त्यनन्तरं क्रन्दन एव रोदितैव, पक्षे क्रन्दनशब्द एव भवतीति मन्ये ॥ अत्र चन्दनस्येष्टालाभानिष्टलाभौ संभावनया निबद्धौ ॥

यथावा—

त्वत्कररुचिविजयाद्भुवि सत्कृतिमीप्स्वभिसमाहतं ताभ्याम् । अग्रे वहुहान्युदितावर्णमथाब्जं जनन्यभून्युब्जम् ॥ १२३५ ॥

हे जननि! अब्जं अग्रे आदौ वह्वी हानिर्यस्य तद्बहुहानि। उदितः अवर्णः पराभूतमित्यपवादो यस्य तत् उदितावर्णं 'अव-

र्णाक्षेपनिर्वादपरिवादापवादवत्' इत्यमरः। बहुहान्या उदितावर्णमिति वा। पक्षे बहु हा इति च्छेदः। अग्रे मुखभागे बहु यथा तथा न्युदितं न्युना न्यु इति वर्णसमुदायेन दितं छिन्नं निरस्तमिति यावत्। तादृशं अवर्णं अकारो यस्य तत् न्युदितावर्णं 'दितं छितं वृक्णम्' इत्यमरः। न्युब्जं रुजाभग्नं अभूत्। 'भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः' इति निपातनात्साधुः। 'न्युब्जो रुजाभुग्ने' इत्यमरः। अब्जपदं न्युब्जमिति निष्पन्नमिति वस्तुस्थितिः। हा इति खेदे। शिष्टं स्पष्टम्॥

यथावा—

त्वच्चक्रमंशुमाली चिच्छादयिषुस्स्वरोचिषाऽभ्येत्य। कलितो निरंशुकस्तन्महसा माली भवन् हतस्तेन॥ १२३६ ॥

तन्महसा चक्रतेजसा। निरंशुकः अपहृतवसनः निर्गलिताकिरण इति च। पक्षे अंशुशब्दविघटितश्च कलितः माली तन्नामा महादैत्यः भवन्, अंशुमालिशब्दः अंशुशब्दाविघटिततया मालीत्यवशिष्ट इत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्॥

यथावा—

मालूरफलं श्रीकुचजयफलमभिलष्य तदनुलूनमरम्। माफलमित्यभिधावद्वाच्यं लिपितस्तथाऽनुशिष्टमभूत्॥ १२३७ ॥

मालूरस्य विल्वस्य फलं श्रीकुचजयरूपं फलं प्रयोजनं अभिलष्य अपेक्ष्य अरं द्रुतं तदनुलूनं ताभ्यां कुचाभ्यां अ-

लुलूनं अनन्तरमेव छिन्नं न तु विलम्बेन, पराजितमिति यावत्। माफलमिति मा भूत्स्वोद्दिष्टप्रयोजनं 'जीवन्भद्राणिपश्यति' इत्युक्तनयेन कथमपि जीवेयमिति स्वाभिलषितसाधनानीश्वरतया नैराश्यं दधानमिति भावः। अभिधावत् प्रतिपक्षभिया अभितः पलायमानम्। अभिपूर्वकाद्धावतेर्लैटश्शता। तथा लिपितः तादृशकर्मफलसूचकवैधसललाटरेखावशात् अनुशिष्टं प्राणमात्रावशेषं सत् वाच्यं निर्वीर्यमिदमिति कुत्सनीयं 'वाच्यं तु कुत्सिते हीने वचनीये च वाच्यवत्' इति मेदिनी, अभूत्। पक्षे मालूरफलमितिपदं, शब्दार्थयोस्तादात्म्यम्, तदनु लक्ष्मीकुचजयफलाभिलाषानन्तरं लूनं लूवर्णेन न्यूनं अरं अविद्यमानरेफं च सत् लिपितः स्वघटकाक्षरैः माफलमिति सुशिष्टं सम्यगवशिष्टं अभिधावत् अभिधा साक्षात्संकेतविषयज्ञानहेतुभूतश्शब्दनिष्ठो मुख्यो व्यापारः 'व्यापारश्शक्यधीहेतुर्मुख्यशब्दगतोऽभिधा' इति लक्षणात्, साऽस्यास्तीति तथोक्तं सत्, मतुप्। वाच्यं वक्तव्यं अभूत्। श्रीफलरूपार्थविषयकशक्तिमत्तया व्यवहार्यमासीदिति भावः। यद्वा मालूरफलरूपार्थ एव लिपितः स्ववाचकशब्दस्थवर्णैः तथा उक्तरीत्या लूरवर्णत्यागेन सुशिष्टं सम्यगवशिष्टं सत्, माफलमिति अभिधा नामधेयं साऽस्यास्तीत्यभिधावत्, स्ववाचकमाफलरूपशब्दवत्सत् वाच्यं वक्तुं योग्यं अभूत्, स्वाभिधेयार्थमजहदेव व्यवहारार्हमासीदित्यर्थः। माफलं श्रीफलम्। बिल्वस्य माफलत्वं च 'वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः' इति श्रुतेः। 'बिल्वो लक्ष्म्याः करेऽभवत्' इति विद्यारण्यभाष्यधृतवामनपुराणात् 'तनुमध्या स्वहस्तोत्थं बिल्वं तरुमुपाश्रिता' इति पृथ्वीधरभाष्यधृतभार्गवतन्त्रवचनाच्चेति ध्येयम्। फलति निष्पद्यत इति फलः

पचाद्यच् । मायाः फलः माफलः लक्ष्मीकरनिष्पन्नत्वान्माफलशब्दो बिल्ववाची । तस्य विकारः फलं माफलम् । यद्वा माप्रदानि श्रीप्रदानि फलानि यस्य स इति माफलः शाकपार्थिव इतिवन्मध्यमपदलोपि समासः । 'तस्य फलानि तपसा नुदन्तु मायान्तरायाश्च बाह्या अलक्ष्मीः' इत्यलक्ष्म्यपनोदकत्वश्रवणाच्छ्रीप्रदफल इत्यर्थः । ततः फलार्थे वैकारिकाणो लुक् । माफलशब्दस्य 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि, इति कोशघटकश्रीफलशब्दवद्बिल्वाभिधायित्वं लक्ष्मीपत्यादिशब्दानां 'श्रीपतिः पुरुषोत्तमः' इत्यादिकोशघटकश्रीपत्यादिशब्दानां पुरुषोत्तमाभिधायकत्वमिवेति ध्येयम् । अत्र मालूरफलस्य परानर्थप्रापणरूपेष्टानवाप्त्यनिष्टप्राप्ती निबद्धे ॥

यथावा—

मालूरं हरिमहिळे संनद्धं तवकुचाभिभवने ताभ्याम् । एकादिमाभिघाताच्छातं श्रितनीरकं च शालूकमभूत् ॥ १२३८ ॥

हे हरिमहिळे! मालूरस्य विकारः फलं मालूरम् । वैकारिकाणो लुक्, क्लीबमिति भावः । तव कुचयोः अभिभवने न्यूनीकरणे सन्नद्धं अत एव ताभ्यां तव कुचाभ्यां द्वाभ्यां पुम्भ्यामिति भावः । एकस्मात् आदिमात् आद्यात् अभिघातात् प्रहारादेव छातं छिन्नं 'छो छेदने' अस्मात्कर्मणि क्तः । 'आदेचः' इत्यात्वम् । 'छिन्नं छातम्' इत्यमरः । शातमिति वा च्छेदः । शातं तनूकृतं कर्शितमित्यर्थः । 'शो तनूकरणे' अस्मात् क्तः, आत्वं च प्राग्वत् । अत एव श्रितनीरकं श्रितं

नीरं येन तत्तथोक्तं च सत्। बहुव्रीहौ 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। पुनः प्रहारभिया जले निमग्नमिति भावः। शालूकं 'सौगन्धिकं तु कह्लारम्' इत्युपक्रम्य 'शालूकमेषां कन्दस्स्यात्,' इत्यमरः। शल्यते शलति वा 'शल चलनसंवरणयोः' 'शलिमण्डिभ्यामूकण्' इति ऊकण्प्रत्ययः। इदं च सुधायां स्पष्टम्। पक्षे माल्रूरमिति पदं एकस्य आदेः प्राथमिकस्य माकारस्य अभिघातात् ध्वंसनं प्राप्य शातं शां शाकारं अतति सततं गच्छतीति तथोक्तं 'अत सातत्यगमने' कर्मण्यण्। श्रितनीरकं निर्गमितो रः रेफः येन सः नीरः, नीरः कः ककारः श्रितो येन तत्तथोक्तं च सत्, माकारस्थाने शाकारं रेफस्थाने ककारं च प्राप्तं शालूकमिति निष्पन्नमित्यर्थः। अत्र माल्रूरस्य श्रीकुचाभिभवनरूपेष्टानवाप्तिः अभिघातादिना शालूकत्वरूपानिष्टावाप्तिश्च॥

यथावा—

गतिगर्वादभियंस्त्वां मुखवात्याधूत उपरिगत एवाग्रे। वारण उरणस्समजनि न पुरस्कुरुते रणं तदद्याप्येषः॥ १२३९॥

हे भगवन्! वारणः गतिगर्वात् गमनगाम्भीर्यप्रयुक्तादहंकारात् अभियन् अभियोगार्थमभिमुखं गच्छन् सन् मुखवात्याधूतः। अस्य तवेत्यादिः। तव मुखवात्यया मुखनिश्वासफूत्कारभूम्नैव धूतः। वातानां समूहो वात्या 'पाशादिभ्यो यः' इति सामूहिको यप्रत्ययः। 'तल् वृन्दे येनिकड्यचत्राः' इत्यनुशासनात् स्त्रीत्वम्। अनेन स्त्रीपराजितत्वं द्योत्यते। अत एव अग्रे अनन्तरं उपरिगत एव क्वापि गगने उट्टङ्कितस्सान्नि-

त्यर्थः । उरणः मेषः अजनि । मेषजन्माभजदित्यर्थः । तद्वन्निर्वीर्योऽभवदिति वा । गगने मेषराशितां गत इत्यापि गम्यते । अत एव एषः वारणः उरणो वा अद्यापि रणं युद्धं न पुरस्कुरुते नाद्रियते पराभवभयादेति भावः । पक्षे वारण इति शब्दः मुखभूतो यो वाकारः तस्मिन् अत्याधूतः निरस्तवाकार इत्यर्थः । अग्रे आदौ अनन्तरं वा उपरिगतः उवर्णयुक्तः उरण इति निष्पन्नः रणं रेफणकाररूपवर्णसमुदयं अद्यापि न पुरस्कुरुते पश्चादेव बिभर्ति । वारणोरणशब्दयोरादौ रणवर्णादर्शनात्पाश्चादेव तद्दर्शनाच्चेति भावः । अत्र वारणस्य भगवद्गतिन्यूनीकरणरूपपरानिष्टप्रापणलक्षणेष्टानवाप्तिरुरणत्वरूपानिष्टावाप्तिश्च ॥

यथावा—

अभिभवितुं तव वदनं कुतुकादेत्यान्तरालकनिरस्तः । स निशाकरो निशारो भवन्हिमानिलनिवारणं विदधे ॥ १२४० ॥

हे अम्ब ! सः जगदाह्लाददायितया प्रसिद्धः निशाकरः तव वदनं अभिभवितुं कुतुकादेत्य अन्तरा मध्ये अलकैः चूर्णकुन्तलैरेव निरस्तः । ईदृशस्य साक्षात्प्रतिपक्षत्वद्वदनाभिभवो दवीयानिति भावः । पक्षे निशाकरशब्दः अन्तराळे स्वघटकवर्णमध्ये कनिरस्तः निरस्तककारस्सन्नित्यर्थः । निशारो भवन् हिमानिलनिवारणप्रावरणरूपो भवन् 'निशारस्स्यात्प्रावरणे हिमानिलनिवारणे' इत्यमरः । पक्षे निशारशब्दो भवन्नित्यर्थः । हिमानिलनिवारणं तव वा अन्यस्य वा किंकरीभूयेति भावः । विदधे । अत्र निशाकरस्य श्रीवदनाभिभवानवाप्तिनिशारत्वरूपानिष्टावाप्तिश्च ॥

यथावा—

तावककीर्तिविजित्यै संमुखमुपयन्नथान्तरा भगवन् । शासनतश्च्युतवर्णस्सशङ्क एवाभवत्खलु शशाङ्कः ॥ १२४१ ॥

हे भगवन्! शशाङ्कः तावककीर्तेः विजित्यै विजयं कर्तुं कुतुकात् संमुखं अभिमुखं उपयन्। पक्षे सुखं सर्ववर्णेभ्योप्यादिमं सं सकारं प्राप्नुवन् सन्, अथ अविलम्बनैव अन्तरा अस्मिन्नेवावसर इत्यर्थः। पक्षे मध्यभागे। शासनतः तदतिक्रमानुरूपात्त्वत्कृताच्छिक्षणात्। पक्षे शा इति वर्णस्य असनतः निरसनात्। च्युतवर्णः गळिततेजाः निरस्ताक्षरश्च सन् सशङ्क एव सव्यथ एव अभवत्। पक्षे शशाङ्कशब्दः आदौ सकारन्यसनेन मध्ये शावर्णभ्रंशनेन च सशङ्क इति निष्पन्न इत्यर्थः॥

यथावा—

त्वन्नखजिगीषुरेतैस्तलातालिहतोऽन्ततो विसर्गमयन्। दूनो भूत्वा भगवन्निन्दुः केवलमिनाश्रितः प्राणीत्॥ १२४२ ॥

हे भगवन्! इन्दुः त्वन्नखजिगीषुः अत एव तैः नखैः तलातालि तलैस्तलैः प्रहृत्येदं प्रवृत्तं युद्धं तलातालि। तस्मिन् हतः प्रहृतः अन्ततः विसर्गं अयन् प्राप्नुवन् दयया जीवेति दूरमुत्सृष्ट इति भावः। अत एव अतितरां दूनः परितप्तः भूत्वा केवलं इनाश्रितः अप्रसिद्धप्रभुसमाश्रितः प्राणीत्। यद्वा-इनाश्रितः कंचित्प्रभुमाश्रितः केवलं प्राणीदिति योजना। प्राण-

धारणमात्रमकार्षीत् न तु तानभिभवितुं प्राभवादिति भावः । पक्षे इन्दुशब्दः अन्ततो विसर्गं विसर्जनीयं अयन् अनुज्झितविसर्गः केवलं दुनः दुवर्णन्यूनो भूत्वा इना इन् इति वर्णसमुदयेन श्रितः प्राणीत् स्वरूपसत्तामलभतेत्यर्थः । अन्यत्सर्वं प्राग्वत् ॥

यथावा—

नव्येन त्वन्महसा पराकृतो द्योच्युतस्स्वयं प्रतनः । प्रद्योतनः प्रहरणादवाक्शिरास्सन्नतोऽभवद्भगवन् ॥ १२४३ ॥

हे भगवन्! प्रद्योतनः भानुः त्वन्महोविजिगीषुरिति भावः । नव्येन नूतनेन यूनेति यावत् । स्तव्येनेति वस्तुस्थितिः । 'णु स्तुतौ' अचो यत्' इति यत् । तव महसा तेजसा पराकृतः तिरस्कृतः अत एव द्योच्युतः अन्तरिक्षात् स्वर्गाद्वा भ्रष्टः । तत्र हेतुः स्वयंप्रतन इति । प्रतनः पुराणः जीर्ण इति यावत् । 'नश्च पुराणे प्रात्' इति त्युल् । 'पुराणप्रतनप्रत्नपुरातनचिरन्तनाः' इत्यमरः । स्वयं स्थाविरस्तरुणेन त्वन्महसा स्पर्धमानः कथं तेन नाभिभूयेतेति भावः । प्रहरणात् त्वत्तेजःकृतात्प्रहारात् अवाक्छिराः अवाक्कृतशिरास्सन् नतः प्रणतः अभवत्, तत्प्रहारभग्नो नमितशिराश्शरणं गत इति भावः । पक्षे प्रद्योतनशब्दः द्योच्युतः द्यो इति वर्णश्च्युतो यस्मात्स तथोक्तस्सन् प्रतनः प्रतन इति निष्पन्नोऽभवत् । अथ प्रहरणात् प्र इतिवर्णसमुदयलोपात् तं प्राप्येत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी । अवाक्शिरास्सन् विलोमो भवन्निति यावत् । नतः अभूत् नत इति निष्पन्नोऽ-

भूत्। प्रतनशब्दः प्रवर्णलोपानन्तरं अवशिष्टस्य त न इति वर्णद्वयस्य वैपरीत्येन नत इति निष्पन्न इति निर्गलितोऽर्थः । अत्र प्रद्योतनस्य भगवन्महोभिभवेच्छा समभिव्याहारवशाद्गम्या, अनिष्टप्राप्तिस्तु स्फुटैव । गतमन्यत् ॥

यथावा—

त्वद्वचनरसपरास्तं रसालखण्डं रसोनकाद्यमभूत् । भूत्वाऽथ कालखण्डं क्रव्यादास्वाद्यमजनि जननि ततः ॥ १२४४ ॥

हे जननि! रसालखण्डं इक्षुखण्डं सहकारफलखण्डं वा। त्वद्वचनरसस्पर्धीति भावः। त्वद्वचनरसेन परास्तं सत् रसोनकाद्यं रसोनकानां लशुनानां आद्यं अग्र्यं। रसोनकं च तत् आद्यं चेति वा । रसोनकरूपभक्ष्यवस्तु अभूत्। 'लशुनं गृञ्जनारिष्टमहाकन्दरसोनकाः' इत्यमरः। प्रथमतस्सामान्येन मधुरतया प्रतीतमपि स्वस्वरूपापरिचिन्तनेन मधुरतमश्रीवचनरसाभिभवप्रवृत्ततया तत्तिरस्कृतं दुर्गन्धि समजनिष्टेति भावः। नैतावदेव, अथ अनन्तरं कालखण्डं यकृदाख्यमांसखण्डं भूत्वा 'कालखण्डयकृती तु समे इमे' इत्यमरः । क्रव्यमदन्तीति क्रव्यादः आममांसाशिनः पक्ष्यादयो राक्षसा वा। 'क्रव्यान्मांसाशिरक्षसोः' इति रत्नमाला। तेषां आस्वाद्यं अजनि, न तु रससारविदामिति भावः। पक्षे रसालखण्डमिति पदं रसोनं रेफसाकाराभ्यां हीनं तद्राहितमित्यर्थः। काद्यं काकार एवाद्यो यस्य तत् प्रथमतः काकारघटितमित्यर्थः। रसोनं च तत् काद्यं चेति विशेषणोभयपदसमासः। एवं भूत्वा कालखण्डमिति निष्पन्न-

मित्यर्थः । अत्र रसालखण्डस्य श्रीवचनरसपरिबुभूषोस्तदनवाप्तिः रसोनकत्वाद्यनिष्टप्रतिलम्भश्च ॥

यथावा—

वैश्वानरस्त्वदोजस्स्पर्धी तेनाहतोऽथ वैभ्रष्टः ।
व्यूष्माहारं मुञ्चन्वानरतामेत्य वान एवानीत्
॥ १२४५ ॥

हे भगवन् ! वैश्वानरः वह्निः वैश्वानरशब्दश्च । तयोस्तादात्म्यम् । तव ओजसा प्रतापेन स्पर्धत इति तथोक्तः । अत एव तेन आहतः अभिहतः अथ अनन्तरमेव भ्रष्टः । वैशब्दोऽवधारणे । 'स्युरेवं तु पुनर्वैव' इत्यमरवचनस्य 'पुनर्वै च' इति सुभूतिना पठितत्वात् । एतच्च सुधायां स्पष्टम् । अधः पतित एवेत्यर्थः । शब्दपक्षे वैभ्रष्ट इति समस्तं पदम् । वैइत्याकारककवर्णभ्रंशं प्राप्त इत्यर्थः । व्यूष्मा विगतौष्ण्यः शान्तप्रताप इति यावत् । पक्षे विगशकार इत्यर्थः । 'शषसहा ऊष्माणः' इति शकारस्योष्मसंज्ञाविधानात् । वानरतामेत्य अप्रतिपत्तिमूढहृदयतया कपिवदतिचपलो भूत्वेति भावः । पक्षे वै इति सस्वरव्यञ्जनस्य श् इति केवलव्यञ्जनस्य चापगमे वानर इत्यवशिष्ट इत्यर्थः । आहारं अभ्यवहारं मुञ्चन् पराभवमूलकखेदेन प्रायोपवेशं कुर्वन्निति भावः । पक्षे हा इति च्छेदः । रं रेफं मुञ्चन् वानः शुष्क एव सन् आनीत् कथंचित्प्राणानधार्षीत् । 'वानश्शुष्के शुष्कफले' इति रत्नमाला । 'वानश्शुष्कफले शुष्के सीवने गमने कटे' इति हेमश्च । 'पै ओ वै शोषणे' 'गत्यार्थकर्मणि' इत्यादिना क्तः । 'ओदितश्च' इति तस्य नत्वम् । 'आदेच

उपदेशेऽशिति' इत्यात्वम्। पक्षे रेफस्यापि लोपे व न इत्यवशिष्टस्सन् आनीत्। तावन्मात्रेण सत्तामलभतेति भावः। अत्र वैश्वानरस्य इष्टानवाप्त्यनिष्टप्राप्ती॥

यथावा—

आद्यन्तयोर्विकलितस्तव कुचयुगलेन कमलमुकुलोऽम्ब। आद्यन्तसारताप्त्याऽमलमुकुरोऽप्यथ धुतः कपोलाभ्याम्॥ १२४६ ॥

हे अम्ब! कमलमुकुलः पद्मकोशः मृदुरेकाकी चेति भावः। तव कुचयुगळेन कठिनतरेण इतरेतरदत्तसाह्येन द्वंद्वभूतेनेति भावः। आद्यन्तयोः आदावन्ते च सर्वथेति भावः। विकलितः विकलः कृतः शक्त्यादिसाकल्यविधुरः कृतः स्वेन स्पर्धमानः परास्त इति भावः। अथ अनन्तरं आद्यन्तयोः सारः बलं यस्य तत्तथोक्तं, तस्य भावः आद्यन्तसारता, तस्याः आप्त्या प्राप्त्या सर्वथा शक्त्यादिमत्तालाभेन त्वत्प्रतिचिकीर्षुरिति भावः। अमलमुकुरस्सन्नपि निर्मलादर्शजन्म लब्धवानपीति भावः। तव कपोलाभ्यां धुतः दूरं परास्तः सारवतोऽप्येकस्य सारवत्तराभ्यां द्वाभ्यां स्पर्धमानस्य सर्वथा परिभव एव भवितेति भावः। अन्यत्र कमलमुकुलशब्दः आद्यन्तयोः विकलितः विभ्रंशितौ कलौ यस्य स तथोक्तः कृतः। क्रमेणादौ ककारस्य अन्ते लकारस्य च भ्रंशं प्रापित इति भावः। अथ आद्यन्तयोः सारताप्त्या अश्च रश्च अरौ अराभ्यां सह वर्तत इति सारः, तस्य भावः सारता तदाप्त्या। अदौ अकारस्य अन्ते रेफस्य च सम्बन्धेनेति भावः। अमलमुकुरः अमलमुकुरशब्दो भवन्नित्यर्थः। अत्र कमलमुकुलस्य न केवलं श्रीकुचयुगळानर्थप्रापणरूपेष्टा-

नवाप्तिः किंतु विकलितत्वाद्यनिष्टप्राप्तिश्च। एवं तस्यैवामलमुकुन्दरूपजन्मान्तरेऽपि न केवलं श्रीकपोलपरिभवरूपेष्टालाभः किंतु ताभ्यां स्वस्य धूननरूपानिष्टप्रतिलम्भश्च। एवं सर्वत्रापि बोध्यम्॥

यथावा—

निजविजयेप्सु तवाधररुचा परास्तं स्ववर्णतस्स्रस्तम्। घुणतां प्रपद्य घुसृणं लीनं काष्ठान्तरे क्वचित्सुषिरे॥ १२४७॥

हे अम्ब! घुसृणं काश्मीरजं कुंकुममित्यर्थः। निजविजयेप्सु स्वकर्तृकत्वदधरकर्मकाभिभवप्रेप्सु। अत एव तव अधररुचा परास्तं अवधीरितं अत एव स्ववर्णतः स्वकीयसुषमया अपीति यावत्। स्रस्तं ध्वस्तं निस्तेजस्कामिति भावः। पक्षे घुसृणमिति पदं स्ववर्णतः आद्यादित्वात्सप्तम्यास्तसिः। स्वघटकवर्णेष्वित्यर्थः। स्रस्तः सृ इति वर्णः अस्तः निरस्तः यस्य तत्तथोक्तम्। सृ अस्त इति स्थिते यणादेशः। निस्सारितसृकारं सदित्यर्थः। घुणतां कीटतां पक्षे घुणशब्दतां प्रपद्य काष्ठान्तरे स्वनिवासादूर्ध्वं क्वापि दिगन्तरे, तत्रापि क्वचित्सुषिरे क्वापि कोणे। काष्ठान्तरे दार्वन्तरे तत्रापि क्वचिच्छिद्रे इति चोपस्कार्यम्। घुणानां दारुच्छिद्रान्तरावस्थानस्य प्रसिद्धत्वात्। लीनं लयं प्राप्तम्॥

यथावा—

त्वत्परिमळविद्धोऽगुरुरगमध्यस्थोऽप्यरुरुस्फुरन्मूर्तिः। मध्यस्थगुरगुरुस्सन्नगुरगुरासीत्ततो जगज्जननि॥ १२४८॥

हे जगज्जननि! अगरुः राजार्हाख्यगन्धद्रव्यविशेषः प्रसिद्धः। 'वंशाकागरुराजार्हलोहक्रिमिजजोऽङ्ककम्' इत्यमरः। पुल्लिङ्गोऽप्ययं, तथाच द्विरूपकोशे श्रीहर्षः—'अगरुश्चागुरुश्च' इति। हेमचन्द्रोऽप्यभिधानचिन्तामणौ 'अगुरुस्त्वगरौ लघौ। शिंशुपायाम्' इति। वोपालितादयोऽप्येवम्। प्रयोगश्च 'शीतक्तत्तेऽगुरोर्मदः' इति। श्रीपरिमळाभिवुभूषुरिति गम्यते। अगमध्यस्थोऽपि तरूणां गिरीणां वा मध्ये स्थितोऽपि। अनेन—

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥
सर्वेणापि प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते॥

इत्युक्तप्रकारेण अगदुर्गास्थितत्वं व्यज्यते। त्वत्परिमळेन त्वदङ्गसौरभेण। अस्य वीरपुरुषत्वं गम्यते वक्ष्यमाणार्थानुगुण्यात्। विद्धः शस्त्रादिना क्षतः परास्त इति तत्वम्। अत एव अरुभिः व्रणैः स्फुरन्ती मूर्तिर्यस्य स तथोक्तः। 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः' इत्यमरः। पक्षे अगरुः अगरुशब्दः गः गकारः मध्यस्थो यस्य स न भवतीत्यगमध्यस्थः। तथाऽपि अरुस्फुरन्मूर्तिः अकाररुवर्णाभ्यां प्रकाशमानस्वरूपः गकारच्युतावपि अरु इति वर्णद्वयमात्रावशिष्ट इत्यर्थः। ततः मध्यस्थगुः मध्ये शरीरमध्ये स्थगु उरोनिस्सृतोन्नतविकृतावयवविशेषो यस्य स तथोक्तः 'तवेदं स्थगु यद्दीर्घम्' इत्यत्र श्रीरामायणभूषणे एवमेव विवृतम्। अतिमात्रविद्धतयाऽन्तर्भग्नोन्नद्धास्थिविशेषविकृत इति भावः। अत एव अगुरुः गौरवहीन इत्यर्थः। पक्षे मध्यस्थः गुः गुवर्णो यस्य तथोक्तस्सन्। अवशिष्टः अरुशब्दः मध्ये गुवर्णन्यसनेन अगुरुरिति निष्पन्नस्सन्नित्यर्थः। अरुरगुरिति

समस्तं पदम् । अरुर्भिः व्रणैः अविद्यमाना गौर्यस्य तथोक्तः आसीत् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वे एच इगादेशः । व्रणवेदनासंभ्रान्ततया 'दिशो मे विप्रणश्यन्ति' इत्युक्तरीत्या विनष्टदिग्विवेकः प्रणष्टवाग्व्यवहारो वा प्रतिहतदृष्टिप्रसरो वाऽभवदित्यर्थः । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रिदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । नित्यपुल्लिङ्गं परिमळशब्दं विभाषितपुंस्त्वं अगरुशब्दं च प्रयुञ्जानस्य कवेरयमाशयः—नित्यपौरुषेण पुंसा कादाचित्कपौरुषशाली कश्चित्पुमान् स्पर्धमानस्तेन वधीरित ईदृशीं दुरवस्थां प्राप्नुयादेवेति । पक्षे अरुः रुवर्णविधुरः अगुः अगुरिति निष्पन्नोऽभूदित्यर्थः । प्रथमं अगुरिति स्थितः ततो गकारलोपे अरुर्भूत्वा ततः अरुवर्णयोरन्तरे गुवर्णन्यासे अगुरुरिति ततश्च रुवर्णलोपे अगुरिति निष्पन्नोऽभूदयं शब्द इति निर्गळितोऽर्थः ॥

यथावा—

**कीरस्तव तनुरुचिजयमीप्सुर्विधुतस्तया श्रियः कान्त । व्यत्यासितस्वरव्यञ्जनः करी भवतु तद्गतिमियात्किम् ॥ १२४१ ॥**

हे श्रियः कान्त! कीरः शुकः 'कीरशुकौ समौ' इत्यमरः । त्वत्तनुरुचिजयं ईप्सुः हरितश्यामलवर्णयोरैक्यस्य कविसमयसिद्धत्वाच्छुकस्य भगवत्तनुरुचिजयेप्सुतोक्तिः । तथा चोक्तमलंकारशेखरे—

कमलासंपदोः कृष्णहरितोर्नागसर्पयोः ।
पीतलोहितयोस्स्वर्णपरागाग्निशिखादिषु ॥

चन्द्रे शशैणयोः कामध्वजे मकरमत्स्ययोः ।
दानवासुरदैत्यानामैक्यमेवाभिसंहितम् ॥

इति। अत एव 'शुकाङ्गनीलोपलनिर्मितानाम्' इत्याद्युपपत्तिः। अत एव तया त्वत्तन्वा तद्रुचा वा विधुतस्सन्, स्त्रीपराभूतत्वं द्योत्यते। व्यत्यासिते स्वरव्यञ्जने स्वरः कण्ठजन्यध्वनिः व्यञ्जनं हरितवर्णत्वादिचिह्नं चञ्चुपक्षाद्यवयवो वा येन स तथोक्तस्सन्, स्वप्रतिपक्षभगवत्तनुरुचिजयोऽनेन रूपेण दुष्कर इति रूपान्तरप्रेप्सथा प्राक्तनरूपं त्यजन्निति भावः। करी भवतु गज एव भवतु। अल्पस्वरूपकीरत्वं विहाय महावयवो गज एव भवतु। तावताऽपि तद्गतिं त्वत्तनुस्थितिं त्वद्रुचिस्थितिं वा। सा गतिस्तद्गतिः तां तथा। गभीरोदारं त्वद्गमनं च इयात्किं विन्देत्किं, न विन्देदेव। न हि लावण्यविधुरनैल्यशरीरस्थौल्यादिपरिग्रहमात्रेण मयूरककण्ठमेचकलोकोत्तरभगवद्दिव्यविग्रहरुचिगत्यादिकं सुलभमिति भाव.। पक्षे कीर इति शब्दः व्यत्यासितस्वरव्यञ्जनः स्वरौ ईकारः अकारश्चेत्यज्वर्णौ व्यत्यासितौ ययोस्ते। तादृशे व्यञ्जने क् र् इति ककाररेफरूपे हल्वर्णे यस्य स तथोक्तः, बहुव्रीहिगर्भबहुव्रीहिः। ईकाराकाररूपाज्वर्णयोरेव व्यत्ययः न तु ककाररेफरूपहल्वर्णयोरिति भावः। तथा सति कीरशब्दः करीति निष्पद्यतामित्यभिप्रायः। अत्र कीरेति प्रकृतिमात्रस्यैव विवक्षा न तु सुप्प्रत्ययविशिष्टस्य। 'स्वरोऽकारादिमात्रासु मध्यमादिषु च ध्वनौ' इति, 'व्यञ्जनं श्मश्रुचिह्नयोः। तेमनेऽवयवे कादौ' इति च विश्वहेमचन्द्रौ। अत्र कीरस्य न केवलं भगवत्तनुरुचिविजयालाभः, किंतु पूर्वसिद्धरुचिहानिरूपानिष्टलाभश्च॥

यथा वा—

कृतमुखतां राघव तव कृतहस्तत्वं च शिथि-

लयितुमिच्छन् । भग्नमुखः प्रथमरणे त्वया दशास्यस्स्वयं विहस्तोऽभूत् ॥ १२५० ॥

कृतमुखतां प्रशस्तवदनत्वमिति यावत् । कुशलत्वमिति वस्तुस्थितिः। 'वैज्ञानिकः कृतमुख कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः । कृतहस्ततां प्रशस्तपाणिमत्तामिति यावत् । शराभ्यासशिक्षितहस्तत्वमिति तत्त्वम् । 'कृतहस्तस्सुप्रयोगः' इत्यमरः । भग्नमुखः मुखभङ्गं प्रापितः । पराभूत इति तु तत्त्वम् । विहस्तः हस्तविधुरितः व्याकुलश्च 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इत्यमरः । स्पष्टमन्यत् । अत्र दशास्यस्य राघवकृतमुखत्वकृतहस्तत्वशिथिलीकरणलक्षणपरानिष्टप्रापणरूपेष्टानवाप्तिः स्वस्य तादृशानिष्टप्राप्तिश्च ॥

यथावा—

मिथिलाधिनाथतनयां विरामयितुमुद्यतो भवन्तमपि । रजनीचरपतिरजनि स्वयं विरामो दिनेशवंशमणे ॥ १२५१ ॥

मिथिलाधिनाथतनयां विरामयितुं रामाविधुरां कर्तुं भवन्तं रामाविरहितं कर्तुं वियुक्तपत्नीकं विधातुम् । स्वयमेव विरामः रामविधुरितो रामाविधुरितश्च । वस्तुतस्तु स्वयं विरामोऽवसानं यस्य स तथोक्तः अजनि । स्पष्टमितरत् । अत्रापि पूर्ववदेव सर्वं द्रष्टव्यम् ॥

यथावा—

त्वत्कुचपरिभूतं तावभिभावितुं श्रीशम-

न्ततो धून्वत्। कलशमथ वैशसंगतमग्रे भूत्वाऽपि शकलमेवासीत् ॥ १२५२ ॥

हे श्रीः। कलशं कुम्भः 'कलशस्तु त्रिषु' इत्यमरः। क्लीबमेकमिति भावः। त्वत्कुचाभ्यां द्वाभ्यां पुम्भयामिति भावः। परिभूतं अत एव शमं शान्तिं धून्वत्, क्रुद्धं सदिति यावत्। अन्यत्र कलशं कलशपदं अन्ततः अन्ते विद्यमानं शं शकारं धून्वत् विसृजत् सत् अग्रे भूत्वा त्वत्कुचयोः पुरः स्थित्वाऽपि द्वंद्वयुद्धार्थमिति भावः। वैशसं विशसनं कुचकर्तृकं हिंसनं गतं प्राप्तं सत्। इतरत्र अग्रे मुखभागे वै इति भिन्नं पदं, शसंगतं शकारेण संबद्धं भूत्वा शकलमेव खण्डितमेव। पक्षे शकलमित्येव निष्पन्नमासीदित्यर्थः ॥

यथावा—

अवगणितस्तव वचसा शुचिर्द्विजो हन्त चारुवाकोऽपि। भवति रमेऽलसदूनश्चावाकस्साधु विप्रकृष्टोऽन्ते ॥ १२५३ ॥

हे रमे ! शुचिः विशदः द्विजः खगः हंस इत्यर्थः। शुद्धो विप्र इति च गम्यते। चारुः वाको वचनं यस्य सः चारुवाकः। श्रवणसुभगवचनः शास्त्रीयतया मनोहारिवचनश्च। वाक इत्यत्र वचेर्भावे घञि 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति कुत्वम्। तथाविधोऽपि तव वचसा वचनेन लक्ष्मीतन्त्रादिरूपशास्त्रेणेत्यपि गम्यते। अवगणितः तेन स्पर्धमानोऽवमत इत्यर्थः। महिळालापानां मराळालापसाधर्म्यं च—

आलापैस्तुलितरवाणि माधवीनां
माधुर्यादमलपतत्रिणां कुलानि ॥

इत्यादौ प्रसिद्ध्यति। अत एव अलसः प्रतिकर्तुमपटुः दूनः परितप्तश्च अलसदूनः विशेषणोभयपदकर्मधारयः। अत एव अन्ते दूरतरप्रदेशे साधवो ये विप्राः तैः कृष्टः निष्कासितः साधूनां सतां विप्रकृष्टः दूरस्थ इति वा। 'स्याद्दूरं विप्रकृष्टकम्' इत्यमरः। बहिष्कृत इति भावः। साधु यथास्यात्तथा वीनां पक्षिणां प्रकृष्टः श्रेष्ठ इति वस्तुस्थितिः। चार्वाकः चार्वाकमतावलम्बी भवति। अनुपादेयवचनो भवतीति भावः। यथोच्यते चतुर्विंशतिमते—

अर्हच्चार्वाकवाक्यानि बुद्धादिपठितानि च।
विप्रलम्भकवाक्यानि तानि सर्वाणि वर्जयेत्॥

इति। पक्षे भवतीति संबुद्ध्यन्तम्। हे भवति! पूज्ये इत्यर्थः। अलसदून इत्यत्र अलसत् ऊनः इति च्छेदः। चारुवाकशब्दः ऊनः उकारेण न्यूनः चार्वाक इति निष्पन्नस्सन् अलसदिति योजना। लसतेर्लङ्। यद्वा अलसत् रलयोरभेदात् अरसत् जलदवन्निरर्थकं शब्दमकरोत् अक्रन्ददिति यावत्। 'रस शब्दे' अस्माद्भौवादिकाल्लङ्। अत्र श्रीवचनाभिभवेच्छोरमलद्विजस्य न तदलाभ एव, परं तु तदवगणिततया अलसदूनत्वाद्यनिष्टप्रातिलम्भश्च शब्दार्थतादात्म्यावलम्बिश्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायातिशयसौभाग्यसमासादितोत्कर्ष इति ध्येयम्॥

यथावा—

**अम्ब तवोरुस्पर्धिन्यासीद्धत कदलिकापदाऽभिहता। कलिका सत्यथ नखरैर्वृद्धा भूत्वाऽथ कालिका चिकुरैः॥ १२५४॥**

हे अम्ब! कदलिका रम्भा। स्त्री एकाकिनीति भावः। पक्षे-कदलिकेति शब्दव्यक्तिः तव ऊरुभ्यां 'सक्थि क्लीबे पुमानूरु'

इत्यमरः, द्वाभ्यां पुम्भ्यामिति भावः, स्पर्धत इत्यूरुस्पर्धिनी सती, स्पर्धा संघर्षः स च पराभिभवेच्छा। अत एव पदा पादेन त्वयेति शेषः। अभिहता आसीत्। पक्षे अपदेति च्छेदः। अभिहता सती अपदा अपहृतदकारा आसीदित्यर्थः। अथ कलिका सती कोरकरूपा सती रूपान्तरपरिग्रहेण यत्किञ्चित्त्वद्वस्तुनिरासतो वैरशुद्धिं चिकीर्षन्तीति भावः। पक्षे कदलिकाशब्दव्यक्तिः दकारोत्सारणेन कलिकेति निष्पन्नेत्यर्थः। 'कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः। तव नखरैः नखैः अभिहता पराजिता आसीत्। अथ वृद्धा अभिवृद्धा प्रौढा सती कालिका मेघसंहतिः भूत्वा तज्जन्म लब्ध्वेति भावः। तव चिकुरैः अभिहता अभिभूता आसीत्। कालिका दुर्गादेवी भूत्वाऽपीति गम्यते। 'कालिका योगिनीभिदि। स्वर्णादिदोषे मेघाळ्यां सुरागौर्योर्नवाम्बुदे' इति हेमः। पक्षे वृद्धा कलिकेति शब्दव्यक्तिः आदेरचो वृद्धिं प्राप्य वृद्धसंज्ञा सती 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' इत्यनुशासनात् कालिकेति निनिष्पद्यमानेत्यर्थः। अत्र कदलिकायास्सर्वथाऽपि लक्ष्म्या ऊर्वाद्यभिभवरूपानर्थप्रापणरूपेष्टानवाप्तिः पादाहननाद्यनिष्टपरंपरावाप्तिश्च निबद्धा॥

यथावा—

त्वत्तनुजयाय जहती प्रतिकूलाद्यन्तकाकरूपत्वम्। क्रमतस्सविता भवतात्तदपि रमे कदलिका विदलिता स्यात्॥ १२५५॥

हे रमे! कदलिका रम्भा। तव 'हिरण्यवर्णां' 'आदित्यवर्णे' इति श्रुतिप्रथितवर्णाया इति भावः। तनोः जयाय अभिभवाय प्रतिकूलं स्वाभीप्सितादित्यवर्णश्रीतनुजयविरोधि यत्

आद्यन्तं आद्यन्तावभिव्याप्य आपादमस्तकमिति यावत्, काक-रूपत्वं वायसतुल्यवर्णत्वं इङ्गालवदतिस्निग्धनीलवर्णत्वमिति भावः। पक्षे प्रतिकूलयोः विपर्यस्तयोः आद्यन्तयोः आद्यन्तवर्णयोः काक-रूपत्वं अन्त्यवर्णे कारूपत्वं आद्यवर्णे करूपत्वं चेत्यर्थः। शब्दा-र्थतादात्म्यवैभवेन कदलिकायाः काकरूपतानिर्वाहः। जहती सती क्रमतः कालक्रमेण सविता भास्कर एव भवतात् भूयादि-त्याशीः उपहासार्था। पक्षे क्रमतः आद्यन्तवर्णयोः न तु पूर्व-वद्विपर्ययेणान्त्याद्ययोः सविता वि ता इति वर्णाभ्यां सह वर्तत इति तथोक्ता। क्रमेणादौ विवर्णेन अन्ते तावर्णेन च सहिते-त्यर्थः। स्यात् तदपि तथाऽपि विदलितैव विशीर्णैव स्यात्। स्वेप्सितासिद्धेरिति भावः। कदलिकेति शब्दव्यक्तिरुक्तरीत्या व-र्णविपर्यासेन विदलितेति निष्पद्येतेत्यर्थः। अत्राप्युभयं स्पष्टम्॥

यथावा—

**अवधीरणं विधातुं भवतो नक्तंचरेन्द्र उद्युक्तः।**
**अवधीरणमुपयातं यतनादतनोस्तमेव बत भगवन्॥**

हे भगवन्! नक्तंचरेन्द्रः भवतः अवधीरणं अभिभवं वि-धातुं उद्युक्तः। यतनात् यत्नात् तमेव नक्तंचरेन्द्रमेव अवधीरणं उपयातं प्राप्तवन्तं अतनोः अकरोः। बतेत्याश्चर्ये। अन्यत्र अवधीः रणं इति च्छेदः। अतनोः अनल्पात्। 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इति पुंवद्भावः। यतनात् यत्नात् यततेर्भावे ल्युट्, रणं युद्धं उपयातं तमेव अवधीः हतवानिति योजना। अत्र यद्यपि यथाश्रुतप्राथमिकार्थपक्षेऽपि विवक्षितेष्टानवाप्त्यनिष्ट-प्राप्ती भवत एव। तथाऽपि द्वितीयोक्तार्थप्रदर्शनं उत्कटानिष्टप्राप्ति-रूपचमत्कारातिशयायेति ध्येयम्॥

यथावा—

विजिगीषु हरेर्नयनं भुजगगिरीन्दोः पदाहतं नलिनम् । खञ्जमभूदुच्चारणपाटवविधुरा वदन्ति तत्कञ्जम् ॥ १२५७ ॥

पदाहतं चरणेन ताडितं जितं च । खञ्जं प्रतिहतगतिकम् । 'खजि गतिवैक्लव्ये' इति हि धातुः । 'खोडे खञ्जः' इत्यमरः । इदमपह्नुतिशिरस्कमिति वैलक्षण्यम् । वस्तुतस्त्विदमपह्नुतेरेवोदाहरणमिति युक्तं, तस्या एवात्र प्राधान्येन चमत्कृतिजनकत्वात् । प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्तीत्यसकृदवोचाम । एवमुदाहरणान्तरेऽपि यथायथमूह्यम् ॥

यथावा—

त्वद्धामाक्रमितुं ये बद्धास्थाः पौरुषाद्वृषाद्रिमणे । त्वच्छेषैस्तेऽपास्ताः पाषण्डाश्श्रीपतेऽभवन्षण्डाः ॥ १२५८ ॥

हे वृषाद्रिमणे ! श्रीपते ! ये पाषण्डाः

येऽन्यं देवं परत्वेन वदन्त्यज्ञानमोहिताः ।
नारायणाज्जगन्नाथात्ते वै पाषडिनस्स्मृताः ॥

इत्याद्युक्तलक्षणाः । 'पाषण्डास्सर्वलिङ्गिनः' इत्यमरः । पौरुषात् पराक्रमात् अभिनिवेशादिति यावत् । 'पौरुषं पुरुषस्य स्याद्भावे कर्माणि तेजसि' इति मेदिनी । तव धाम वृषाद्रिस्थं दिव्यालयं तत्र स्थितं त्वदर्चादिव्यविग्रहं च 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । आक्रमितुं स्ववशे विधातुं बद्धास्थाः कृतपणबन्धा इति यावत् । अभूवन् । ते पाषण्डाः त्वच्छेषैः त्वद्दासैः

भागवतैः शेषावतारैर्भगवद्रामानुजमुनिभिरिति हृदयम्। पूजायां बहुवचनम्। अपास्ताः निरस्तास्सन्तः षण्डाः क्लीबकल्पाः निष्पौरुषा अभवन्। पक्षे पाषण्डाः पास्ताः निरस्तपावर्णाः षण्डा इति निष्पन्ना इत्यर्थोऽपि चमत्कारी ॥

अत्र विपक्षोपप्लवविक्लबतया प्रार्थयमानाय भक्तिधनाय कस्मैचिन्महीक्षिते रक्षणार्थं वितीर्णशङ्खचक्रतया शून्यपाणिं दिव्यार्चारूपं भगवन्तं अयं सुब्रह्मण्य एवेति स्ववशे विधातुं तं विवदमानाः कतिचन पाषण्डाः स्वमहिम्ना शेषरूपतो भगवदालय सोमसूत्रान्तराळात्प्रविश्य तमर्चारूपं भगवन्तं ग्राहितशङ्खचक्रं विदधानैश्श्रीभाष्यकारैर्निरस्ता इत्यैतिह्यमनुसंहितम्। अत्र पाषण्डानां त्वद्धामाक्रमणरूपपरानिष्टप्रापणलक्षणेष्टानवाप्तिः षण्डतारूपानिष्टप्राप्तिश्च ॥

निर्विवेदयिषुश्शौरेस्तद्दत्तां विश्वतोमुखाम्।
कवितां हन्त नास्मार्षं बहूदाहृतिसाध्वसम् ॥

एवं परस्य दुःखसाधनप्रापणरूपेष्टाप्राप्तिः स्वस्य दुःखसाधनरूपानिष्टप्राप्तिश्चेत्युभयं दर्शितम्। परस्य सुखसाधननिवृत्तिरूपेष्टार्थोद्योगात्तदनिवृत्तिः, स्वस्य दुःखसाधनप्राप्तिश्चेत्युभयं यथा—

**दशवदनः किल पतिसुखविकलां विपुलात्मजां विधातुमनाः। निजदयितामेव तथा व्यधित रघूत्तमशराहतिव्यथितः ॥ १२५१ ॥**

व्यधित विपूर्वकाद्धातेरात्मनेपदिनः कर्तरि लुङ्, अकार्षीदित्यर्थः। अत्र रावणेन चिकीर्षितं भगवत्या वैदेह्याः पतिसुखवैकल्यं न कृतं, किंतु स्वदयितताया एव तत्संपादितम्। यद्यपि

सुखसाधननिवृत्तेर्दुःखसाधनरूपत्वान्न पृथग्गणना युक्ता, तथाऽपि दुःखसाधननिवृत्तौ सुखस्येव सुखसाधननिवृत्तौ दुःखस्यापि प्रतिनियतकारणजन्यत्वेनानैयत्यात्पृथगुपादानमिति ध्येयम् ॥

यथावा—

वैदेहीकबळनतो विदारयितुमुद्यता रघूत्तंसम् ।
स्वयमेव यातुभगिनी नासाकर्णे विदारिता विकृता ॥ १२६० ॥

विदारं कर्तुं विदारयितुं विकळत्रं कर्तुमित्यर्थः । विदारयितुं विदलयितुमिति च । नासाकर्णे इत्यत्र प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । अत्र भगवतो दाशरथेस्सुखसाधनीभूतवैदेहीकबळनेन दुःखसाधनप्रापणोद्यतायाश्शूर्पणखाया न परं तदलाभः, परंतु आत्मन एव कर्णनासविदारणरूपा नेष्टप्राप्तिः । इयं श्लेषोत्तम्भिता । पूर्वोदाहरणं शुद्धम् ॥

यथावा—

प्रह्लादेन कृतायास्त्वद्भक्तेर्निरसनाय यतमानः ।
नृहरे हिरण्यकशिपुस्त्वत्तस्स्वयमेव निरसनमयासीत् ॥ १२६१ ॥

निरसनाय प्रतिपक्षेपाय । निरसनं प्रतिक्षेपं वधं च । 'निरसनं वधे प्रतिक्षेपे' इति मेदिनी । अत्र हिरण्यकशिपुना विधित्सितं प्रह्लादसंबन्धिनिरतिशयसुखसाधनभूतभगवद्भक्तिकर्मकनिरसनं न विहितं, किंतु स्वयमेव निरसनमासादितम् । इदमपि श्लेषगर्भमेव । परिसंख्यालंकारसंकीर्णत्वं तु सर्वत्र तुल्यमेव ॥

यथावा—

**तव सद्गतिं चरणयोरसहिष्णुस्तच्चुचोरयिषुरेत्य। स्वगतिभ्रंशाद्गजपतिरलभत जपतोऽपि नात्मनस्सत्ताम् ॥ १२६२ ॥**

हे भगवन्! गजपतिः तव चरणयोः पादयोः त्वदीययोः, शाखाध्येत्रोर्विप्रयोरित्यपि गम्यते। 'चरणोऽस्त्री बह्वृचादौ मूले-गोत्रे पदेऽपिच' इति मेदिनी। सद्गतिं प्रशस्तं ज्ञानं उत्तमलोकावाप्तिसाधनभूतां विद्यामिति यावत्। 'गतिस्स्त्री मार्गदशयोर्ज्ञाने यात्राभ्युपाययोः' इति मेदिनी। प्रशस्तं गमनमिति तु तत्वम्। असहिष्णुः। "न लोक" इत्यादिना षष्ठीनिषेधात्कर्मणि द्वितीया। अतएव तच्चुचोरयिषुः त्वच्चरणगतिजिहीर्षुः। एत्य तदभिमुखो भूत्वा स्वगतेः स्वज्ञानस्य स्वगमनस्य च भ्रंशात् भ्रंशं च्युतिं एत्य। ल्यब्लोपे पञ्चमी। जपतोऽपि स्तेयदोषनिरासिवेदाध्ययनेनापि 'स्वाध्यायस्स्याज्जपः' इत्यमरः। आत्मनस्सत्तां स्वस्वरूपस्थितिं सत्तां अभ्यर्हिततां प्रशस्ततां वा। 'सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्' इत्यमरः। नालभत। पक्षे गजपतिशब्दः स्वगतिभ्रंशात् स्वनिष्ठयोः ग ति इति आद्यन्तवर्णयोः भ्रंशं प्राप्य जपतः मध्येऽवशिष्टेनापि वर्णद्वयेन आत्मनस्सत्तां गजपतिरित्याकारकशब्दस्वरूपस्थितिं नालभतेत्यर्थः। अत्र गजपतिना भगवच्चरणयोरुत्तमसुखसाधनभूतसद्गतिनिवृत्तिरूपेष्टार्थो नासादितः, अपितु स्वगतिभ्रंशरूपानिष्टार्थ एव समधिगतः। अयं च चरणादिशब्दप्रतिपाद्यार्थद्वयश्लेषाभित्तिकाभेदाध्यवसायजीवातुक इत्यवधेयम्॥

केवलेष्टानवाप्तिर्यथा—

कैकेयीवरयुगवशादशरथवचनाद्धवन्तमाप्तव-
नम्। विनिवर्तयितुमनीशो न्यवृतद्रघुवंशदिनमणे
भरतः ॥ १२६३ ॥

अत्र भरतस्य स्वाग्रजरामभद्रवनवासनिवर्तनरूपेष्टानवाप्ति-मात्रं निबद्धम् ॥

यथावा—

मूढगुणं व्यपवोढुं गाढं श्रीपरिभृढं व्रजन् शर-
णम्। चेतनवर्गो बाढं समूढगुण एव भवति चित्र-
मिदम् ॥ १२६४ ॥

मूढगुणं मौढ्यमित्यर्थः। सः मूढगुण इति च्छेदः। सः शरणं व्रजन् पुमान् मूढगुण एवेति विरोधः। समूढाः सपुञ्जिताः गुणाः 'अष्टा गुणा पुरुषं भूषयन्ति' इत्युक्ताः महागुणाः यस्य स तथोक्त इति परिहारः। महार्हगुणसंपन्नो भवतीत्यर्थः। 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने' इति विश्वः। अत्र मूढगुणव्यपोहनप्रेप्सोश्चेतनवर्गस्य तदलाभमात्रेमव। न त्वानिष्टान्तरोपलम्भः। पूर्वं शुद्धं, इदं श्लेषसङ्कीर्णमिति विशेषः ॥

यथावा—

अवलम्ब्य त्वत्पदमप्यप्राप्य त्वत्तनूपमामभ्रम्।
अमुखमभूत्किल त्रिष्णो भ्रान्तस्येष्टं कथं भवेत्स-
फलम् ॥ १२६५ ॥

हे विष्णो! त्वत्पदं त्वच्चरणं तत्तदीप्सितानुगुणसकलफलप्रदमिति भावः। पक्षे विष्णुपदं अन्तरिक्षमित्यर्थः। ईदृशार्थविवक्षयैव विष्णो इति संबोधनम्। अभ्रं वारिवाहः त्वत्तनूपमां त्वद्दिव्यविग्रहतुलां तव तनुं अल्पामप्युपमामिति च गम्यते। अलब्ध्वा असुखमभूत्। इयं लोकोक्तिः। ईप्सितानवाप्तिस्त्रपया कस्याचिदपि वदनमुन्नमय्य दर्शयितुं न प्राभवदिति भावः। असुखं अकारसुखवर्णमिति वस्तुस्थितिः, अभ्रशब्दस्य तथात्वात्। तथाहि, भ्रान्तस्य अनवस्थितचेतसः तीव्रतमपवमानविक्षेपक्षुभितस्य च विष्णुपदाश्रयणेऽपि इष्टं ईप्सितं कथं सफलं भवेत्। क्षिप्तविक्षिप्तभूमिगतस्य चित्तस्यैकाग्र्यासिद्धेर्न योगस्यैव निष्पत्तिः कथं तत्साध्यं फलं सिध्येदिति भावः। अभ्रमपि भ्रान्तमेव शब्दार्थयोस्तादात्म्यात्। अत्राभ्रस्य भगवद्दिव्यविग्रहसाम्यरूपेष्टानवाप्तिमात्रं श्लेषसङ्कीर्णत्वं पूर्ववदेव। एवमुत्तरत्रापि। यद्यसुखत्वमानिष्टमित्यभिमतं तर्हीष्टानवाप्त्यानिष्टप्राप्तिरूपस्य एतद्विषमप्रभेदस्यैवेदमुदाहरणं भवितुमर्हतीत्यवधेयम्॥

यथावा—

**आदौ शतक्रतुमणिस्त्वद्रुचिलाभाय तन्तुसंनाहम्। प्राप्तोऽप्यशकनतोऽमुं मुक्त्वाऽऽसीन्नाथ शक्रमणिरेव॥ १२६६॥**

हे नाथ! शतक्रतुमणिः इन्द्रनीलरत्नं आदौ त्वद्रुचिलाभाय तां लब्धुं तन्तोः प्रतिसरसूत्रस्य संनाहं बन्धं प्राप्तोऽपि तदर्थं बद्धकङ्कणोऽपीत्यर्थः। सुवर्णादिसूत्रग्रथनं प्राप्त इति तत्त्वम्। तं तवर्णं तुसंनाहं तुवर्णसंबद्धत्वं च प्राप्त इति वस्तुस्थितिः। अशकनतः त्विवक्षितेप्सितसाधनाशक्तत्वात् अमुं तन्तुसंनाहं प्रोत-

सम्बन्धं मुक्त्वा विसृज्य तं तु संनाहमिति च्छेदः। तुशब्दोऽवधारणे। तं तु तथाविधमेव संनाहं प्राप्तोऽपि अशक्ततया अमुं एवंविधं तं सन्नाहं प्रयत्नमेव मुक्त्वेत्यपि गम्यते। पक्षे तं तकारं तुसंनाहं तुवर्णसंबन्धं च त्यक्त्वा शक्रमणिरेव यथापूर्वमिन्द्रनीलरत्नमेव आसीत्। न तु त्वद्रुचिमलभतेति भावः। पक्षे शतक्रतुमणिशब्दः उपपादितरीत्या तकारतुवर्णयोस्त्यागे शक्रमणिरिति निरपद्यतेत्यर्थः। अत्र शतक्रतुमणेरिष्टालाभमात्रम्। वक्ष्यमाणपूर्वरूपसङ्कीर्णम् ॥

यथावा—

हरिसखि रसालसारस्त्वद्वचनसुधात्मनाऽवतरणाय। अधरितशीर्षोऽपि न तद्विन्देत रसालसार एव स्यात् ॥ १२६७ ॥

रसालसारः इक्षुरसः सहकारफलरसो वा रसालसार एव स्यात् न तु त्वद्वचनसुधात्मनाऽवतरेदित्यर्थः। रसालसारशब्दो विलोमतया पठितोऽपि तुल्यरूप एवेति तत्त्वम्। अन्यत्सुगमम्। अत्र रसालसारस्य केवलमिष्टानवाप्तिः। इदमपि वक्ष्यमाणपूर्वरूपोपस्कृतमेव ॥

यथावा—

विजिगीषु नारिकेलं द्वंद्वप्रथितौ तव स्तनौ तरुणौ। मध्येऽक्षरद्वयश्च्युन्नलिनेक्षणतरुणि नालमेवासीत् ॥ १२६८ ॥

हे नलिनेक्षणतरुणि! इदं च वक्ष्यमाणस्तनतारुण्योपस्कारकम्। नारिकेलं नारिकलफलं कर्तृ क्लीबमेकमेवेति भावः।

द्वंद्वप्रथितौ युद्धप्रख्यातौ। युग्मतया प्रसिद्धाविति वस्तुस्थितिः। द्वंद्वमिति प्रथिताविति विग्रहः। 'द्वंद्वं कलहयुग्मयोः' इत्यमरः। तरुणौ वयस्थौ तव स्तनौ पुमांसौ द्वाविति भावः। विजिगीषु स्वपरबलाबलानालोचनेन जयेच्छामात्रं कृतवादिति भावः। मध्ये इष्टलाभेच्छयोरन्तराले क्षरत् क्षयं प्राप्नुवत्। तत्र हेतुः वयश्च्युदिति। वयसः यौवनरूपाद्वयसः च्यवत इति वयश्च्युत् 'च्यु च्यवने' अस्माद्धौवादिक्विप् तुक्। स्थविरमित्यर्थः। नालमेव असमर्थमेव आसीत् अलं समर्थं नासीदिति वा योजना। नालमात्रावशिष्टमित्यपि गम्यते स्वयं षण्डो वृद्धः क्षीण एकश्च द्वौ युद्धोद्धतौ वयस्थौ वयस्स्थाथितौ च विजेतुं कथं शक्नुयादिति भावः। पक्षे नारिकेळं नारिकेळमिति पदं मध्ये अन्तराले अक्षरद्वयश्च्युदिति समस्तं पदम्। अक्षरद्वयं वर्णयुग्मं श्चोततीति तथोक्तम्। 'श्च्युतिर् क्षरणे' अस्माद्धौवादिकात्क्विप्। द्रवद्रव्यकर्तृक एवायमकर्मकः स्रवतिवत्। अत्राद्रवद्रव्यकर्तृकत्वेन सकर्मत्वम्। अक्षरद्वयात् श्चोततीति वा विग्रहः। वर्णद्वयच्युतमित्यर्थः। नालमित्येवासीत्। नारिकेलमिति पदं रि के इति वर्णद्वयविधुरं नालमित्येवावशिष्टमभूदित्यर्थः। अत्र नारिकेलस्येष्टालाभमात्रम्। इष्टस्य परानर्थप्रापणरूपत्वाविवक्षायामिदं वक्ष्यमाणप्रभेदस्यैवोदाहरणं भविष्यतीति ध्येयम्॥

यथावा—

ये वैतरण्यतीतेस्तव जननि जना हरिं दिदृक्षन्ते। तान्वैतरण्यतीतेर्दर्शयासि हरिं न जात्विति विचित्रम्॥ १२६१॥

हे जननि! ये तव जनाः त्वद्भक्ताः। वै इति प्रसिद्धौ। तरण्यतीतेः सूर्यातिक्रमं प्राप्य भानुमण्डलभेदनपूर्वकमिति भावः। हरिं वासुदेवं दिदृक्षन्ते द्रष्टुमिच्छन्ति 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इति तङ्। तान् जनान् जात्वपि तरण्यतीतेः हरिं न दर्शयसि वै। इदं विचित्रम्। वैतरण्यतीतेरिति समस्तं पदम्। वैतरण्याः यमपुरद्वारतरङ्गिण्याः अतीतेः हरिं यमं न दर्शयसीति परिहारः। 'दृशेश्च' इति द्विकर्मकत्वम्। अत्र श्रीभक्तानामिष्टालाभमात्रं श्लेषेण दर्शितम्॥

यथावा--

आश्रित्यानन्तपदं तपत्वधश्शीर्षमेव तदपि रमे। भविता यथापुरं न तु तव पदरुचि जन्म भानुभा भजते॥ १२७०॥

भानुभा रविप्रभा। अनन्तपदं भगवच्चरणं अन्तरिक्षस्थानं च आश्रित्य तपतु तपश्चरतु तापं भजतु च। यथापुरमेव भविता भानुभैव भवेत्। न तु त्वच्चरणप्रभात्मना जन्म भजते। भानुभाशब्दो विलोमत्वेऽपि भानुभेत्येव संपद्यते न त्वन्यामानुपूर्वीं लभते। अत्र भानुभाया लक्ष्मीचरणप्रभात्मना जन्म प्रेप्सोरधश्शीर्षं भगवच्चरणे तपश्चर्ययाऽपि तदलाभमात्रं निबद्धम्। श्लेषपूर्वरूपसंकीर्णम्॥

यथावा--

ननु कालिकाऽखिलाम्ब त्वत्कबरीजन्म लब्धुमिच्छन्ती। अथ यद्यधश्शिरास्स्यात्तदाऽपि सा कालिकैव न तु कबरी॥ १२७१॥

कालिका कादम्बिनी। 'मेघजालेऽपि कालिका' इत्यमरः। अत्रापि कालिकाया इष्टानवाप्तिमात्रं पूर्वरूपसंभावनासंकीर्णम् ॥

केवलानिष्टप्रतिलम्भो यथा—

पद्माकरपद्मस्थितियोग्यं स्यामिति विवल्गसि न वेत्सि। तेन परिभूतिमम्बुज जडजातत्वं तवैतदेव खलु ॥ १२७२ ॥

हे अम्बुज! पद्मायाः लक्ष्म्याः करपद्मे पाणिपङ्कजे या स्थितिः अवस्थानं तस्याः योग्यं स्यामिति विवल्गसि उत्प्लवसे। तेन श्रीपाणिपद्मेन। तवेत्येतदुत्तरवाक्यादपकृष्यते। तव परिभूतिं न वेत्सि। 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति कर्मण्येव षष्ठी न तु कर्तरि। स्पष्टमन्यत् ॥

यथावा—

अधिरोहसि वृषभूमिभृदधित्यकां घन रमेशसेवेच्छुः। स हि हरते तव लक्ष्मीं न हि जडहृद्वेद भावनमनर्थम् ॥ १२७३ ॥

हे घन! हे जीमूत! वृषभूमिभृतः अधित्यकां ऊर्ध्वभूमिं 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। जडहृत् स्तब्धमनाः लडयोरभेदात् जलं हृदि अन्तःप्रदेशे यस्य स तथोक्तः। समुद्राज्जलं हरतीति वा तथोक्तः। स्फुटार्थमन्यत्। अत्र उदाहरणद्वये क्रमेण अम्बुजाम्बुदयोर्लक्ष्मीकरपद्मस्थितियोग्यत्वभाग्यश्रीनिवाससेवाभागधेयरूपेष्टार्थलाभौ स्त एव। किंतु तत्कर्तृकपरिभूतिलक्ष्मीहरणरूपोत्कटानिष्टप्रतिलम्भावपीति केवलानिष्टप्रतिलम्भरूपाविषमामदम् ॥

यथावा—

कमलं त्वन्नयनरुचा प्रमथितरोचिः प्रपद्य पुं-
स्त्वमथ। वञ्चयितुमुपेत्य त्वां त्वया पराहण्यते
पुरा राम ॥ १२७४ ॥

हे राम! इदं वक्ष्यमाणार्थस्य तदवतारकृतत्वद्योतनाय। कमलं नालिनं क्लीबमिति भावः। त्वन्नयनरुचा स्त्रियेति भावः। प्रमथितरोचिस्सत् अथ पुंस्त्वं पुरुषत्वं पुल्लिङ्गतां च प्रपद्य तत्प्रतीकारार्थं कमलो मायामृगो भूत्वेति भावः। 'स्यात्कुरङ्गेऽपि कमलः' इत्यमरः। पुरा पराहण्यते पराहण्यतेत्यर्थः। 'पुरि लुङ्चास्मे' इति पुराशब्दयोगे भूतेऽर्थे लट्। 'हन्तेरत्पूर्वस्य' इति णत्वम्। स्पष्टमितरत्। अत्र कमलस्य श्रीरामवञ्चनरूपेष्टासिद्धिरस्त्येव। परंतु पराहतिरूपोत्कटानिष्टप्रतिलम्भश्चेतीदमपि केवलानिष्टप्रतिलम्भरूपमेव॥

यथावा—

ननु चपलेऽशनिसहभूर्नित्यश्रीप्सुरिश्रता श्रियो
मध्यम्। भवसि च यथेप्सितश्रीरशनाभावः प-
रंतु तेऽत्र स्यात् ॥ १२७५ ॥

अशनिनां अशनवतां, भूम्नि नित्ययोगे वा मत्वर्थीय इनिः। सहभूः सहजन्मा, तैस्सह जातेत्यर्थः। तस्यास्संबुद्धिः हे अशनिसहभूः! पक्षे अशनेः वज्रस्य सहभूः विद्युदशन्योरेकत्रावस्थानात्तथोक्तिः। नन्विति सुकुमारामन्त्रणे। ननु चपले हे सौदामनि! चापल्यं सूचयितुमिदम्। त्वं नित्याश्रियं अचञ्चलां लक्ष्मीं इप्सुस्सती श्रियः संपदः भगवत्या लक्ष्म्याश्च

मध्यं अन्तरं अवलग्नं च श्रिता सती यथेप्सितश्रीश्च भवसि परंतु ते तव अत्र श्रीमध्ये अशनाभावः स्यात् आहारदौर्लभ्यं भवेत् अशनशालिसहभूस्त्वं तावन्मात्रेणापरितुष्यन्ती ततोऽतिशयितां श्रियमपेक्षमाणा तां लभस एव परंत्वशनाभावरूपमहानिष्टं च लप्स्यसे इति भावः। यथोच्यते—

यावद्भ्रियेत जठरं तावत्कुर्यादुपार्जनम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

इति। शनिसहभूरिति च लभ्यते। तदा शनिना सह स्थिता शनिपीडितेति यावत्। एवं शनिपीडितायाः कथंचिदिष्टलाभेऽप्यनिष्टलाभो दुष्परिहार इति भावः। पक्षे यथेप्सितश्रीः रशना भाव इति च्छेदः। 'रो रि' इति रेफलोपः। ते तव रशनाभावः मेखलात्वं स्यात्। नित्यश्रीमत्तया श्रियो मध्यभागेऽवस्थानात्तव रशनात्वं भवेदेवेति भावः। 'सप्तकी रशना तथा' इत्यमरः। अत्रापि पूर्ववदेव केवलानिष्टलाभः॥

यथावा—

**करिकरपीडां व्युदसितुमरविन्दं त्वत्करात्मनाऽऽविरभूत्। हरिकरपीडनमलभत सरसिजनयनप्रिये तदत्रापि॥ १२७६॥**

हरेः सिंहस्य भगवतश्च करपीडनं हस्तोपमर्दः, पक्षे करपीडनं पाणिग्रहणमित्यर्थः। तत् अरविन्दम्। अत्रापि अरविन्दजन्मन्यपि। अत्रारविन्दस्य करिकरपीडाव्युदसनरूपेष्टावाप्तिसद्भावेऽपि हरिकरपीडनरूपानिष्टप्रतिलम्भश्च भवतीतीदमपि केवलानिष्टप्रतिलम्भ एव। श्लेषमहिम्ना इष्टतमस्याप्यानिष्टतासंपादनमिति ध्येयम्॥

याथावा—

इनसुहृदा राज्ञा त्वं मया सदृक्स्या इतीच्छुर-
खिलविभो । तव दृग्गत एवाभूदिनान्वितो हन्त दू-
त एवेन्दुः ॥ १२७७ ॥

हे अखिलविभो! इन्दुः इनसुहृदा अनेकप्रभुमित्रेण, पक्षे भानुसहितेन राज्ञा नृपेण चन्द्रेण च। मया त्वं सदृक् तुल्यः दृग्भ्यां सहितश्च मयेत्यत्र तृतीयाया अभेदोऽर्थः। तथाच सूर्यसहितमदभिन्ननयनद्वयवानिति भावः। स्याः। इति इच्छुः काङ्क्षन् सन् 'विन्दुरिच्छुः' इति निपातनात्साधुः। तव अखिलजगद्राजाधिराजस्येति भावः। दृग्गतः दृष्टिपथगतमात्र एवेति भावः। इनान्वितः स्वसुहृदनेकप्रभुसाहितस्सन् तव दूत एव संदेशहर एव अभूत्। त्वद्दर्शनावसरे आत्मानमेव महाराजं मन्यमनोऽखिललोकनाथमपि त्वां स्वसदृशं चिकीर्षुरभ्येत्य त्वद्दर्शनमात्रेणैव त्यक्ताभिमानस्स्वपक्षीयप्रभुभिस्सह तव दूत्यमलभतेति भावः। इनान्वितः सूर्यसहितः तव दृग्गतः दृष्टिस्थानं प्रपन्न एवाभूत्। चन्द्रसूर्ययोरुभयोरपि तन्नयनत्वश्रवणादिति भावः। नैतावदेव। दूत एवाभूत्। 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्युक्तरीत्या तच्छासनानातिवर्त्यभूदिति भावः। पक्षे इन्दुशब्दः इना इन्निति वर्णसमुदायेन अन्वितः दूतः दुना दुवर्णेन ऊतः स्यूतः युक्त एवेत्यर्थः। अभूत्। इन्दुशब्दस्य ताद्विध्यादिति भावः। अत्र सदृक्त्वप्रेप्सोरिन्दोस्सदृक्छब्दप्रतिपाद्यसदृशसदृष्टिरूपार्थद्वयश्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायवैभवेन तादृशेप्सितलाभोऽस्त्येव। तथाऽपि दूतत्वरूपानिष्टोपलम्भोऽपि भवतीत्ययमपि केवलानिष्टप्रातिलम्भ एव॥

यथावा—

क्वाप्यप्रतिकूलास्त्वत्कबरीसख्याय कालिका यतमानाः। प्राप्यान्तरालितामपि काका आसन्विपर्ययेऽपि तथैव ॥ १२७८॥

हे श्रीः! इति सामर्थ्याल्लभ्यते। कालिकाः कादम्बिन्यः 'मेघजालेऽपि कालिका' इत्यमरः। पक्षे कालिकाशब्दोऽपि। अर्थगते स्त्रीत्वबहुत्वे शब्दे आरोप्येते। क्वापि क्वचिदपि अप्रतिकूलाः प्रातिकूल्यरहितास्सत्यः। न हि प्रातिकूल्ये सख्यं सिध्यतीति भावः। पक्षे प्रतिलोमत्वेऽप्यवैरूप्यं भजमाना इत्यर्थः। त्वत्कबर्याः सख्याय मैत्र्याय तुलनायेति वस्तुस्थितिः। यतमानास्सत्यः आन्तरालितां अन्तरे भवाः आन्तर्यः ताश्च ताः आळयश्च आन्तराळयः। 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवद्भावः। तासां भावः तत्ता तां अन्तरङ्गसखीत्वमित्यर्थः। 'आळिस्सखी वयस्या च' इत्यमरः। प्राप्यापि काकाः वायसाः आसन्। विपर्यये प्रळयेऽपीति यावत्। तथैव काका एव आसन्। न तु युक्तरूपाः। पक्षे अन्तरा मध्ये आळितां ळिवर्णशून्यतां प्राप्य काका अपीति योजना। काका इत्यप्यासन्। अथ विपर्यये विलोमत्वेऽपि काका इत्येवासन् न त्वन्यानुपूर्वीकाः। अत्र कालिकानां प्राप्यान्तरालिताशब्दप्रतिपाद्यार्थद्वयश्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमहिम्ना श्रीकबरीसख्यरूपेष्टलाभाक्षतावपि काकतारूपानिष्टान्तरावाप्तिश्च श्लेषमहिम्ना भवतीतीदमपि केवलानिष्टप्राप्तिरूपविषमम् ॥

अनिष्टपरिहाररूपेष्टानवाप्तिर्यथा—

अत्रासा निवसामेत्यत्रास्ये तव रदात्मना जा-

ताः । मुक्ता भगवन्नभवन्नत्राप्येता महाभयाकलिताः ॥ १२७९ ॥

मुक्ताः मौक्तिकानि अत्रासाः निर्भयास्सत्यः अन्यत्र मणिदोषविधुरास्सत्यः 'त्रासो भीमणिदोषयोः' इति विश्वः। अत्र निवसामोति तव आस्ये रदात्मना दन्तरूपेण जातास्सत्यः अत्रापि त्वदास्येऽपि एताः मुक्ताः महाभयेन महता त्रासेन आकलिताः। महत्या अभया कलिता इति वस्तुस्थितिः॥

यथावा—

विपदान्वितं भवं त्वं विनेष्यसीति श्रयेमहि भवन्तम् । विपुलयसि तदेव त्वं विचित्रमेतद्वृषाचलद्युमणे ॥ १२८० ॥

अत्राद्योदाहरणे केवलं मुक्तानां त्रासशब्दप्रतिपाद्यार्थद्वयश्लेषगृहीतभयरूपानिष्टपरिहारलक्षणेष्टानवाप्तिर्दर्शिता । द्वितीयोदाहरणे विपदा आपदा अन्वितं भवं संसारं, पक्षे वि इत्याकारकपदेनान्वितं भवं विभवमिति शब्दार्थतादात्म्यमूलकश्लेषमहिम्ना आनिष्टपरिहाररूपेष्टानवाप्तिः प्रकाशिता ॥

यथावा—

अरिदरगदाकरत्वं परिहर्तुं त्वां भजन्ति ये मनुजाः । अरिदरगदाकरत्वं सन्ततमेषां त्वमन्ततस्तनुषे ॥ १२८१ ॥

अरयः कामादयः दरः भयं तत्प्रयुक्तम्। गदः तत्प्रयुक्तो व्याधिः। तेषामाकरत्वं आश्रयत्वं परिहर्तुं । उत्तरार्धेऽप्येवम्।

वस्तुतस्तु अरिदरगदाकरत्वं चक्रशङ्खगदापाणित्वमित्यर्थः । भगवत्सारूप्यमिति भावः । अत्रापि अरिदरगदाकरत्वलक्षणानर्थपरिहाररूपेष्टानवाप्तिश्श्लेषमाहिम्ना निबद्धा ॥

यथावा—

त्वद्वदनरुचिद्वेषाच्छ्वाद्यत्वं प्राप्य तद्व्यपनुनुत्सुः।
अधरिताशिरा भवन्नपि स पुष्करे तज्जहौ न शुभ्रांशुः ॥ १२८२ ॥

हे भगवन् ! शुभ्रांशुः चन्द्रमाः त्वद्वदनरुचौ द्वेषात् श्वाद्यत्वं शुनामादित्वं शुनकाग्रेसरत्वमित्यर्थः । श्वा आद्यः भक्ष्यो यस्येति वा श्वपाकत्वमित्यर्थः । प्राप्य,

देवं नारायणं विष्णुं यो द्वेष्टि जगतां प्रभुम् ।
श्वानयोनिसहस्रान्ते श्वपाकेषु स जायते ॥

इति स्मरणात् । भगवद्वदनारविन्दाविद्वेषस्येदमल्पं फलमिति भावः । पक्षे शुवर्णः आद्यः प्राथमिको यस्य सः श्वाद्यः तत्त्वम् । वाच्यवाचकयोस्तादात्म्यात् । प्राप्य तत् श्वाद्यत्वं व्यपनुनुत्सुः व्यपनोदितुमिच्छुः पुष्करे तन्नाम्नि तीर्थविशेषे अन्तरिक्षे च । अधरिताशिराः अवाक्छीर्षो भवन्नपि तथा तपस्यन्नपीति भावः । अस्ताभिमुख्यदशायामन्तरिक्षे चन्द्रबिम्बस्य अवाक्छिरस्त्वेन दर्शनात्तथोक्तिः । पक्षे विलोमतश्च स्थितोऽपीत्यर्थः । तत् श्वाद्य वं न जहौ । यथापुरं शुनामग्रणीः श्वभक्षको वाऽभूत् । न तु स्वाभीप्सितं लब्धवान् । भगवद्विद्वेषिणां पुण्यतीर्थनिषेवणमपि न शोधकमिति भावः ।

ये द्विषन्ति महात्मानं न स्मरन्ति च केशवम् ।
न तेषां पुण्यतीर्थेषु गतिस्संसर्गिणामपि ॥

इति महाभारतात्। पक्षे शुभ्रांशुशब्दो विलोमतया पठितोऽपि शुभ्रांशुरित्येव भवन् शुवर्णाद्यत्वं न जहावित्यर्थः। अत्र शुभ्रांशोरनिष्टपरिहाररूपेष्टानवाप्तिः॥

यथावा--

अभितश्शुनाऽभिमृष्टोऽस्म्यहमिति शुभ्रांशुरतितरां भ्रान्तः। तदपनयायानन्ते पतन्नधश्शीर्षमपि तथैवाभूत्॥ १२८३॥

शुभ्रांशुः अभितः सर्वतः उभयतश्च शुना शुनकेन शुवर्णेन च अभिमृष्टः स्पृष्टः अस्मीति अतितरां भ्रान्तः भ्रान्तिमान्। पक्षे भ्रः भ्र इति वर्णसमुदयः अन्ते मध्ये यस्य स तथोक्तः। तदपनयाय तस्य अभितश्शुना स्पृष्टत्वभ्रमस्यापनोदनाय अनन्ते भगवति अन्तरिक्षे च अधश्शीर्षं पतन्नपि विलोमतया स्थितोऽपीति च तथैवाभूत् भ्रान्त एवाभूत् पक्षे शुभ्रांशुरित्येवाभूत्। न त्वन्यथा। अत्र शुभ्रांशोः पूर्ववदेवेष्टानवाप्तिः॥

यथावा—

सुतरांशुमयोऽप्यादावन्ते च तवाननश्रियमलब्ध्वा। क्लान्तस्थितिमैन्न जहौ शुक्लांशुरधश्शिरः पतन्नपि ताम्॥ १२८४॥

हे भगवन्! शुक्लांशुः सितकरः आदौ मासादौ अन्ते मासान्ते च। इदं पूर्णिमाद्यन्तमासाभिप्रायेणोक्तम्। सुतराञ्च ते अंशवश्च तन्मयोऽपि प्राचुर्ये मयट्। तव आननश्रियं अलब्ध्वा क्लान्तस्थितिं ग्लानस्थितिं ग्लानिमित्यर्थः। ऐत् अगात्। अथ अधश्शिरः पतन्नपि तां न जहौ ग्लानिस्थितिं नात्याक्षीत्। पक्षे

शुक्लांशुशब्दः सुतरां अतितरां आदावन्ते च शुमयः शुवर्णप्रचुरः आद्यन्तयोः शुवर्णस्यैव जागरूकत्वादिति भावः। अधश्शिरः निपतितोऽपि व्यत्यस्ततया स्थितोऽपीति यावत्। क्ला इति वर्ण समुदायस्य अन्तस्थितिं मध्ये सत्तां न जहौ। तस्य वैपरीत्येऽपि तादवस्थ्यादिति भावः। अत्रापि पूर्ववदेव सर्वम्॥

यथावा—

त्वां स्तोता सकलकविः स्तोता तु परस्य विकलकविरेव। अधरितशीर्षोऽपि भवन्विकलकविस्स्यादयं न सकलकविः॥ १२८५॥

सकलकविः संपूर्णकविः महाकविरित्यर्थः। विकलकविः क्षुद्रकविः। अत्र विकलकवेस्स्वानर्थपरिहाररूपेष्टालाभः॥

यथावा—

त्वत्तेजोऽभिहतौ जानुभङ्गभाग्भानुभास्सती भाभाः। स्याद्यदि पुनः प्रसव्या यथापुरं स्यान्न तु त्वदोजोभाः॥ १२८६॥

हे भगवन्! भानुभाः भास्वत्प्रभा। त्वत्तेजस्तौल्यलिप्सुरिति सामर्थ्यादवगम्यते। त्वत्तेजोऽभिहतौ सत्यां त्वत्प्रतापकर्तृकाभिहनने सति जानुभङ्गभाक् जानुनोः ऊरुपर्वणोः भङ्गं अवमर्दं भजतीति तथोक्ता भग्नजानुस्सतीत्यर्थः। अत एव भाभाः नभासत इत्यभाः। भासतेः क्विप्। भया प्रभया अभाः भाभाः। नभातीति विग्रहे भातेः क्विप्। विश्वपाशब्दवदादन्तः। उभयथाऽपि प्रभया अप्रकाशमानेत्यर्थः। यद्वा भं नक्षत्रमिव आ ईषत् भासत इति भातीति वा भाभाः आदौ महाप्रकाशा जानुभङ्गा-

नन्तरमल्पतरप्रकाशेत्यर्थः । पक्षे भानुभा इति शब्दव्यक्तिः त्वत्तेजोऽभिहतौजाः नुभङ्गामिति छेदः । तव तेजसा अभिहतं ओजः बलं अवष्टम्भः प्रभावो वा यस्यास्सा तथोक्ता 'ओजो दीप्तावष्टम्भे प्रभावबलयोरपि' इति मेदिनी । नुभङ्गभाक् नुवर्णभ्रंशं प्राप्ता अत एव भाभास्सती भाभा इति निष्पन्ना सती पुनः आदौ उक्तरीत्या परिभवं सत्यपीति भावः । प्रसव्या प्राप्तानिष्टपरिहारपूर्वकं त्वत्तेजस्तौल्यलाभाय तस्य प्रतिकूला अनुकूला वा यदि स्यात् 'प्रसव्यं वाच्यलिङ्गं स्यात् प्रतिकूलानुकूलयोः' इति मेदिनी । तदाऽपि यथापुरमेव स्यात् भाभा एव स्यात् अप्रकाशप्रभावा अत्यल्पप्रकाशा वा भवेत्। न तु त्वदोज इव भातीति त्वदोजोभाः स्यात् पक्षे भाभा इति निष्पन्ना भानुभाशब्दव्यक्तिः प्रसव्या अनुलोमा प्रतिलोमा वा भाभा इत्येव स्यात् न तु त्वदोजोभा इत्यानुपूर्वीयुतेत्यर्थः । यदि पुनः प्रसव्या स्यादित्यनेन भानुभासः पराहतेः पूर्वमपि प्रसव्यत्वेऽपि यथापूर्वावस्थावस्थितत्वमेवेति गम्यते । एवं शब्दरूपार्थपक्षेऽपि, भानुभाशब्दस्यापि भाभाशब्दस्येवानुलोमप्रतिलोमावस्थयोस्तुल्यरूपत्वात् । अत्र भानुभासः प्राप्तभाभारूपानर्थनिवारणलक्षणेष्टानवाप्तिमात्रम् । तच्च तस्याः भगवत्तेजस्तौल्यरूपेष्टालाभपूर्वकजानुभङ्गाद्यनिष्टलाभलक्षणप्रागुक्तैतद्विषमप्रभेदेन दत्तहस्तमिति पूर्वापेक्षया विशेषः ॥

यथावा—

यत्त्वद्गमनं प्रेप्सत्तदगत्वा देवदेव गजराजः ।
प्राप्य जराजत्वमधश्शीर्षोऽपि ततो जराजतां न जहौ ॥ १२८७ ॥

हे देवदेव! गजराजः यत् त्वद्गमनं त्वद्गमनतुल्यगमनमित्यर्थः। प्रैप्सत् प्राप्तुमैच्छत् तत् त्वद्गमनं अगत्वा अप्राप्य। यद्वा तदगत्वात् एव देवेति च्छेदः। हे देव न गच्छतीत्यगः। तस्य अगः तदगः तस्य भावः तदगत्वं तस्मादेव त्वद्गमनाप्राप्तेरेवेत्यर्थ। जराजत्वं जरान्वितच्छागत्वं, यद्वा जीर्यतीति जरः पचाद्यच्। स चासावजः जीर्णच्छागः तत्वं गमनसौन्दर्यशक्तिवैकल्येन तत्तौल्यमिति यावत्। प्राप्य, पक्षे गजराजशब्दः अगत्वात् गकाररहितत्वात् जराजत्वं जराजशब्दत्वं प्राप्येत्यर्थः। ततः अधश्शीर्षोऽपीति लोकोक्तेः। पक्षे वैपरीत्यं प्राप्तोऽपि जराजतां उभयथाऽपि जराजत्वं न जहौ। जराज इत्येवासीत्। न तु तां पर्यहार्षीदिति भावः। अत्र गजराजस्य प्राप्तजराजत्वरूपानिष्टपरिहारलक्षणेष्टानवाप्तिमात्रं प्राधान्येन प्रतिपाद्यते। भगवद्गमनतौल्यरूपेष्टानवाप्तिपूर्वकजराजत्वरूपानिष्टप्राप्तिलक्षणैतद्विषमविशेषस्त्वङ्गतयेति पूर्वोदाहरणवदेव सर्वम्॥

यथावा—

**त्वद्यशसा धुत इन्दुस्स्वसुहृदमिनमाप सोऽपि तव महसा। विधुतस्तमेनमौज्झीदिनोज्झितोऽभवदयं च दुस्थितिमान्॥ १२८८॥**

हे भगवन्! इन्दुः त्वद्यशसा धुतस्सन् स्वसुहृदं स्वमित्रं इनं कंचन राजानं आप। स्वानर्थपरिहारायेति भावः। पक्षे इनं भानुं तस्य तत्सुहृत्त्वं ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धम्। आप। अपचितकलस्तदुपचयाय दर्शे रविमण्डलमासादितवानित्यर्थः। सोऽपि स राजाऽपि स भानुरपि तव महसा 'दिवि सूर्यसहस्रस्य' इत्युक्तप्रकारेण तेजसा विधुतः विशेषेण कम्पितः तमेनं स्व-

स्याप्यनिष्टहेतुभूतमिन्दुं औज्झीत् व्यस्राक्षीत् । शुक्लपक्षादौ रविमण्डलादस्य विश्लेषः प्रसिद्ध एवेति भावः। इनोज्झितः इनेन तेन राज्ञा भानुना च उज्झितः स्वानिष्टहेतुरयमिति विसृष्टः अयं इन्दुश्च दुस्थितिमान् दुरवस्थावान् अभूत् । वस्तुतस्तु इन्दुशब्दः इना इन् इति वर्णसमुदयेन उज्झितः दुस्थितिमान् दुरिति वर्णसमुदयस्थितिमान् अभूदित्यर्थः। अत्र न केवलमिन्दोस्स्वानर्थपरिहाररूपेष्टानवाप्तिः, किन्तु स्वाश्रयस्याप्यनर्थप्राप्तिरिति विशेषः॥

यथावा--

अतिघोरं निस्सारं संसारं दूरमुज्झितुमपारम्।
उद्युञ्जे पुरुषोत्तम कुरुषे करुणां कुतो न सादरणाम् ॥ १२८९ ॥

उद्युञ्जे उद्युक्तोऽस्मि । उत्पूर्वकाद्युजेः रौधादिकात्कर्तरि लडुत्तमपुरुषैकवचनम् । अत्रार्तस्य भगवत्प्रपन्नस्य संसाररूपानर्थपरिहारलक्षणेष्टानवाप्तिमात्रम्। इदं शुद्धमुदाहरणम् । प्राचीनानि तु श्लेषादिसंकीर्णानीति विशेषः॥

परानिष्टप्रापणरूपेष्टानवाप्तिर्यथा—

भीष्मं त्वां धृतचक्रं भीष्मं हन्तुं द्रवन्तमत्यन्तम्। पार्थस्सरभसमरुणत्सार्थां संधां च वीक्ष्य स ननन्द ॥ १२९० ॥

भीष्मं दारुणं यथास्यात्तथा भीष्मं शान्तनवं हन्तुं धृतचक्रं अत्यन्तं द्रवन्तम् । स च भीष्मश्च संधां 'अशस्त्रग्रहणं

प्रतिश्रुतवन्तं भगवन्तं शस्त्रं ग्राहयिष्यास्म्येव' इति स्वकृतां प्रतिज्ञां सार्थां भगवत्कृतचक्रग्रहणेन सफलां वीक्ष्य ननन्द । अत्र भगवतो भीष्महननरूपपरानिष्टप्रापणलक्षणेष्टानवाप्तिर्निबद्धा । अत्रैव भीष्मस्य स्वप्रतिज्ञानिर्वहणरूपसुखसाधनार्थप्राप्तिः वधरूपदुःखसाधनानर्थनाशः, भगवतश्च स्वप्रतिज्ञाभङ्गरूपदुःखसाधनानर्थप्राप्तिश्च निबद्धेति सूक्ष्मया दृशाऽवधातव्यम् ॥

यथावा—

निशिचरवधूकदम्बं मदम्ब हन्तुमपि यतनवान् हनुमान् । करुणतमतावकवचस्सरणिगतिप्रातिहताभिलषितोऽभूत् ॥ १२११ ॥

निशिचरवध्वः एकाक्ष्येककर्ण्यादिकाः तासां कदम्बं हन्तुं रावणवधानन्तरं त्वत्समाश्वासनावसर इति भावः । यथोच्यते श्रीमति रामायणे हनूमता—

इमास्तु खलु राक्षस्यो यदि त्वमनुमन्यसे ।
हन्तुमिच्छाम्यहं सर्वा याभिस्त्वं तर्जिता पुरा ॥

इत्यादि । करुणतमतावकवचसां—

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवङ्गम ।
कार्यं करुणमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥

इत्यादिवचननाम् । स्पष्टमन्यत् । अत्रापि हनूमतो रक्षस्स्त्रीहननलक्षणपरानिष्टप्रापणरूपेष्टानवाप्तिः ॥

यथावा—

यत्पदमियात्त्वदीयश्श्रीदश्रीर्धीरधीः प्रदीप्रश्च ।
तत्पदविपर्ययाय प्रभवेत्को वा कृतप्रयत्नोऽपि ॥

हे भगवन्निति प्रकरणाल्लभ्यते। त्वदीयः त्वद्भक्तः श्रीदश्रीः धनदतुल्यविभवः धीरधीः महामतिः, आभ्यां संपत्सारस्वतोभयसमृद्धिरुक्ता। अत एव प्रदीप्रः अतिमात्रद्युतिशाली च सन् यत्पदं ऐहिकमामुष्मिकमापवर्गिकं वा स्थानं इयात् प्राप्नुयात् तत्पदस्य तदार्जितस्य स्थानस्य विपर्ययाय प्रळयाय कृतप्रयत्नोऽपि को वा प्रभवेत् न कोऽपीति भावः। यद्वा कः ब्रह्माऽपि प्रभवेद्वा इति योजना। सोऽपि न प्रभवेदेवेति भावः। पक्षे त्वदीयः यत्पदं श्रीदश्रीरित्यादिकं यत्पदं इयात् तत्पदस्य विपर्ययाय वैलोम्याय कृतप्रयत्नोऽपि को वा प्रभवेत्। महता यत्नेन प्रातिलोम्येन पाठेऽपि पूर्वानुपूर्व्या एव विद्यमानत्वात्। अत्र भगवद्भक्तसाधितपदविपर्यासलक्षणपरानिष्टप्रापणरूपेष्टार्थालाभः पृथग्जनस्य वर्णितः। इदं श्लेषसंकीर्णम। पूर्वोदाहरणे तु शुद्धे॥

यथावा—

**यद्यचिकीर्षिष्यत ते प्रतापमतिभीष्ममपगतोष्माणम्। निशिचरकुलमभविष्यत्स तदाऽप्यतिभीम एव दाशरथे॥ १२१३॥**

हे दाशरथे! निशिचरकुलं कर्तृ अतिभीष्मं अतिदारुणं ते तव प्रतापं अपगतः ऊष्मा उष्णता दारुणत्वं यस्य तं तथोक्तं अचिकीर्षिष्यत यदि कर्तुमैषिष्यच्चेत्। करोतेस्सन्नन्तात्क्रियातिपत्तौ लृङ्। तदाऽपि सः तव प्रतापः अतिभीम एव अभविष्यत् अनपनोद्योष्मतया अतिभीष्म एव समपत्स्यतेति भावः। पक्षे अतिभीष्मशब्दं षकाररूपोष्मवर्णविधुरं समपादयिष्यत चेत् अतिभीम इत्येव स निरपत्स्यतेत्यर्थोऽपि चमत्कारी। अत्र नि-

शिचरकुलस्य भगवत्प्रतापनिरूष्मताकरणलक्षणेष्टानवाप्तिस्संभावनारूपेण दर्शिता। एवं तृतीयविषमप्रभेदे अष्टाववान्तरप्रभेदा उपदर्शिताः। भेदान्तराण्यप्येवमेवोदाहार्याणीति विस्तरातिभूमिभयाद्विरम्यते ॥

यत्र केनचित्स्वेष्टसिद्ध्यर्थं नियुक्तेनान्येन नियोक्तुरिष्टमनादृत्य स्वस्यैवेष्टं साध्यते तत्रापीष्टानवाप्तिरूपमेव विषममिति कुवलयानन्दकाराः। तद्यथा—

मम धीरियमिति दयितं समया प्रहिता मया ससंभ्रमया। सा नाम तत्र लीना किं तनवानीत्यचिन्तयद्राधा ॥ १२१४ ॥

इयं मदीयेति विस्रम्भेण मम धीः दयितं नन्दनन्दनं समया तं प्रतीति यावत्। 'अभितः परितस्समया' इत्यादिना द्वितीया। ससंभ्रमया अदूरदर्शिन्येति यावत्। मया प्रहिता प्रेषिता। धीशब्दस्य स्त्रीलिङ्गतया तस्यां दूतीत्वसमाधिर्गम्यते। सा धीः तत्र दयित एव 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात्, लीना नाम। इतरैः पृथग्दुर्ग्रहतया तत्रैव तदाश्लेषेणैक्यं प्राप्तेति भावः। 'ली श्लेषणे' कर्तरि क्तः। पक्षे तदाकाराकारितेति भावः। नामेति संभावनायाम्। निलीनेति मन्य इत्यर्थः। कुत्सने वा। धिक्तां दयितं प्रति अद्रोहिणीति प्रत्ययेन मया प्रहितां तत्रैव रममाणामिति भावः। 'नाम प्रकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः। किं तनवानि किं करवाणीति राधा अचिन्तयत्। अत्र नियोक्त्या राधाया अभीष्टमनादृत्य धिया स्वेष्टमेव साधितम्। समासोक्तिसंकीर्णमिदं विषमम् ॥

कदाचिदिष्टावाप्तिपूर्वकतदनवाप्तिर्यथा—

त्वद्गिरिपरिसरगमने क्षणमात्रं तत्तटस्फटिकभाभिः। मुषितकलङ्कस्त्वन्मुखसदृशो विधुरथ यथापुरं भवति ॥१२९५॥

अथ त्वद्गिरिपरिसरातिवर्तनानन्तरं यथापुरं भवति स्फटिकरुचीनां दवीयस्त्वाद्यथापूर्वं प्रकटकलङ्क एव भवति। अत्र चन्द्रमसो विकलङ्कवेंकटनाथवदनसादृश्यमभीप्सतो वेङ्कटगिरिपरिसरगमनावसरे क्षणमात्रमेव तल्लाभो न सार्वकालिक इति कदाचिदिष्टप्राप्तिपूर्वकतदनवाप्तिः॥

क्वचिदिष्टानवाप्तावपि तदवाप्तिभ्रमनिबन्धनविच्छित्तिविशेषः। यथा—

नवनीतहृदागत इति नवनीरदशिशुमवेक्ष्य निकटगतम्। तं भ्रमवती निबद्धुं संभ्रमतोऽयतत काऽपि गोपवधूः ॥ १२९६ ॥

अत्र नवनीतचोरनन्दकिशोरबन्धनजातकौतुकायास्समयं प्रतीक्षमाणायाः गोपवामेक्षणायाः कस्याश्चित्तदीप्सितालाभेऽपि तल्लाभभ्रमो दर्शितः॥

यत्र समग्रेष्टालाभेन तदेकदेशमात्रावाप्तिस्तत्रापि तदनवाप्तिरेव। यथा—

त्वद्धामतामभीप्सुस्त्यजन्मिलिन्दस्स्वकं मितस्फुरणम्। अमितश्रिया स्फुरन्नप्यळिन्द एवारविन्दनयनाभूत् ॥ १२९७॥

हे अरविन्दनयन! मिळिन्दः भ्रमरः त्वद्धामतां त्वदालयतां त्वत्तुल्यच्छवितामिति तत्त्वम्। अभीप्सुः अत एव स्वकं निजं मितस्फुरणं अल्पप्रकाशं त्यजन्। पक्षे मिळिन्दशब्दः मितः मिव-र्णेन मिवर्णस्य वा स्फुरणम्। मित इत्यत्र सार्वविभक्तिकस्तासिः। विसर्गस्य 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' इति पाक्षिको लोपः। त्यजन्नपि मिवर्णसंबन्धं विसृजन्नित्यर्थः। अमितश्रिया प्रचुरात्विषा संपदा वा, शकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वम्। पक्षे अं इतः श्रिया इति छेदः। अं अवर्णं इतः प्राप्तः श्रिया स्फु-रन्नपि अर्थवत्तारूपसंपदा प्रकाशमानोऽपि आळिन्द एव बहिर्द्वा-रप्रकोष्ठक एव अभूत्। न तु समग्रं त्वद्धामेति भावः। 'प्र-घाणप्रघणाळिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके' इत्यमरः। पक्षे मिकारस्थाने अकारं प्राप्तः अळिन्दशब्द एवाभूदित्यर्थः। अत्र 'न गिरा गि-रेति ब्रूयादिरां कृत्वोद्गायेत्' इत्यत्र गिरापदं प्रतिषिध्य विधी-यमानमिरापदं यथा गिरापदस्थान एव भवति तथाऽत्रापि मि-वर्णं प्रतिषिध्य विधीयमानमवर्णं मिकारस्थान एव भवति। अत एव 'कुषिरञ्जोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च' इत्यत्र यकं प्रति-षिध्य विधीयमानश्श्यन् तदीय एव स्थाने भवतीति तत्त्वबो-धिन्यादावुक्तं संगच्छते। अत्र मिळिन्दस्य स्वाभीप्सितभगवत्प-रिपूर्णदिव्यालयत्वानवाप्त्या तदेकदेशभूताळिन्दत्वप्राप्तिरपीष्टान-वाप्तिरेवेति ध्येयम्॥

यत्रेष्टानवाप्तिपूर्वकमनभीप्सितस्य यस्यकस्याचिदुदासीनस्य वाऽर्थस्यावाप्तिर्निबध्यते तत्रापि केवलेष्टानवाप्तिरेव। यथा—

त्वत्पादसरिदभिख्यालाभायाधशिरास्स घन-
सारः। भूत्वा रसानघोऽपि श्रीश श्रीपादरेणुना-
माऽभूत्॥ १२१८॥

हे श्रीश! सः शैत्यसौरभादिभिः प्रसिद्धः घनसारः कर्पूरः 'अथ कर्पूरमस्त्रियाम्। घनसारः' इत्यमरः। तव पादस्य या सारित् गङ्गा तस्याः अभिख्या नाम शोभा च। 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः। तस्याः लाभाय अधश्शिराः तव पादे नम्रशिरा इत्यर्थः। रसेन जलेन अनघः भूत्वाऽपि। अनेन भगवत्पादसरिदभिख्यालाभौपयिकता दर्शिता। घनसारशब्दो विलोमतया पठितो रसानघ इति निष्पन्न इति वस्तुस्थितिः। शब्दार्थयोस्तादात्म्यं न विस्मर्तव्यम्। श्रीपादस्य लक्ष्मीचरणस्य रेणुः पांसुरिति नाम यस्य स तथोक्तः अभूत्। भगवच्चरणसरिदभिख्यालाभाय पावनतीर्थरूपतायाः कथंचित्संपादनेऽपि तल्लाभो नाभूच्चेन्माभूत्, श्रीपादसरिदभिख्याऽपि वा नासीत्, प्रत्युत श्रीपादरेणुनामासीदिति निर्गळितोऽर्थः। श्रीवेङ्कटाद्रौ भगवद्दिव्यविग्रहार्पितो घनसारश्श्रीपादरेणुरिति व्यवहृतो भवतीति तत्त्वम्। अत्र घनसारस्य भगवत्पादसरिदभिख्यारूपेष्टालाभमात्रं, श्रीपादरेणुत्वं तु नोत्कटानिष्टं, येनैतत्पद्यं एतत्तृतीयविषमप्राथमिकभेदस्योदाहरणं स्यात्, किन्त्वनभीप्सितमिति ध्येयम्॥

यथावा—

त्वल्लक्ष्म्या अप्यतसी श्रैष्ठ्येप्सातश्च्युता तुलाप्त्यैव। धन्या तुलसीभूयं गतैव तेऽम्बुधिसुतेश हृद्याऽऽसीत्॥ १२९१॥

हे अम्बुधिसुतेश! अतसी क्षुमाकुसुमं 'अतसी स्यादुमा क्षुमा' त्यमरः। 'पुष्पमूलेषु बहुळम्' इति वैकारिकाणो लुप्। त्वल्लक्ष्म्या अपि त्वत्प्रभाया अपि। त्वदीयायाः श्रीदेव्या अपीत्यर्थोऽप्युपस्कार्यः। श्रैष्ठ्ये प्रशस्यतमत्वे ईप्सा यस्यास्सा त-

थोक्ता सती तच्युता तस्मादभीप्सितात् भ्रंशं प्राप्ता सती तुलाप्तयैव त्वल्लक्ष्मीसाम्यलाभेनैव धन्या परमाभीप्सितालाभेऽपि तावतैव कृतकृत्येति भावः। तुलसीभूयं तुलसीत्वं 'भुवो भावे' इति भावे क्यप्। गतैव ते तव हृद्या हृदयस्था हृदयप्रिया च आसीत्। पक्षे अतसीति शब्दव्यक्तिः अतच्च्युता अताभ्यां अकारतकाराभ्यां च्युता तद्रहितेत्यर्थः। तच्च्युतेत्यत्र 'अनचि च' इति पाक्षिकं चकारस्य द्वित्वमर्थान्तरानुगुण्यायैष्टव्यमित्य-सकृदवोचाम। तुलाप्तया अकारलकारस्थाने क्रमेण तुवर्णलव-र्णघटनया तुलसीभूयं गता तुलसीशब्दत्वं प्राप्ता सती हृद्या आसीत्। अत्र अतस्याः भगवल्लक्ष्म्या अपि श्रैष्ठ्यमीप्सोः तुल-सीत्वमनभीप्सितमात्रं न तूत्कटानिष्टमिति तदप्राप्तया केवले-ष्टानवाप्तिरेव ॥

यथावा—

भावत्कचरणतटिनीभासर्वधुरीणतामभीप्स-न्ती । भारत्यवाक्छिरास्स्यादपि तस्यास्तीरभैव देव स्यात् ॥ १३०० ॥

हे देव! भारती सरस्वती भावत्कचरणतटिन्याः गङ्गायाः भा प्रभा तस्याः सर्वधुरीणतां सर्वधुरावोढृतां, सर्वधुरां वहति सर्वधुरीणं तस्य भावः तत्ता 'वहति' इत्यर्थे 'खस्सर्वधु-रात्' इति खः। अभीप्सन्ती सती अवाक्छिरास्स्यादपि तस्याः त्वच्चरणतटिन्याः तीरभैव स्यात्। महताऽपि प्रयासेन तत्तीर-सदृशप्रभैव स्यान्न तु तत्तुल्यप्रभेति भावः। पक्षे भारतीति शब्दव्यक्तिः विलोमा चेत्तदा तीरभेत्येव निष्पद्येतेत्यर्थः। अत्रापि भगवच्चरणतटिनीशोभाभीप्सोर्भारत्याः तत्तीरदीप्तिलाभोऽनभीप्सि-तः, न तूत्कटानिष्टरूप इति केवलेष्टानवाप्तिरेव ॥

यथावा—

तव केतकी कपोलश्रियमिच्छन्ती स्वमम्ब तं वर्णम् । जहती केकी भूत्वा चिकुरकलापश्रियं परमवाप्नोत् ॥ १३०१ ॥

स्वं स्वकीयं तं लोकोत्तरतया प्रसिद्धं वर्णं गौरवर्णम् । पक्षे स्वं स्ववाचकपदघटकं तं तमित्याकारकं वर्णं अक्षरं जहती सती केकी मयूरो भूत्वा । पक्षे स्ववाचककेतकीशब्दः तकारापसारणात् केकीति निष्पन्न इत्यर्थः, वाच्यवाचकतादात्म्यवैभवात् । चिकुरकलापश्रियं कचकलापलक्ष्मीं, स्पष्टमन्यत् । अत्र केतक्याः अनभीप्सितश्रीकचकलापशोभालाभेऽपि तस्यानिष्टत्वाभावात्स्वाभीष्टलक्ष्मीकपोलतुल्यलाभमात्रमिति केवलेष्टानवाप्तिरेव । लक्षणे अनिष्टावाप्तिरित्यत्र इष्टपदेन समस्यमानस्य नञः 'असुरः अधर्मः अशुभं' इत्यादाविव विरोधोऽर्थः, न तु 'अमानुषः अनश्वः' इत्यादाविव तद्भिन्नत्वम् । तेन अनिष्टमनर्थरूपमिति सिद्ध्यति । तथा च तादृशानिष्टप्रतिलम्भ एव विषमं, न त्विष्टभिन्नस्य यस्यकस्यचिदुदासीनस्येति रहस्यम । तथैव प्राक्तनवहूदाहरणदर्शनात् ॥

यत्रानिष्टप्राप्तिरिष्टानवाप्तिर्वा श्लेषमहिम्नैव प्रतीयते न वस्तुतः तत्रापि विषमालंकारो भवत्येव । यथा—

मा भूत्क्वापि पराभव इति ये जगतः प्रभुं भजन्ति त्वाम् । बत पुष्कराक्ष तेषां भवता क्रियते पराभवप्राप्तिः ॥ १३०२ ॥

हे पुष्कराक्ष ! क्वापि पराभवः मा भूदिति ये त्वां भजन्ति तेषां पराभवप्राप्तिः भवता क्रियत इति विरोधः । परा

श्रेष्ठा, भवस्याभावोऽभवं अर्थाभावेऽव्ययीभावः, न भवः अभव इति तत्पुरुषो वा, तस्य प्राप्तिः निश्श्रेयसप्राप्तिरित्यर्थः। यद्वा हे परेति भगवतस्संबोधनम्। अभवप्राप्तिः उक्त एवार्थः, इति परिहारः। अत्र

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभुमव्ययम्।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम्॥

इति श्लोकार्थोऽनुसंहितः। अत्र पराभवप्राप्तिरिति श्लेषेणैव अनिष्टप्राप्तिरिष्टाप्राप्तिर्वा निबद्धा, न तु वस्तुसिद्धा॥

यथावा—

**चक्रतुलेप्सुरवाग्रा भवतः कौमुदकी तदप्राप्तया। नाथ विमोदा कौकी भूत्वा तदभिधखगानुबन्धमगात्॥ १३०३॥**

हे नाथ भगवन्! भवतः कौमोदकी गदा चक्रस्य सुदर्शनस्य तुलां ईप्सुः अत एव अवाग्रा अवनता। 'अवाग्रेऽवनतानतम्' इत्यमरः। तत्साम्यलाभार्थं नम्रतया कृततदुपसर्पणेति भावः। तदप्राप्तया विमोदा विगलितमोदा सती। यद्वा तदप्राप्तया अवाग्रेति योजना। तद्लाभप्रयुक्तसंकोचेन नम्रशिरा इत्यर्थः। वस्तुतः कौमोदक्याः भगवद्वामपाणिना अवाक्शिखरतयैव धृतत्वस्य दर्शनात्तथोक्तिः। कोकस्येयं कौकी 'तस्येदम्' इत्यणि 'टिड्ढ, इति ङीप्, भूत्वा। पक्षे कौमोदकीति शब्दव्यक्तिः मोदेति वर्णद्वयविगमे कौकीति सिद्धेत्यर्थः। तस्य चक्रस्य अभिधा नाम यस्य सः तथोक्तः खगः पक्षी चक्रवाक इत्यर्थः। यथाऽनुशिष्यते 'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः' इति। तस्य अ-

नुबन्धितां संबन्धं अगात्, कौकीत्वप्राप्तेरिति भावः । अत्र कौमोदक्याः कौकीत्वलक्षणानिष्टप्राप्तिः श्लेषेणैव, न तु वस्तुतः ॥

यथावा--

**प्राक्तनपङ्कमशेषं त्वं शोषयितुं हरेर्भजसि पादम् । तस्मात्कीर्तिरुदेष्यति नव्येति सखे पुनर्न जानीषे ॥ २३०४ ॥**

हे सखे ! इति यंकंचित्सुहृदं प्रति संबोधनम् । अशेषं निश्शेषं यथास्यात्तथा प्राक्तनपङ्कं पूर्वाघं प्राचीनकर्दमं च शोषयितुं निराकर्तुं शुष्कं कर्तुं च, हरेः भगवतः भानोश्च, पादं चरणं किरणं च भजसि प्रीतिपूर्वकमनुध्यासि सेवसे च । तस्मात् तद्भजनात् कीर्तिः 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' इत्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण यशस्साधनभूतं परं ब्रह्म उदेष्यति दर्शनसमानाकारध्यानगोचरतां प्रपत्स्यते । पुनः न व्येति व्ययं न प्राप्नोति न क्षरतीत्यर्थः । यद्वा कीर्तिः ब्रह्मवित्त्वप्रथा उदेष्यति जनिष्यते । पुनर्न व्येति नापचीयत इत्यर्थः । पक्षे नव्या अभिनवा कीर्तिः कर्दमः पुनः उदेष्यति इति न जानीषे । अत्र प्राक्तनाशेषपङ्कशोषणाय हरिपादं भजमानस्य तल्लाभसद्भावेऽपि अपूर्वकर्दमरूपानिष्टप्राप्तिश्च श्लेषेणैव निबद्धा ॥

यथावा—

**नित्यभवभ्रमिखिन्नोऽस्म्यभ्रान्तः क्वचन हरिपदे सततं स्याम् । इति कृतयतनोऽपि हरे प्रावृषि केवलमविन्दतेप्सितमिन्दुः ॥ २३०५ ॥**

हे हरे! नित्यं भवे संसारे भ्रमेण चङ्क्रमणेन देहात्मभ्रमेण वा खिन्नोऽस्मीति निर्वेदोक्तिः। अतः अभ्रान्तः नित्यसंचारविधुरो देहात्मभ्रमविधुरो वा सन् हरिपदे भगवन्मन्दिरे क्वचन तत्रापि यत्रकचित् सततं सदा स्यां निवसेयम्।

यत्किंचिदपि कुर्वाणो विष्णोरायतने वसेत्।
न किंचिदपि कुर्वाणो विष्णोरायतने वसेत्॥

इति भगवच्छास्त्रादिति भावः। इति कृतयतनोऽपि इन्दुः प्रावृषि केवलं वर्षासमयमात्रे ईप्सितं पूर्वोक्तमभीष्टं अविन्दत न त्वन्यदा। प्रावृष्येव चन्द्रमा विष्णुपदे क्वचन अभ्रान्तस्थितिमानभूत् न तु शरदादावित्यर्थः। वस्तुस्थितिस्तु नित्यभवः सततं जातः यो भ्रमः मेरुप्रदक्षिणसंचारः तेन खिन्नः हरिपदे अन्तरिक्षे क्वचन अभ्रान्तः जलभृदन्तरे स्थितिमानिति। अत्रेन्दोर्यत्किंचित्कालिकेष्टावाप्तिरेव, न सार्वकालिकेष्टावाप्तिः श्लेषमहिम्नैव॥

एवं प्रागुपदर्शितेषूदाहरणेषु प्रायेण श्लेषमूलाभेदाध्यवसायवैभवेनानिष्टप्राप्तीष्टानवाप्ती प्रदर्शिते अपि व्युत्पित्सुबालबुद्धिवैशद्याय पुनर्विविच्य प्रदर्शिते॥

एवमेतेषु सर्वेषूत्पाद्योत्पादकभावरूपसंसर्गगर्भेषु प्रभेदेषु कार्यकारणयोः क्वचिद्विलक्षणगुणशालित्वेनानुरूप्याभावात् क्वचिच्चेष्टापादकत्वेनाभिमतस्य कारणस्येष्टानवाप्तचनिष्टावाप्तिरूपकार्येणानुरूप्याभावात्सामान्यलक्षणानुगतिरिति ध्येयम्॥

इत्यलङ्कारमणिहारे विषमालंकारसरश्चत्वारिंशः॥

## अथ समालंकारसरः. (४१)

यत्रानुरूपघटनं वर्ण्यते तत्समं विदुः ॥

परस्परमनुरूपयोस्संसर्गस्य वर्णनं समालंकारः । अत्रापि संसर्गो विषम इव संयोगलक्षण उत्पत्त्यादिलक्षणश्चेतीदं सर्वप्रकारसाधारणं लक्षणम् । तत्र संयोगादिलक्षणस्य संसर्गस्यानुरूपता च द्वेधा—स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दापर्यवसायिनी चेति । इदं प्रथमविषमप्रतिद्वन्द्वि समम् ॥

तत्राद्या यथा—

स्थानं श्रीशैलस्तव नूनं त्वं श्रीनिवास एवासि । दानं श्रियश्श्रितेभ्यस्सानन्दं वितरसीति युक्तमिदम् ॥ १३०६ ॥

यथावा—

स्वालोकैर्वर्धयसे विबुधाग्रसरस्वतो हरे भुवनम् । कैरवमता तव श्रीर्मन्ये त्वं विधुरसीत्युचितमेव ॥ १३०७॥

हे विबुधाग्रसर त्रिदशश्रेष्ठ! अग्रे सरतीत्यग्रसर इति विग्रहः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टः । 'यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्' इत्यादाविव बाहुलकादग्रशब्दस्य एदन्तत्वनिपातनाभावः । हे हरे ! आलोकैः कटाक्षैः 'तदैक्षत बहु स्याम्'

इत्युक्तसंकल्पविशेषैर्वा स्वतः स्वभावत एव भुवनं लोकं, जात्यभिप्रायकमेकवचनं, वर्धयसे सृष्टिपूर्वकं समेधयसे। तव ईदृशस्य भवतः श्रीः संपत्तिः सर्वलोकेश्वरत्वरूपा कैः जनैः अवमता अवहेळिता, न कैरपीति भावः। पक्षे विबुधाग्र सरस्वतः इति च्छेदः। हे विबुधाग्र देवश्रेष्ठ! 'परार्ध्याग्रप्राग्रहरप्राग्र्याग्र्याग्रीयमाग्रियम्' इत्यमरः। आलोकैः प्रकाशैः स्वकिरणैरित्यर्थः। सरस्वतः सागरस्य भुवनं जलं अभिवर्धयसे उत्सेचयसे। तव श्रीः शोभा कैरवमता कैरवाणां कुमुदानां मता अभिमता। अतः त्वं विधुः चन्द्रः असीति उचितमेव मन्ये। विधुः भगवानिति तु तत्त्वम्॥

यथावा—

भूयस्सु भूषणेष्वपि कलयसि कमलेश काञ्चिकां मध्ये। मध्यस्थतोचिताऽस्याः प्रतीपवचनेऽपि न विकृता यदियम्॥ १३०८॥

यत् यस्मात् कारणात् इयं काञ्चिका प्रतीपवचनेऽपि स्वप्रतिकूलभाषणेऽपि न विकृता अविकृतस्वभावा न्यायैकदृष्टितया स्वाभीप्सितविरुद्धभाषणेऽपि चित्तविकारं नैतीति भावः। अस्याः एवंविधायाः मध्यस्थता मध्ये न्याय्येऽर्थे तिष्ठतीति मध्यस्थं तस्य भावः मध्यस्थता 'शरदः कृतार्थता' इत्यादाविव सामान्ये नपुंसकमित्यसकृदवोचाम। न्याय्यमार्गवर्तित्वमित्यर्थः। 'न्याय्येऽपि मध्यम्' इत्यमरः। 'अस्त्री मध्यं समे न्याय्येऽप्यवकाशावलग्नयोः' इति रत्नमाला च। पक्षे काञ्चिकाशब्दः प्रतिकूलतया पाठेऽप्यविकृतानुपूर्वीको भवतीत्यर्थः। अस्याः काञ्चिकायाः

मध्यस्थता अवलम्बलग्नता उचितेति वस्तुस्थितिः। तस्याः मध्यैकभूषणत्वादिति भावः॥

यथावा—

**आद्यन्ततुल्यरूपं विभिन्नवर्णमपि मध्यतस्तव भगवन्। नयनं नलिनं च कदाऽप्यप्रातिकूलं तदुचितमनयोस्सख्यम्॥ १३०९॥**

हे भगवन्! तव नयनं नलिनं च आद्यन्तयोः मूलापाङ्गयोः प्रथमचरमभागयोश्च तुल्यरूपं उभयोरप्यरुणवर्णत्वात्, तुल्याक्षरं च अनयोशब्दयोराद्यन्तयोर्नकारघटितत्वात्। मध्ये मध्यभागे विभिन्नवर्णं परस्परविलक्षणवर्णमपि नयनस्य मध्ये कनीनिकया नैल्यात् नलिनस्य तु कर्णिकया पिशङ्गत्वादिति भावः। पक्षे य लि इत्यन्योन्यविलक्षणमध्यमाक्षरमात्रमित्यर्थः। सदाऽपि अप्रातिकूलं अन्योन्यप्रातिकूल्यरहितं अविरुद्धभूयोधर्मवत्तया यत्किंचिद्विरुद्धधर्मवत्ताया अकिंचित्करत्वादिति भावः। शब्दपक्षे सदाऽपि आनुलोम्य इव प्रातिलोम्येऽपीति भावः। अप्रतिकूलं अविकृतानुपूर्वीकमेव। तत् तस्मात् अनयोः नयननलिनयोः सख्यं उचितमेव यत्किंचिद्धर्मवैलक्षण्येऽपि तयोर्भूयोधर्मवत्तायास्सद्भावात्साम्यं युक्तमिति भावः। किंच अत्र तव नयनमित्यनेन भगवतो भानुरूपं नयनमेव चेद्विवक्ष्येत तदाऽप्यमूनि विशेषणान्युभयसाधारणान्येव। यथा आद्यन्ततुल्यरूपत्वमनयोरुभयोरप्यरुणवर्णत्वात्। मध्ये विभिन्नवर्णत्वं च भानोर्मध्येऽप्यरुणवर्णत्वात्, नलिनस्य उक्तरीत्या मध्ये पिशङ्गवर्णत्वाच्च। सदाऽप्यप्रतिकूलत्वं तूभयोरानुकूल्यस्य लोकवेदविश्रुतत्वात्। तस्माद्भानुनलिनयोस्सख्यमुचितमेवेति। अन्यत्तुल्यम्॥

यथावा—

**अपि यत्प्रसव्यभावे ननु घनसारो रसानघ-स्तदयम् । घनसारस्याच्युत तव रसानघस्योचितं ललाममिति ॥ १३१० ॥**

ननु अच्युत! यत् यस्मात् घनसारः कर्पूरः प्रसव्यः प्रतिकूलः भावः स्वभावो यस्य तस्मिन्नपि जने रसानघः रसेन प्रीत्या अनघः निर्दोषप्रीतिरिति भावः । रसः अनघः यस्येति वा विग्रहः। अपिशब्देन अनुकूलस्वभावे रसानघत्वं कैमुतिकन्यायसिद्धमिति द्योतितम्। वस्तुतस्तु घनसारशब्दः प्रतिकूलत्वे रसानघ इति निष्पद्यत इत्यर्थः। 'प्रसव्यं सव्य आयत्ते प्रतिकूलानुकूलयोः' इति रत्नमाला । तत् तस्मात् अयं ईदृशो घनसारः घनस्सारः बलं यस्य तस्य घनसारस्य, प्रसव्यभावेऽपीत्येतदत्राप्यनुषज्यते। अनुकूलस्वभावे पुंसीव प्रतिकूलस्वभावेऽपि विषये इति तदर्थः। रसानघः निर्दोषप्रीतिशाली, न हि महोदारस्यास्य प्रीतिविषये प्रतिकूलानुकूलकक्ष्याविभागोऽस्तीति भावः। यद्वा रसः आनन्दोपलक्षितानन्तकल्याणगुणाकरः अनघः अखिलहेयप्रत्यनीक इत्यर्थः । चेतनः अनुकूलः प्रतिकूलोवाऽस्तु तदानुकूल्यप्रातिकूल्याभ्यां स्वाभाविकस्यैतदुभयालिङ्गत्वस्य न कश्चिद्विशेषस्संभवतीति भावः। ईदृशस्य तव ललामं दिव्यवदने पुण्ड्रं भवतीत्युचितं, उभयोरपि घनसारत्वरसानघत्वाभ्यामानुरूप्यादिति भावः। 'ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु' इत्यमरः। प्रसिद्धं हि श्रीनिवासस्य भगवतः कर्पूरोर्ध्वपुण्ड्रशोभमानफालफलकत्वम् ॥

यथावा—

कर्पूरं तव मुखमपि चन्द्राभिख्योज्ज्वलं तथा सुरभि । उरगाचलशिखरशशिन्नुचितं खलु तस्य तल्ललामत्वम् ॥ १३११ ॥

चन्द्राभिख्यया चन्द्रनाम्ना उज्ज्वलं 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः' इत्यनुशासनात् । पक्षे चन्द्रनिभशोभाविभासुरं । तथा तद्वत् सुरभि सुगन्धि, पक्षे मनोज्ञं 'सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्सुरभिस्स्मृतः' इति विश्वः । तथासुरभीति समस्तं वा पदम् । लोकोत्तरसौरभशालीत्यर्थः । तस्य कर्पूरस्य तल्ललामत्वं त्वद्वदनस्य पुण्ड्रत्वं भूषणत्वं वा, कोशस्तूक्तः । अत्राद्य उदाहरणे परस्परमनुरूपयोः श्रीनिवासश्रीप्रदानयोः, द्वितीये स्वालोककरणकभुवनाभिवर्धनादिविधुत्वयोः, तृतीये काञ्चिकामध्यस्थत्वयोः तुरीये नयननलिनसख्ययोः, पञ्चमषष्ठयोरुदाहरणयोर्घनसारश्रीनिवासमुखललामत्वयोस्संसर्गस्य वर्णनम् ॥

यथावा—

फणिवृषभाचलभास्वन् शुभाश्रयं तव विभावयन्नन्तः । तत्क्रतुनयादिहैव हि शुभाश्रयोऽभवमरेफसंसर्गः ॥ १३१२ ॥

हे फणिवृषभाचलभास्वन् ! तव शुभश्चासावाश्रयश्च ध्यानालम्बनभूतो दिव्यमङ्गळविग्रहः तं अन्तः विभावयन् ध्यायन् अहं तत्क्रतुनयात् 'यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' इति श्रुतिप्रतिपादितयथाक्रतुन्यायात् । क-

तुरुपासनम्। इहैव न त्वितः प्रेत्य । इदमाश्चर्यमिति भावः। रेफस्य गर्हितस्य अघस्येत्यर्थः । 'निन्दितस्य च सेवनात्' इत्यादौ अघस्य निन्दितत्वोक्तेः। संसर्गस्संबन्धः स नास्ति यस्य सः अरेफसंसर्गस्सन् शुभाश्रयः मङ्गळविग्रहः अभवम्। पक्षे शुभाश्रयशब्दः अरेफसंसर्गः रवर्णसंबन्धरहितः शुभाशय इति निष्पन्न इत्यर्थः । शब्दार्थयोस्तादात्म्यम् । 'रवर्णे पुंसि रेफस्स्यात् कुत्सिते वाच्यलिङ्गकः' इत्यमरः। त्वद्दिव्यमङ्गळविग्रहानुध्यानेन निरस्तनिखिलाघः कल्याणाशयोऽभवमिति निर्गाळितोऽर्थः। 'आशयस्स्यादभिप्राये मानसाधारयोरपि' इति विश्वः। अत्र शुभाश्रयानुध्यानशुभाश्रयत्वप्राप्त्योरनुरूपयोर्वर्णनम् ॥

यथावा—

विनतानन्दननिपुणौ द्वावपि विश्वंभराभिवहनचणौ। तन्नभिदा काऽप्यनयोर्मैत्र्युचिता पतगपन्नगाधिपयोः ॥ १३१३ ॥

द्वावपि पतगपन्नगाधिपावुभावपि विनतानन्दनानिपुणौ विनतायाः विनतानां च आनन्दने निपुणौ। विश्वंभरस्य विश्वंभरायाश्च अभिवहनेन वित्तौ अभिवहनचणौ । 'तेन वित्तः' इति चणप्प्रत्ययः। प्रथित इत्यर्थः। तत् तस्मात् अनयोः पतगपन्नगाधिपयोः गरुत्मदनन्तयोः काऽपि भिदा वैलक्षण्यं नास्ति। अतोऽनयोः मैत्री उचिता, उभयोरपि तुल्यधर्मकत्वादिति भावः। पक्षे पतगाधिपपन्नगाधिपशब्दयोः, तन्नभिदेति समस्तं पदम्। तकारद्वित्वघटितनकाराभ्यामेव भेदः, पकारगकारादिवर्णानामुभयत्र तौल्यादिति भावः। अत्र पतगपन्नगाधिपयोरन्योन्यमैत्र्या आनुरूप्यम् ॥

यथावा—

व्यत्ययसमयेऽप्यविकृतभावैर्यैर्वैष्णवैस्स्थितं भगवन् । तादृक्षा एव हि तैस्सेव्यन्ते त्वत्पदाश्रिता यतयः ॥ १३१४ ॥

हे भगवन् ! व्यत्ययसमये विपर्ययकालेऽपि अतिकृच्छ्रदशावसरेऽपीति यावत् । यैः वैष्णवैः अविकृतभावैः यथाऽवस्थितभगवच्छेषत्वादिस्वभावैरेव स्थितं, भावे क्तः । तैः वैष्णवैः तादृक्षाः व्यत्ययसमयेऽप्यविकृतस्वभावा एव त्वत्पदश्रिताः त्वच्चरणं शरणं गताः । यद्वा त्वत्पदं त्वच्चिह्नं त्रिदण्डमित्यर्थः । 'त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गम्' इति स्मरणात् । श्रिताः त्रिदण्डिन इत्यर्थः । यतयः संयमिनः सेव्यन्ते, न त्वतादृशा इति भावः । पक्षे वर्णविपर्यासमयेऽप्यविकृतस्वभावैः वैष्णवैः, अस्य वैष्णवैरित्यानुपूर्वीविशिष्टस्य पदस्य विपर्ययेण पठनेऽपि तथैवावस्थानादिति भावः । तादृक्षाः उक्तविधाः यतयः अस्यापि पदस्य वैपरीत्ये यथापूर्वमेवावस्थितेरिति भावः । अर्थगतस्य बहुत्वस्य पदे आरोपः । अत्र वैष्णवानां त्रिदण्डिनां प्रपन्नानां वा यतीनां चानुरूपस्संसर्गः ॥

यथावा—

जगतामधिभूर्भगवान् श्रीरधिभूस्त्वमपि तदिदमनुरूपम् । प्रायेण विभक्तावपि पौंस्ने स्त्रैणे यदैकरूप्यजुषौ ॥ १३१५ ॥

हे श्रीः ! भगवान् जगतां अधिभूः अधीश्वरः 'एष सर्वेश्वरः' 'पतिं विश्वस्य' इत्यादिश्रवणात् । 'अधिभूर्नायको नेता' इत्यमरः । त्वमपि जगतां अधिभूः अधीश्वरी 'ईशाना देवी भुव-

नस्याधिपत्नी, अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी' इत्यादिश्रुतेः। तदिदं युवयोरधीश्वरत्वं अनुरूपम् । उभयोरधिभूत्वे हेतुमाह—प्रायेणेत्यादिना। यत् यस्मात् पौंस्ने पुंसमूहे स्त्रैणे स्त्रीसमूहे च विभक्तावपि—

देवतिर्यङ्मनुष्येषु पुन्नामा भगवान् हरिः।
स्त्रीनाम्नी लक्ष्मीर्मैत्रेय नानयोर्विद्यते परम् ॥
यो यो भवति पुंभावस्स विष्णोरिति निश्चयः।
यो यस्तु नारीभावस्स्यात्तत्र लक्ष्मीर्व्यवस्थिता ॥

इति वैष्णवब्राह्मपुराणाद्युक्तरीत्या परस्परेच्छाविशेषेण कृतविभागावपि ऐकरूप्यजुषौ जगद्व्याप्त्यादिलक्षणस्वभावैक्यभाजौ,

मया यथा जगद्व्याप्तं स्वरूपेण स्वभावतः।
तया व्याप्तमिदं सर्वं नियन्त्री च तथेश्वरी ॥
मया व्याप्ता तथा साऽपि तया व्याप्तोऽहमीश्वरः।

इति विष्वक्सेनसंहिताद्युक्तेः। प्रायेणेत्युक्त्या—

मम तस्याश्च सेनेश वैलक्षण्यमिदं शृणु।
मच्छेषभूता सर्वेषामीश्वरी वल्लभा मम ॥
तस्याश्च जगतश्चाहमीश्वरो वेदविश्रुतः।

इत्याद्युक्तं किंचिद्वैलक्षण्यमस्तीति सूचितम्। अतो युवयोरधिभूत्वमनुरूपमेवेति। पक्षे अधिभूशब्दावुभावपि पौंस्ने पुंस्त्वे स्त्रैणे स्त्रीत्वे च 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इत्यपत्यादिभवनाधिकारपर्यन्तमुक्तेष्वर्थेषु नञस्नञोर्विधानात्समूहार्थे भावार्थे च पुंशब्दात् स्नञ्, स्त्रीशब्दान्नञ् च प्रत्ययः। विभक्तौ स्वादिविभक्तौ परत इति शब्दशास्त्रमर्यादालभ्यं, प्रायेण भूम्ना ऐकरूप्यजुषौ तयोश्शब्दयोः पुल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गयोरैकरूप्यस्य दर्शनादिति भावः।

स्त्रीलिङ्गे ङिति आमि च विभक्तौ रूपान्तरस्यापि विधानात्प्रायेणेत्यु-क्तम्। तस्मात्पुंस्त्रीवाचकयोरुभयोरप्यभिभूशब्दयोरानुरूप्यमिति ॥

यथावा—

**यद्यादिदेव सत्त्वं हृद्याविर्भावभाक्परं सुकृतात्।**
**विद्याम तदा सत्त्वं हृद्याविर्भावभागिति स्थाने ॥**

हे आदिदेव! अखिलजगत्कारणभूत भगवन्! अनेन 'आदिदेवो महाबाहुर्हरिर्नारायणः प्रभुः' इत्येतत् स्मारितम्। सुकृतात् यादृच्छिकप्रासङ्गिकानुषङ्गिकभेदभिदुरात्सुकृतविशेषात् परं श्रेष्ठं सत्वं सत्वगुणः हृदि मनसि अविर्भावभाग्यदि आविर्भूतं चेत् आहारशुद्धिमूलकसत्त्वगुणलाभेन चित्तशुद्धिर्भवेच्चेदिति भावः। तदा सः सकलजगत्कारणत्वनियन्तृत्वादिना प्रसिद्धः त्वं हृदि चित्ते अविर्भावभाक्। यद्वा हृद्यः हृदयस्य प्रियः यः अविर्भावः तं भजतीति तथोक्तः। दर्शनसमानाकारध्रुवानुस्मृतिरूपध्यानगोचरो भवसीति स्थाने युक्तं विद्याम जानीयाम। विदेर्लिङुत्तमबहुवचनम्। अत्र 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिस्सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति श्रुत्यर्थच्छायाऽनुस्मृता। अत्र सत्त्वशुद्धिभगवदाविर्भावयोरनुरूपयोर्वर्णनम् ॥

यथावा—

**वृषगोत्रशेखरं त्वामुषसि स्मरतां हरेऽच्युतात्मवताम्। भद्रत्वं चोक्षत्वं प्राप्यं यद्भवति तदिदमनुरूपम् ॥ १३१७ ॥**

हे हरे! इदं च संबोधनं वक्ष्यमाणप्रत्यूषस्मरणानुगुण्याय। 'उत्तिष्ठंश्चिन्तय हरिम्' इति स्मरणाम्। अनेनैवास्य वक्ष्यमाणभद्रत्वप्रापणानुकूलं मङ्गळत्वमपि द्योतितम्।

नित्योत्सवो भवेत्तेषां नित्यश्रीर्नित्यमङ्गळम् ।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गळायतनं हरिः ॥

इति स्मरणात् । हे अच्युत ! अनेन वक्ष्यमाणचोक्षत्वसंपादनानुगुणं पावनत्वं व्यञ्जितम् । यथाचोच्यते—

अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥

इति। उषसि प्रत्यूषे वृषगोत्रशेखरं शेषाद्रिशेखरं त्वां स्मरतां आत्मवतां ज्ञानिनां यत् भद्रत्वं मङ्गळायतनत्वेनोक्तस्य हरेस्तव स्मरणेन यत्कल्याणत्वमिति भावः, प्राप्यं भवति तत् अनुरूपम् । यत् चोक्षत्वं शुद्धत्वं च प्राप्यं पावनतमत्वेनोक्तस्याच्युतस्य तव स्मरणेन यत्पवित्रत्वं लभ्यमिति भावः, तदिदमप्यनुरूपम् । 'चुक्ष संशुद्धौ' अस्मात्पचाद्यच् । 'भद्राशिवे खञ्जरीटे वृषभे च कदम्बके' इत्युपक्रम्य 'क्लीबं मङ्गळमुस्तयोः' इति 'चोक्षो गीते शुचौ दक्षे तथाऽभीक्ष्णमनोज्ञयोः' इति मेदिनी । पक्षे वृषगोत्रशेखरं वृषभकुलावतंसं त्वां स्मरतां भद्रत्वं वृषभत्वं यत् प्राप्यं तदनुरूपम् । च उक्षत्वमिति छेदः । उक्षत्वं च प्राप्यमिति यत् तदिदमप्यनुरूपमित्यर्थः । वृषभकुलावतंसस्मर्तॄणामिदं फलमुचितमेवेति भावः । अत्र वृषगोत्रशेखरस्मरणस्य भद्रत्वावाप्त्यादेश्चानुरूप्यम् ॥

यथावा—

**अच्युतशोभनभोगस्पर्शनतस्फातिमान् घनाघनराट् । अतिमात्रमुन्नतश्रीस्तनतीत्युचितं पयोधरो ह्येषः ॥ १३१८ ॥**

अच्युता अप्रच्युता शोभा यस्य सः नभः गच्छतीति नभोगश्च। विशेषणोभयपदकर्मधारयः। अच्युतशोभं यन्नभः तद्गच्छतीति तथोक्त इति वा। स्पर्शनतः मारुतात् स्फातिमान् वृद्धिमान्। स्पर्शनत इत्यत्र सकारस्य खर्परकत्वान्नभोगशब्दान्तिमाविसर्गलोप एष्टव्यः, अर्थान्तरेऽपि शब्दसारूप्याय। एवं श्रीस्तनतीत्यत्रापि। पक्षे अच्युतस्य भगवतः शोभनो भोगो यस्य तत्तथोक्तं यत् स्पर्शनं अवमर्शः तेन ततः, सार्वविभक्तिकस्तासिः। यद्वा शोभनो यो भोगस्संभोगः तस्मिन् तदवसरे स्पर्शनतः संस्पर्शात् स्फातिमान् उच्छूनइत्यर्थः। 'स्फातिर्वृद्धौ' इत्यमरः। अतिमात्रं उन्नता श्रीः यस्य स तथोक्तः। घनाघनराट् प्रावृषेण्यवारिवाहः स्तनाति गर्जतीत्युचितम्। हि यस्मात् एषः पयोधरः पूर्णसलिलः। पक्षे अतिमात्रं उन्नतः श्रीस्तनाति श्रीस्तन इवाचरतीत्युचितम्। हि यस्मात् एषः पयोधरः पूर्णक्षीरः। अत्र घनाघनराजस्य स्तनतीतिशब्दप्रतिपाद्यगर्जनाभेदाध्यवसितस्तनवदाचरणस्य चानुरूप्यम्। उपमासंकीर्णमिदम्॥

यथावा—

**सेवनकृच्छ्रमलब्धा पावन तव पादपद्मयोर्मनुजः। सेवनकृच्छ्रमलब्धा देवनकृच्छ्रेणिषूचितं ह्येतत्॥ १३११॥**

हे पावन! 'पावनस्सर्वभूतानां त्वमेव रघुनन्दन' इत्युक्तरीत्या पवित्ररूप हे भगवन्! तव पादपद्मयोः सेवनकृत् सेवाविधाता। श्रमस्य लब्धा 'त्रिभुवनविधातुः' इत्यत्रेव शैषिकषष्ठ्यास्तृजन्तेन समासः। भगवच्चरणारविन्दपरिचरणपरिश्रम-

शालीत्यर्थः । मनुजः देवनकृतां धूर्तानां श्रेणिषु विषये सेवनकृत् श्रमलब्धा भवति एतदुचितमिति काक्वा नोचितमिति विरोधः । परिहारस्तु—सेवनकृच्छ्रं अलब्धा इति छेदः । देवनकृतां अक्षदेविनां धूर्तानां श्रेणिषु पङ्क्तिषु सेवनस्य स्यूतेः 'षिवु तन्तुसन्ताने, ल्युट्। कृच्छ्रं क्लेशं अलब्धा अप्राप्ता । लभेस्तृन् । धूर्तश्रेणिमध्यघटनप्रयुक्तक्लेशमननुभाविता भवति । भगवच्चरणारविन्दपरिचरणचणस्य तादृशदोषानुन्मेषादिति भावः । अत्र भगवच्चरणपरिचरणकृतो धूर्तजनासंसर्गोऽनुरूपः । विरोधालङ्कारयमकसंकीर्णत्वं विशेषः ॥

यथावा —

**अध्यक्षितमासीद्यैरध्यहिगिरि देव तावकं रूपम् । दधति सदाध्यक्षितमिह परत्र चामी तदेतदनुरूपम् ॥ १३२० ॥**

हे देव ! यैः जनैः अध्यहिगिरि अहिगिरौ तावकं रूपं अध्यक्षितं साक्षात्कृतं आसीत् अमी ते जनाः इह परत्र च अध्यक्षितं तत् त्वद्रूपं सदा दधति । एतत् अनुरूपं उपायफलयोरविसंवादादिति भावः । वस्तुतस्तु इह अस्मिन् लोके सदा अध्यक्षितं अध्यक्षं कृतं अधिराजत्वेन निष्पादितं रूपं दधति राजानो भवन्तीत्यर्थः । 'अध्यक्षोऽधिकृते पुंसि स्यात्प्रत्यक्षेऽभिधेयवत्' इति मेदिनी । परत्र च परमपदेऽपि सदाध्यक्षितं रूपं सत् आध्यक्षितं इति च्छेदः । सत् प्रशस्तं सत्यकामत्वादिशुभगुणवत् । आधिना मनोव्यथया अशनायादिहेतुकया अक्षितं अक्षीणं 'क्षि क्षये' कर्मणि क्तः । रूपं 'अपहतपाप्मा' इत्याद्युक्तं स्वाभाविकं रूपं दधति ॥

यथावा—

रक्तं त्वयि सर्वसमे समतां चेतो बिभर्ति सर्वत्र। भगवन् प्रतिकूलं तु प्रपद्यते तत्प्रतीपतामेव ॥ १३२१ ॥

हे भगवन्! सर्वसमे 'सर्वस्य शरणं सुहृत्। समोऽहं सर्वभूतेषु' इत्युक्तरीत्या सर्वसुहृदि त्वयि रक्तं अनुरागशालि चेतः चेतनस्य हृदयं सर्वत्र समतां तुल्यदृष्टितां बिभर्ति। 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' 'सर्वभूतश्शमश्शान्तः' इत्याद्युक्तचेतनधर्मस्य चेतस्यारोपः। प्रतिकूलं सर्वसुहृदि त्वयि प्रातिकूल्यभाक् चेतस्तु तत्प्रतीपतां सर्वसमताप्रातिकूल्यमेव वैषम्यमेव प्रपद्यते। पक्षे तत्प्रतिकूलतां तस्य समतामिति शब्दस्य प्रतिलोमं तामसमिति शब्दः तस्य भावं तामसतां प्रपद्यत इत्यर्थोऽपि चमत्कारातिशयं पुष्णाति। अत्र सर्वसमभगवद्विषयकानुरागसर्वसमतावाप्त्योः तत्प्रतिकूलत्वतामसतावाप्त्योश्चानुरूपयोर्घटनम्। मालारूपत्वं पर्यायोक्तिगर्भत्वं च विशेषः॥

इमानि सर्वाण्युदाहरणानि श्लेषादिसंकीर्णानि। इदं तु शुद्धमुदाहरणम्। यथा—

अज्ञं सर्वज्ञस्त्वं दयनीयं मां दयासुधाम्भोधे। दीनं च दीनबान्धव रक्षसि चेदुचितमम्बुजाक्ष तव ॥ १३२२ ॥

सर्वमिदं स्तुतिपर्यवसायि समम्॥

निन्दापर्यवसायि यथा—

दुर्जनशिखामणेर्मे दुर्जरविषयानुधावनं युक्तम्। शुनकखरजम्बुकादिर्ननु कलयति नैव हेयवैमुख्यम् ॥ १३२३ ॥

यथावा—

ननु नाथ शीतलमहा जहार भवतस्स्मितश्रियं विशदाम्। हाशीलवर्जितोऽसौ तमस्स्वभावं बभार तद्युक्तम् ॥ १३२४ ॥

ननु नाथ! हे भगवन्! शीतलमहाः चन्द्रमाः भवतः विशदां स्मितश्रियं उन्निद्रां संपदमिति च गम्यते, जहार। हा इति खेदे। शीलेन सद्वृत्तेन वर्जितः असौ शीतलमहाः तमस्स्वभावं तमोगुणस्वभावं बभार। तद्युक्तम्, भवदीयस्मितश्रीहर्तुस्सच्चरितवर्जितस्य तमःप्रकृतिकत्वं युक्तमेवेति भावः। तमसः तिमिरस्य सुष्ठु अभावः स्वभावः तं बभारेति वस्तुस्थितिः। पक्षे हाशील इतिवर्णत्रयवर्जितश्शीतलमहा इति शब्दः तम इति वर्णसमुदयेन स्वभावं स्वसत्तां बभार। हाशील इति वर्णसमुदयापसरणे तावन्मात्रमेव परिशिष्ट इति भावः। अत्र परस्वापहरणादेस्तमस्स्वरूपभरणस्य चानुरूप्यं निन्दापर्यवसायि ॥

यथावा —

कचजातरूपचौर्यात्तवाद्यवर्णच्युतो बत मिलिन्दः। अग्रजपुमाश्रितोऽपि प्राप पुलिन्दत्वमेष मधुपो हि ॥ १३२५॥

हे श्रीरिति सामर्थ्याल्लभ्यते। मिळिन्दः भ्रमरः मिळिन्दशब्दश्च, तयोस्तादात्म्यम्। तव कचानां शिरोरुहाणां यत् जातरूपं सुवर्णं तदाभरणभूतमिति भावः। यद्वा कचति दीप्यत इति कचं 'कच दीप्तौ' पचाद्यच्। यत् जातरूपं दशवर्णसुवर्णमित्यर्थः। कचजातं शिरोरुहजं यत् रूपं नीलरूपमिति तु वस्तुस्थितिः, तस्य चौर्यात्। आद्यवर्णात्, ब्राह्मणवर्णात् मि इत्याकारकप्रथमवर्णाच्च च्युतस्सन् अग्रजाः ब्राह्मणाः ये पुमांसः तेषां आश्रितोऽपि, शेषषष्ठ्यास्समासः, तानाश्रितोऽपीत्यर्थः। वस्तुतस्तु अग्रजं आद्यं मिकारस्थानिकमिति भावः। पुं पुमित्याकारकवर्णसमुदयं आश्रितः। अपिस्समुच्चये। न केवलमादौ मिवर्णच्युतः अपितु पुवर्णमप्याश्रित इत्यर्थः। पुळिन्दत्वं म्लेच्छजातिविशेषत्वं 'भेदाः किरातशबरपुळिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः। पक्षे पुळिन्दशब्दत्वं च प्राप। अस्य पुळिन्दतावाप्तौ हेत्वन्तरं समुच्चिनोति—एष इति। हि यस्मात् एषः मिळिन्दः मधुपः मद्यपः, ईदृशस्य पुळिन्दत्वप्राप्तिरुचितैवेति भावः। मकरन्दलिडिति तत्वम्। अत्र कचजातरूपचौर्यप्रभृतेः पुळिन्दत्वप्राप्त्यादेश्चानुरूप्यं निन्दापर्यवसायि॥

यथावा—

**मुखजमपि नाथ जलजं त्वत्पदविद्वेषतोऽन्तराविलताम्। एत्य जघन्यजमासीदीदृक्षस्यान्त्यजत्वमप्युचितम्॥ १३२६॥**

हे नाथ जलजं मुखजमपि स्वयं ब्रह्मवर्णमपि मुखभागे जकारसहितमिति वस्तुस्थितिः, शब्दार्थयोस्तादात्म्यात्। जलजं लडयोरभेदाज्जडजमित्यपि प्रतीयते। त्वत्पदविद्वेषतः अन्तः मन-

सि आविलतां कलुषतां, पक्षे अन्तरा अविलतां इति छेदः। विगतो लकारो यस्य तत् विलं न विलं अविलं तस्य भावः अविलता तां अविलतां, अन्तरा मध्ये अविलतां लकारसाहित्यमित्यर्थः। एत्य जघन्यजं शूद्रवर्णजं 'वृषलाश्च जघन्यजाः' इत्यमरः। पक्षे जघन्यः अन्त्यः जः जकारो यस्य तत्तथोक्तं आसीत्। नैतावदेवास्य फलमित्याह—ईदृक्षस्येति। त्वत्पदविद्वेषिण इत्यर्थः। अन्त्यजत्वं चण्डालत्वमपि उचितमेव। 'यो विष्णुं सततं द्वेष्टि तं विद्यादन्त्यरेतसम्' इत्युक्तेरिति भावः। पक्षे अस्य जलजपदस्य अन्त्यः अन्तिमः जः जकारो यस्य तत्तथोक्तं तस्य भावः अन्त्यजत्वमपीत्यर्थः। जघन्यजान्त्यजशब्दयोरस्मिन् पक्षे तुल्यार्थकत्वादिति भावः। अत्र भगवत्पदविद्वेषस्य जघन्यजत्वादेश्चानुरूपस्संसर्गो निन्दापर्यवसायी॥

यथावा—

**ऐरावणस्तवाग्र्यैरहितत्वमुपेत्य रघुवर यशोभिः।**
**अलभत बत रावणतां तावकविद्वेषिणोऽस्य युक्तमिदम्॥ १३२७॥**

हे रघुवर! ऐरावणः ऐरावतः अग्र्यैः परार्ध्यैः तव यशोभिस्सह अहितत्वं धावल्येन विरोधं उपेत्य प्राप्य रावणतां अलभत। पक्षे—ऐरावणशब्दः अग्र्यैरहितत्वं इति समस्तं पदम्। अग्र्यः प्रथमः ऐ इतिवर्णः तद्रहितत्वं उपेत्य रावणतामलभत तथा निष्पन्न इत्यर्थः। तावकविद्वेषिणः त्वदीयवस्तुविषयकद्वेषशालिनः अस्य ऐरावतस्य इदं युक्तम्। अत्र रघुवरयशोविद्वेषरावणतावाप्त्योरानुरूप्यम॥

यथावा—

निरयस्त्वद्विषये यो निरयस्तेनाप्यतेऽहिशैल-
मणे। नरको यो द्वेष्टि त्वां नरको नियतोऽस्य
तदिदमनुरूपम् ॥ १३२८ ॥

यः त्वद्विषये निरयः अयात् निष्क्रान्तो निरयः 'अयश्शुभावहो विधिः' इत्यमरः। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः। 'न विष्ण्वाराधनात्पुण्यं विद्यते कर्म वैदिकम्' इत्यवश्यकर्तव्यतया विहितत्वदाराधनरूपशुभावहविधिविधुर इत्यर्थः। तेन निरयः नरकः आप्यते। यः नरकः कुत्सितो नरः 'कुत्सायाम्' इति कन्। त्वां द्वेष्टा ताच्छील्ये तृन् 'न लोक' इति षष्ठीनिषेधः। अस्य पुंसः नरकः निरयः नियतः नियमेन भविता। अत्र भगवत्परिचर्यावैधुर्यनिरयप्राप्त्योस्तद्विद्वेषनरकावाप्त्योश्चानुरूप्यम्। मालारूपमिदमिति विशेषः। निन्दापर्यवसायित्वं तु पूर्ववदेव। एषूदाहरणेष्वादिममुदाहरणं दृष्टान्तसंकीर्णं, अन्यान्युदाहरणानि तु श्लेषादिसंकीर्णानीति विशेषः॥

## द्वितीयसमम्.

समं तदपि कार्यस्य सारूप्यं कारणेन यत् ॥

कार्यस्य कारणेन सारूप्यमपि समालंकारः। अत्रोत्पत्तिलक्षणसंसर्गस्यानुरूप्यम्। तच्च कारणात्स्वसमानगुणकार्योत्पत्त्या,

यादृशगुणकवस्तुसंसर्गस्तादृशगुणोत्पत्त्या चेति द्विविधम् । इदं द्वितीयविषमप्रतिद्वन्द्वि ॥

तत्राद्यं यथा —

**कृतसूर्यभवाश्लेषा गङ्गा चक्राब्जमत्स्यरेखाढ्या। इदमनुरूपं तस्या उदितायाः फणिगिरीश तव पदतः ॥ १३२९ ॥**

कृतः सूर्यभवायाः कालिन्द्याः श्लेषः संसर्गो यया सा तथोक्तेति गङ्गापक्षे, भगवच्चरणपक्षे तु कृतः सूरीणां विदुषां अभवाश्लेषः संसारसंबन्धवैधुर्यं येनेति योज्यम् । चक्राः चक्रवाकाः अब्जानि पद्मानि मत्स्याश्च तेषां रेखया पङ्क्त्या आढ्या । अन्यत्र चक्रं सुदर्शनं अब्जः शङ्खः अब्जं पद्मं वा मत्स्यश्च तेषां रेखाभिः तदाकाररेखाभिराढ्यमिति ॥

यथावा—

**अम्भोधिराजदुहिता गम्भीरा श्रीनिवास तव दयिता । करितुरगधेनुमणिमुखविभवं सुमनस्सु वितरति स्थाने ॥ १३३० ॥**

करितुरगधेनुमणयः ऐरावतोच्चैश्श्रवःकामगवीचिन्तामणयः । अन्यत्र गजादय एव । सुमनस्सु देवेषु विद्वत्सु च । अत्र उदाहरणद्वये कारणाभ्यां भगवच्चरणाम्भोनिधिभ्यां कार्ययोर्गङ्गालक्ष्म्योस्सारूप्यं श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायेन निर्व्यूढम् । उभयत्रापि कारणात्स्वसमानगुणकार्योत्पत्त्या उत्पत्तिलक्षणसंसर्गस्यानुरूप्यमुक्तम् ॥

यथावा—

**श्रीस्त्वां जलधिस्सुषुवे विषमपि संमूर्छितं जगद्याभ्याम् । सांप्रतमिदं विषमयो यदयं किल सगरजातसंवृद्धः ॥ १३३१ ॥**

हे श्रीः 'श्रीर्वेषरचनाशोभासंपत्सरळशाखिषु । वाणीलक्ष्मीलवङ्गेषु विषे विल्वेऽपि' इति रत्नमाला । जलधिः त्वां विषापरपर्यायश्रीशब्दवाच्यामिति भावः । विषमपि गरळं च सुषुवे । याभ्यां त्वया विषेण च जगत् संमूर्छितं मोहितं निश्चेतनीकृतमित्यर्थः । श्रीपक्षे 'त्वया च विष्णुना चाम्ब' इत्युक्तरीत्या अभिव्याप्तमिति वास्तवार्थः । 'संमूर्छनमभिव्याप्तावुच्छ्रायमोहयोरपि' इति मेदिनी । इदं अम्बुधेरीदृशवस्तुजननं सांप्रतं युक्तम् । यत् यस्मात् सः गरजातसंवृद्ध इति च्छेदः । सोऽयमिति योजना । पूर्वोक्तोऽसौ जलधिः गरजातेन गरळसमूहेन संवर्धितः विषमयः प्रचुरगरळः । तस्मादस्य जलधेः विषापरनामश्रीशब्दवाच्यवस्त्वादिप्रसूतिरुचितेति भावः । वस्तुतस्तु सगरेत्यभिन्नं पदम् । सगरजातैः सगरसुतैः अभिवर्धितः विषमयः जलमय इत्यर्थः । अत्रापि कारणेन जलधिना कार्ययोश्श्रीविषयोस्सारूप्यं श्लेषासादितवैभवम् । पूर्वोदाहरणद्वयं प्रशंसापर्यवसायि । इदं तु निन्दापर्यवसायीति भेदः । एवंच प्रथमसमप्रभेद इव द्वितीयमस्मिन्नपि स्तुतिनिन्दापर्यवसायित्वलक्षणद्वैधी संभवतीति ध्येयम् ॥

द्वितीयसमप्रभेदे द्वितीयं यथा—

**घनसारचूर्णकल्पितललाम कमलामनोहर मु-**

खं ते । विधुनीते मम तापं विदधात्यामोदमिति यदुचितं तत् ॥ १३३२ ॥

कमलामनोहरेति संबुद्धिः । ललामशब्दो नान्तो नपुंसकलिङ्गः । 'ललामं च ललाम च' इत्यनुशासनात् ॥

यथावा—

विसृमरकौस्तुभमहसा मसृणं कमलाङ्घ्रिजतुरसात्यरुणम् । अञ्जनगिरिपतिहृदयं रञ्जयति मनो ममेत्युचितमेतत् ॥ १३३३ ॥

रञ्जयति अरुणयति आनन्दयति च । अत्राद्ये उदाहरणे भगवन्मुखगतशिशिरसुरभिलघनसारतिलकसंसर्गानुरूप्यं तापविधूननामोदनरूपकार्ययोः । अनन्तरोदाहरणे मनोरञ्जनरूपकार्यस्य भगवदुरस्स्थलगतकौस्तुभप्रभादिसंसर्गानुरूप्यम् ॥

यथावा—

हालाहलसहजन्मा व्यालावनिभृद्विभोश्च हृदयमगाः । यस्सेवते सदा त्वां सुधाब्धितनये स मुह्यतीत्युचितम् ॥ १३३४ ॥

व्यालावनिभृद्विभोः भुजगराजाधिराजस्य हृदयं अन्तरं शेषाचलनाथस्य वक्ष इति वस्तुस्थितिः । सेवते पिबति भजते च । मुह्यति मूर्छति ऐश्वर्यमूलकचित्तविकारं प्राप्नोति च । स्पष्टमन्यत् । पूर्वोदाहरणद्वयं प्रशंसापर्यवसायि, इदं तु निन्दापर्यवसायीति पूर्ववदेव भेदः । एवंच द्वितीयसमविशेषे प्राथमिकप्रभेदोदाहरणत्रये कृतसूर्यभवाश्लेषेत्यादौ कारणस्वभावानुरूप्यं

कार्यस्य द्वितीयप्रभेदोदाहरणत्रये घनसारचूर्णेत्यादौ अगन्तुकघनसारादिसंसर्गानुरूप्यमिति निष्कर्षः ॥

## तृतीयसमम्.

---

यत्किञ्चिदिष्टसिद्ध्यर्थं य उद्योगो वितन्यते ।
अनिष्टेन विना तस्य सिद्धिश्च सममुच्यते ॥

यत्किञ्चिदिष्टप्राप्त्यर्थनप्रयुक्तात्कारणादनिष्टं विना तत्प्राप्त्या उत्पत्तिलक्षणसंसर्गस्यानुरूप्यं च समालंकार इत्यर्थः। उत्कटेष्टान्तरप्राप्तौ तु प्रहर्षणं वक्ष्यते। इदं तृतीयं समं 'इष्टार्थोद्योगतोऽनिष्टावाप्तिश्च विषमं मतम्' इति संगृहीतसप्रकारात्रिविधाविषमस्यापि प्रतिद्वन्द्वि, इष्टावाप्तेरनिष्टस्याप्रसङ्गाच्च ॥

यथा—

अनिशमपि तं निषेवितुमसितं निश्युत्पलं निषेव्य विधुम्। त्वद्दिव्यदृगात्मत्वं प्राप्य रमे स्वेप्सितार्थमनुभवति ॥ १३३५ ॥

हे रमे! अनिशं निशाया अभावेऽपि। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। तं विधुं श्रीनिवासं चन्द्रमसमिति तु तत्त्वम्। निषेवितुं असितमुत्पलं इन्दीवरं निशि विधुं निषेव्य निशाया योगाभ्याससमयत्वात्तदा विधुमुपास्येत्यर्थः। त्वद्दिव्यदृगात्मत्वं तव कमनीयनयनरूपत्वं त्वद्विषयकासंकुचितज्ञानात्मत्वं परिशुद्धं स्वरूपमित्यपि गम्यते। प्राप्य स्वेप्सितार्थं अनिशविधुनिषेवणरूपमभीष्टार्थं अनुभवति। अत्र निशाभावदशायामपि विधुनिषेवणलक्षणाभीष्टावाप्त्यर्थं

प्रयुक्तान्निशाधिकरणकोपासनलक्षणात्कारणादिन्दीवरस्यानिष्टं वि-
ना तत्सिद्धेरुत्पत्तिलक्षणससंर्गस्यानुरूप्यम् ॥

यथावा—

सततमपि हरिकरग्रहवैभवमाकाङ्क्षदम्ब सर-
सिरुहम् । अभिहरि सलिले तप्त्वाऽलभत त्व-
त्पाणिजन्मनि तदेव ॥ १३३६ ॥

हरिकरग्रहवैभवं भगवत्पाणिग्रहणसंपदं भानुकरसंपर्कातिशयं च । अभिहरि भगवदभिमुखं भानुमदभिमुखं च । तदेव सततहरिकरग्रहवैभवमेव । अत्रापि सार्वकालिकहरिकरग्रहणलक्षणाभीष्टलाभाय हर्यभिमुखं तपस्यतोऽम्बुजस्य जन्मान्तरेऽनिष्टं विना तत्सिद्धिर्दर्शिता ॥

यथावा—

दातुं विभवे भोगान्भोक्तुं स्वयमपि भवन् बहु-
विधाशः । जननि सुधाकलशस्त्वत्कुचजन्मनि भ-
वति सुकल इति युक्तम् ॥ १३३७ ॥

हे जननि! सुधाकलशः अमृतकुम्भः सुधाकलशशब्दश्च विभवे सति ऐश्वर्यावसर इत्यर्थः । विभवे लोकनाथाय भगवते इति वस्तुस्थितिः । भोगान् दातुं स्वयं भोक्तुमपि बहुविधा आशा आयततृष्णा यस्य स तथोक्तः भवन् । पक्षे बहु यथास्यात्तथा विधाशः विगतधाकारशकारइत्यर्थः । त्वत्कुचजन्मनि सुकलः मनोरथानुगुणं त्यागभोगभाग्भवन् सन् ‘सुकलो दातृभोक्तरि’ इत्यमरः । धाकारशकारापनयनेन सुकल इति निष्पन्न इति वस्तुस्थितिः । अत्र सुधाकलशस्यानिष्टं विना स्वेप्सितावाप्तिः ॥

यथावा—

**कुचजन्म प्रेप्सुस्तव तपस्स्थितस्सोढशीतवातो-ष्णः । कुचतां कुलाचलोऽगात्तव कमलेलालयन् स्वमात्मानम् ॥ १३३८ ॥**

हे कमले ! कुलाचलः तव कुचजन्म प्रेप्सुः अतएव तप-स्थितः तपश्चरन् । पक्षे तपसि माघमासे शिशिरऋताविति भावः । तपे ग्रीष्मे च स्थितः निश्चलतया वर्तमानः आतपे स्थित इति वा । न हि कुलाचलः कालभेदेन चलाचलो भवति । अतएव सोढशीतवातोष्णः 'ग्रीष्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षास्वासारषाण्मुनिः' इत्याद्युक्तप्रक्रियया द्वंद्वसहिष्णुस्सन् । पक्षे निसर्गत एव शीतादे-स्सोढा । न ह्यचलश्शीतेन वातेन वा वेपते उष्णेन वितपते । तपसः फलमाह कुचतामिति । स्वं स्वकीयं आत्मानं अन्तरात्मानं भगवन्तं लालयन् विलासयन् 'लड विलासे' णिजन्तादस्मात् लक्षणहेत्वोः' इति शता । हेतुरिह फलम् । स्वान्तरात्मप्रीणना-येत्यर्थः । तव कुचतां अगात् स्तनतयाऽवातारीत्यर्थः । पक्षे कुलाचलशब्दः कमले अलालयन्निति छेदः । स्वं आत्मानं स्वस्व-रूपं अलालयन् लाश्च लश्च लालौ अविद्यमानौ लालौ यस्य सः अलालः तथोक्तं कुर्वन् अलालयन् लालेतिवर्णद्वयविधुरितं कुर्वन् कुचतां कुचशब्दतां अगात् । उक्तरीत्या लाकारलकाररहित्ये कुच इत्येवावशेषादिति भावः । अत्र कुलाचलस्य विनाऽनिष्टमभी-प्सितार्थसंसिद्धिः ॥

यथावा—

**श्रीकुचफलशेषत्वप्रेप्सावल्लूरभोगसंत्यागि । मा-लूरफलं शुद्धं माफलशेषं न मुञ्चति स्वार्थम् ॥**

मालूरस्य बिल्वस्य फलं 'बिल्वशाण्डिल्यशैलूषमालूरश्रीफला अपि' इत्यमरः। श्रियः कुचावेव फले तयोश्शेषत्वं तदतिशयाधित्सयोपादेयस्वरूपत्वं तस्य प्रेप्सया वल्लूरस्य शुष्कमांसस्य 'उत्तप्तं शुष्कमांसं स्यात्तद्वल्लूरं त्रिलिङ्गकम्' इत्यमरः' भोगः अभ्यवहारः भुजेर्भावे घञि 'चजोः' इति कुत्वम्। 'भोगस्तु राज्ये वेश्याभृतौ सुखे। धनेऽहिकायफणयोः पालनाभ्यवहारयोः' इति हेमचन्द्रः। तस्य संत्यागि वल्लूरोपलक्षितनिखिलनिषिद्धाहारत्यजनशालि। आहारशुद्ध्यभावे सत्त्वशुद्ध्यनुदयादिति भावः। अत एव शुद्धं निर्दोषं पवित्रं वा। अतएव माफलशेषं मायाः श्रियः फले फलत्वेनाध्यवसितौ स्तनौ तयोः शेषं शेषभूतं अतिशयाधायकं च सत् स्वाभीप्सितशेषतां लब्धवदिति भावः। स्वार्थं स्वकीयं पुरुषार्थं न मुञ्चति कदाऽपि न त्यजति। नित्यशेषमेव सत् तत्कैंकर्यं समनुभवतीति भावः। पक्षे मालूरफलमिति पदं, शब्दार्थयोस्तादात्म्यम्। श्रीकुचफलशेषत्वप्रेप्सावत् लूरभोगसंत्यागि इति छेदः। उक्तेच्छाविशिष्टं सत्। लूरयोः लूकाररेफयोः भोगः अनुभवः तस्य संत्यागि। उत्सारितलूकाररेफमित्यर्थः। अतएव शुद्धं केवलं यथातथा 'शुद्धं स्यात्त्रिषु केवले। निर्दोषे च पवित्रे च' इति मेदिनी। माफलशेषं मा फ ला इति त्रयो वर्णाः शेषाः शिष्टाः यस्य तथोक्तं अवशिष्टमाफलरूपवर्णत्रयमित्यर्थः। ईदृशमपीत्युपस्कार्यम्। स्वार्थं श्रीफलरूपं स्वाभिधेयं न मुञ्चति। मालूरफलमिति पदमविकलवर्णं यावन्तमर्थं बोधयति उक्तरीत्या वर्णवैकल्येऽपि तावन्तमेवार्थं बोधयति। मालूरफलमाफलशब्दयोरेकार्थकत्वादिति भावः। माफलं श्रीफलम्। बिल्वस्य श्रीफलत्वं च 'वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः' इति श्रुतिसिद्धं उदाहृतकोशसिद्धं च। शेषमित्यत्र शिष्यत इति शेषमिति

कर्माणि घञ् अतएव भेद्यालिङ्गता । भावे घञ एव पुल्लिङ्गत्वनियमः । अतएव 'संबन्धमनुवर्तते' इति भाष्यम् 'शेषं रामवत्' इत्यादिप्रयोगाः 'शेषस्संकर्षणे वधे' इत्युपक्रम्य 'उपयुक्तेतरे न स्त्री' इति मेदिन्यादिकोशाश्च संगच्छन्ते । अत्र मालूरफलस्यानिष्टं विना अभीष्टसिद्धिः ॥

इमानि सर्वाण्यपि अनिष्टं विना केवलेष्टप्राप्तावुदाहरणानि ॥

अनिष्टपरिहाररूपेष्टप्राप्तिर्यथा —

त्वच्छ्रीविद्वेषकृतां घनाघवत्तां घनाघनोधून्वन् ।
विष्णो पदे तव पतन्नधश्शिराः कल्पते स्म न-
घनाघः ॥ १३४० ॥

हे विष्णो ! घनाघनः प्रावृषेण्याम्बुवाहः तव श्रियः संपदः रुचेश्च विद्विषः तेन कृतां तावकश्रीविषयकवैरहेतुकां घनाघवत्तां अविरळदुरितशालितां धून्वन् 'लक्षणहेत्वोः' इति शता । हेतुरिह फलम् । घनाघवत्ताविधूननेन प्रयोजनेनेत्यर्थः । तव पदे चरणे विष्णोः पदे अन्तरिक्षे इति तत्त्वम् । अधश्शिराः पतन् प्रणिपतन्नित्यर्थः । घनं च तत् अघं च घनाघं, न घनाघं यस्य स नघनाघः नशब्देन बहुव्रीहिः । कल्पते स्म । निरस्तनिखिलकलुषोऽभूदित्यर्थः ।

प्रणम्य कृष्णं सहसा पांसुक्लिष्टे महीतले ।
निष्कल्मषो भवेत्सद्यो ललाटे पांसुमण्डनात् ॥
हरिममरगणार्चिताङ्घ्रिपद्मं प्रणमति यः परमार्थतो मनुष्यः ।
तमपगतसमस्तपापबन्धं व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यासिक्तम् ॥

इत्यादि प्रमाणसहस्रं स्मर्तव्यम् । पक्षे घनाघनशब्दः घनाघवत्तां घनाघेति वर्णपाङ्क्तिमत्तां अधून्वन् इति छेदः अविरु-

जन्नेवेत्यर्थः। अधश्शिराः पतन् विलोमतया स्थित इति यावत्। नघनाघ इति निष्पन्न इति। अत्र घनाघनस्यानिष्टं विना स्वाभीप्सितघनाघरूपानिष्टनिवृत्तिरूपेष्टसिद्धिः॥

यथावा—

स्वजुषां सदा सुमनसां हर्तुमधः प्रसवबन्धनात्पतनम्। त्वद्भुजतामेत्य हरे कल्पतरुर्हरति तद्यदुचितं तत्॥ १३४१॥

हे हरे! कल्पतरुः सदा स्वजुषां आत्मानं सेवमानानां सुमनसां विदुषां कुसुमानां च। प्रसवबन्धनात् नानायोनिप्रसूतिसंबन्धात् वृन्ताच्च 'वृन्तं प्रसवबन्धनम्' इत्यमरः। अधःपतनं अधोलोके भ्रंशं अधःप्रदेशे गळनं च। हर्तुं निरसितुं त्वद्भुजतां त्वद्बहुरूपतां एत्य तत् सुमनसां प्रसवबन्धानदधःपतनं हरतीति यत् तदुचितम्। अत्र सुमनसां प्रसवबन्धनादधःपतनरूपानिष्टपरिहारलक्षणेष्टार्थोद्योगात्कल्पतरोरानिष्टं विना तत्सिद्धिः। सर्वाण्यप्येतान्युदाहरणानि श्लेषभेदाध्यवसायसंकीर्णान्येव॥

किंच यत्रातर्कितोत्कटानिष्टसद्भावेऽपि श्लेषवैभवेनेष्टार्थत्वप्रतिपत्तिस्तत्रापि समालंकारो न प्रतिहन्यते। यथा—

श्रीवशगव्यामोहे भगवन्मा मुक्तमातनु त्वमिति। त्वामासेवे त्वमपि च तथैव मामुक्तमाचरंस्तनुषे॥ १३४२॥

हे भगवन्! श्रीवशगः लक्ष्मीवशंवदः व्यामः यस्य 'व्यामो बाह्वोस्सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्' इत्यमरः। यथासंभवमाश्लेषार्थं स्वेस्वे पार्श्वे प्रसारितयोर्बाह्वोरन्तरं लक्ष्मीवशंवदं

यस्य स तथोक्त इत्यर्थः। त्वं अनेन पुरुषाकारसान्निध्यबला- दवधीरितविनतजनतापराधतया रक्षणौन्मुख्यं द्योतितम्। मा मां अनन्वादेशे वैकल्पिकत्वादत्र मादेशः। मुक्तं शिथिलितभव- बन्धं आतनु कुरु। यद्वा श्रीवशगः संपन्मूलकः यो व्यामोहः अतिमात्रवैचित्यं तस्मिन्! अथवा श्रीवशगेति भगवत एव संबोधनम्। व्यामोहे पुत्रकळत्रसंपदादिप्रयुक्तसंमोहे आमुक्तं बद्धं 'आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च' इत्यमरः। मा तनु मा कुरु। माशब्दोऽयं न तु माङ्, येन लुङेव स्यात्। इति त्वां आ- सेवे त्वमपि मामुक्तं आचरन् सन् तथैव तनुषे यथाप्रार्थन- मेव कुरुषे इति स्तुतिः। श्रीवशगव्यामोहे मा मां आमुक्तं बद्धमेव तनुषे इत्युपालम्भः। इदं मुक्त्यैश्वर्यप्रेप्सया श्रीनिवासं सेवमानस्य आनुषङ्गिकीं तद्विश्राणितामैहिकीमामुष्मिकीं च संपदमपि तत्परिपन्थिनीं जानतः कस्यचित्प्रपन्नस्य तं प्रत्यु- पालम्भवचनम्। अत्र यद्यपि व्याजस्तुतौ स्तुत्या निन्दाभिव्य- क्तिविवक्षायां विषमालङ्कारः। न चैहिकामुष्मिकाविभवस्यानिष्ट- त्वायोगान्न विषमालंकार इति वाच्यं, मुमुक्षुदृष्ट्या तस्यानिष्ट- तायाः 'एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः' इत्युक्तेः अनेन वचनेनामुष्मिकसंपद एव निरयप्रायत्वस्य वर्णनादैहिक- संपदस्तथात्वं कैमुत्यन्यायसिद्धम्। तथाऽपि प्राथमिकस्तुतिरू- पवाच्यविवक्षायां समालंकारो न निवार्यते॥

यथावा—

सुतरामुक्तिविदूरा संपत्स्यादिति समाश्रितोऽ-
हं त्वाम्। सुतरामुक्तिविदूरा तथैव संपत्त्वयाऽ-
च्युत वितीर्णा॥ १३४३॥

सुतरां उक्तिविदूरा 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्युक्तरीत्या वाग्वामविषयभूता। संपत् मुक्तैश्वर्यं स्यादिति भवेदिति प्रत्याशेत्यर्थः। त्वां अहं समाश्रितः तथैव सुतरामुक्तिविदूरा संपदेव त्वयाऽपि वितीर्णेति स्तुतिः। सुतरा शोभनतरत्वेनाभासमाना मुक्तिविदूरा मोक्षदवीयसी संपदित्युपालम्भः। 'अर्थश्रेयसि चासक्तो न श्रेयो विन्दते परम्' इति महाभारतोक्तेरैहिकसंपदो मुक्तिविदूरत्वम्। अत्रापि पूर्वोदाहरणवदेव सर्वं द्रष्टव्यम्॥

यथावा—

**अहमन्नाद इति सदा गातुं त्वां शरणमगमम-**
**ब्जाक्ष। भवताऽपि तथाऽकारिषि सांप्रतमन्ना-**
**द एव किल कृपया॥ १३४४॥**

इदं निश्रेयसावाप्तित्वरया प्रारब्धकर्मफलभोगानुभवादपि जुगुप्समानस्य कस्याचित्प्रपन्नस्य प्रपत्त्युत्तरमपि सांसारिकभोगानेव यथापुरमनुभावयन्तं भगवन्तं प्रति व्याजस्तुत्या उपालम्भवचनम्। तथाहि - हे अब्जाक्ष! अहमन्नाद इति सदा गातुं 'एतत्साम गायन्नास्ते' इत्युपक्रम्य 'अहमन्नादोऽहमन्नादः' इति श्रुत्युक्तक्रमेण सामगानं विधातुं परिपूर्णपरब्रह्मानुभवानन्दरूपं मुक्त्यैश्वर्यं लब्धुमिति भावः। 'अहमन्नादः' इति श्रुतिगतयोश्शब्दयोः अहं अस्मच्छरीरकः परमात्मैव अन्नादः सकलभोक्तृशरीरक इत्यर्थः। 'अहंशब्दः परमात्मपर्यन्तः भोग्यभोक्तृवाच्यान्नान्नादिशब्दौ च तत्पर्यन्तौ' इति तद्भाष्यम्। त्वां शरणमगमं प्रपन्नोऽस्मि। भवताऽपि कृपया सांप्रतं इदानीं तथा अकारिषि यथाभ्यर्थनं अन्नाद एव कृतोऽस्मि। कृञः कर्मणि भूते लुङुत्तमैकवचनम्। अकारिषि सांप्रतमिति वा योजना।

तदा सांप्रतं युक्तमित्यर्थः। 'सांप्रतं चाधुनार्थे स्याद्युक्तार्थेऽपि च सांप्रतम्' इति विश्वः। किलेति संभावनायामनुनये वा। 'किलशब्दस्तु वार्तायां संभाव्यानुनयार्थयोः' इति विश्वः। उपपादितोऽर्थस्सर्वोऽपि स्तुतिपरः। अन्नादः केवलं प्राकृतौदनभोक्तैव अकारिषि न तु 'विजिघत्सः' इति श्रुत्युक्तजिघत्सादिहेयगुणविधुर इत्युपालम्भः। अत्र मुमुक्षोः प्रपन्नस्य प्राकृतभोगरूपोत्कटानिष्टसद्भावेऽपि श्लेषमहिम्ना मुक्तैश्वर्यानुभवरूपेष्टप्रतिपत्तिः॥

यथावा—

रजनिचरा रघुनन्दन निशारणं तव जयाय
येऽकाङ्क्षन्। त्वमपि तथैव निशारणमददास्तेषा-
मुदारदाक्षिण्यः॥ १३४५॥

तव जयाय त्वत्कर्मकाभिभवाय निशारणं रात्र्यधिकरणकं युद्धम्। तथैव यथेप्सितमेव निशारणं रात्रियुद्धम्। वस्तुतस्तु तव जयाय त्वत्कर्तृकाविजयाय तेषां रजनिचराणां निशारणं निषूदनं अददा इत्यर्थः। 'प्रमापणं निबर्हणं निकारणं निशारणम्' इत्यमरः। अत्र रजनिचराणां निबर्हणरूपानिष्टस्योत्कटस्य सत्त्वेऽपि श्लेषप्रभावेण निशायुद्धरूपेप्सितलाभः॥

यथावा—

आमितां कमनीयस्थितिमाप्तुं ये त्वत्पराभवा-
दैच्छन्। कमनीयस्थितिरेव ह्यमिता तैस्त्वत्परा-
भवाल्लभे॥ १३४६॥

हे भगवन्! त्वत्पराभवात् त्वत्कर्मकपरिभवात्। अमितां अपरिच्छिन्नां कमनीयस्थितिं वैभववत्तया रमणीयमवस्थानम्। उत्तरार्धेऽप्येवमेव। तत्र परमार्थतस्तु त्वदिति भिन्नं पदम्। त्वत् त्वत्तः पराभवात् स्वकर्मकपरिभवात्। अमिता अविद्यमानमकारा कृता कमनीयस्थितिः कनीयस्थितिः शब्दार्थयोस्तादात्म्यात्। अतिमात्रनिकृष्टा स्थितिरेवेत्यर्थः। कनीयसी चासौ स्थितिश्चेति विग्रहः। अल्पशब्दादीयसुनि 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इति कनादेशः। अत्र कनीयस्स्थितिरूपोत्कटानिष्टसद्भावेऽपि श्लेषवैभवेन कमनीयस्थितिरूपेष्टलाभः॥

यथावा--

प्राप्ता सुरपतिपदमपि पातालमनन्तभोगिलोकमपि। विन्देयमिति यजन् बलिरकारि भवता त्रिविक्रम तथैव॥ १३४७॥

हे त्रिविक्रम! इदं एतत्पद्यप्रस्तुतार्थस्य तदवतारासाधारणतां व्यञ्जयितुम्। सुरपतिपदं महेन्द्रस्थानं प्राप्ता। प्रपूर्वकादाप्नोतेस्तृन्। अपिश्चार्थकः। अलं पाताऽपि रक्षिता च। पातेस्तृन्। बलिः दैत्येन्द्रः। अनन्तः यः भोगिनां उत्तमतत्तत्कर्मफलभोक्तॄणां लोकः ब्रह्मलोकपर्यन्तं विष्टपम्। यद्वा अनन्तेति भगवतएव संबोधनम्। भोगिलोकमपि उक्त एवार्थः। अथवा अनन्तभोगः भगवदनुभवः सोऽस्मिन्नस्तीत्यनन्तभोगी स चासौ लोकश्च। अनन्तभोगिनां भगवदनुभवशालिनां लोक इति वा। तमपि श्रीवैकुण्ठमपीत्यर्थः। विन्देयं प्राप्नुयामिति यजन् यज्ञं कुर्वन् सन् भवता यज्ञाराध्येन तत्फलप्रदेन चेति भावः। य-

थामनोरथमेव फलं लम्भित इत्यर्थः। वस्तुतस्तु सुरपतिपदं प्राताऽपि बलिः अनन्तः भोगिलोकः भुजगसमुदयः यस्मिन् सः तं तथोक्तं पातालं प्रापित ,इति। अनन्तेति भगवतस्संबोधनविवक्षायां पातालं तत्संज्ञकं भोगिलोकं नागलोकं प्रापित इति वा अर्थः। अत्रोत्कटानिष्टस्य पातालप्रापणस्य सद्भावेऽपि अनन्तपुण्यकृल्लोकादिप्राप्तिरूपेष्टसिद्धिः प्रत्यायिता। अत्रोत्कटानिष्टस्यातर्कितत्वं स्फुटतरमिति ध्येयम्॥

यत्रेष्टार्थप्राप्तिसद्भावेऽपि श्लेषवशादसतोऽनिष्टार्थस्य प्रतीतिस्तत्रापि समालंकारस्य न क्षतिः, अनिष्टप्रतीतेराभासरूपत्वेनापर्यवसानात्॥

यथा—

गुरुणात्यादरगुरुणा कार्या देवेनभक्तिरित्युदितः।
कुर्वंस्तथैव भक्तिः गुर्वाज्ञां सर्वथाऽपि नात्यैषीत्॥

अत्र गुर्वाज्ञां सर्वथाऽपि नात्यैषीदित्यनेन विरोधालंकाराभिव्यञ्जनाय देवेनभक्तिरित्यत्र पदत्रयविभागात्मकरूपान्तरस्यापि विवक्षायास्सत्त्वेऽपि देवानां इने स्वामिनि भगवति भक्तिः देवेनभक्तिरित्येकपदेन वस्तुसदर्थान्तरपरं रूपान्तरमुपादाय समालंकारोऽप्यस्त्येव॥

यथावा—

व्रतमेतर्हि जयन्त्याः कार्यं नाशनमितीरितः
पित्रा। बालस्तथैव विदधे वितथां विदधीत को
नु पितुराज्ञाम्॥ १३४१॥

अत्रापि वितथां विदधीत को नु पितुराज्ञामित्यनेन विरोधालंकृतिमभिव्यञ्जयितुं नाशनमित्यत्र एकपदरूपान्तरस्यापि वि-

वक्षायास्सद्भावेऽपि न अशनमिति पदद्वयविभागेन अशनं अभ्यवहरणं न कार्यं किंतूपवसनमेवेति वस्तुसदर्थान्तरमभिदधानं रूपान्तरमालम्ब्य समालंकारोऽप्यक्षत एव। पूर्वस्मिन्नुदाहरणे पदत्रयविभागेनासतोऽनिष्टार्थस्य प्रतीतिः, ऐकपद्येन वस्तुसत इष्टार्थस्य। इह तु ऐकपद्येनासदनिष्टार्थप्रतीतिः पदद्वयविभागेन वस्तुसदिष्टार्थस्येति भेदः॥

श्लेषलब्धासदिष्टावाप्तिप्रतीतिमात्रेणापि समालंकारत्वं 'अनिशमपि तं निषेवितुम्' इति प्रागुपदर्शितेषूदाहरणेषु द्रष्टव्यम्। मात्रपदेनानिष्टार्थप्रतीतिर्व्यवच्छिद्यते। तत्र हि असितोत्पलादीनां श्लेषबलादनिशविधुनिषेवणादीष्टावाप्तिमात्रम्, न त्वनिष्टप्रतिभासोऽपीति ध्येयम्॥

यत्तु विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषममिति विषमालंकारं लक्षयित्वा तद्विपर्ययस्सममिति समालंकारं लक्षयता तत्पदेनात्र विषमालंकारसम्बन्धी विरूपघटनारूपश्चरम एव भेदो गृह्यते तद्विपर्ययस्यैव चारुत्वात्। न त्वाद्यभेदद्वयं, तद्विपर्ययस्य कारणादनुरूपकार्योत्पत्तिरूपस्य वाञ्छितार्थप्राप्तिरूपस्य च वस्तुसिद्धतया चारुताविरहात्। एवं चानुरूपसंघटनात्मक एव समालंकारः। न तु विषमालंकार इव भेदत्रितयात्मक इत्यलंकारसर्वस्वकृतोक्तम्। तन्न, वस्तुतोऽननुरूपयोरपि कार्यकारणयोः श्लेषादिना धर्मैक्यसंपादनद्वारा अनुरूपत्ववर्णने वस्तुतोऽनिष्टस्यापि तेनैवोपायेन इष्टैक्यसंपत्ताविष्टप्राप्तिवर्णनं च चारुतया अत्रैव दर्शितत्वात्। तस्मात्सममपि विषममिव त्रिविधमेवेति॥

इत्यलंकारमणिहारे समालंकारसर एकचत्वारिंशः.

---

## अथ विचित्रालंकारसरः (४२)

इष्टैषिणेष्टसिद्धयै तद्विपरीतं क्रियेत चेत् ।
प्रयत्नस्तामिमां प्राहुर्विचित्रालंकृतिं बुधाः ॥

कस्यचित्फलस्येच्छया तद्विपरीतः प्रयत्नः क्रियेत चेत् विचित्रालंकारः । इष्टविपरीताचरणमिति यावत् । विपरीतत्वं च प्रतिकूलत्वम् ॥

यथावा --

भवजलधितलनिमग्नानुद्धर्तुं तान् सुगं सुपन्थानम् । प्रापयितुमपि हरे बत फणिधरशिखराग्रदुर्गमावससि ॥ १३५० ॥

सुखेन गच्छन्त्यत्रेति सुगः तं 'सुदुरोरधिकरणे' इति गमेर्डः । शोभनः पन्थाः सुपन्थाः तं सुपन्थानं 'न पूजनात्' इति समासान्तनिषेधः । दुःखेन गच्छन्त्यत्रेति दुर्गम् । अत्रातिमात्रनिम्नभवजलनिधितलनिमग्नजनोद्धरणं तेषां सुमार्गप्रापणं च फलमुद्दिश्य तद्विपरीतमहोन्नतफणिप्रचुरगिरिशिखराग्रदुर्गस्थानावस्थानरूपविपरीतप्रयत्नवर्णनम् । शेषाचलशिखराग्रावस्थितिमाचरसीति तत्त्वम् ॥

यथावा—

निरवधिमवधीरयितुं दुरभिभवं हेयभोगसंसर्गम् । सन्तः कृष्ण भजन्ते हन्त त्वाहेयभोगकृतनृत्तम् ॥ १३५१ ॥

हे कृष्ण! सन्तः हेयभोगसंसर्गं अवधीरयितुं हेयभोगेष्वेव कृतनृत्तं तत्रैवाभिषक्तामिति यावत्। त्वा त्वां भजन्ते। हन्तेत्याश्चर्ये। वस्तुतस्तु आहेयेति छेदः आहेयः अहिभवः यो भोगः फणः तत्र कृतनृत्तं कालियफणिफणकृतनटनामित्यर्थः। आहेयेत्यत्र अहिशब्दात् भवार्थे 'दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ्' इति ढञ्। अत्र हेयभोगसंसर्गावधीरणमुद्दिश्य तद्विपरीतहेयभोगकृतनटनभजनलक्षणप्रयत्नो निबद्धः। प्रायेण श्लेषमूलाभेदाध्यवसायोऽत्र जीवातुः॥

यथावा—

वृजिनधराधरशिखरादवरोढुं श्रीनिवास ननु
मनुजाः। जिह्मगधरणिधराञ्चलमारोहन्तीति ना-
द्भुतं कस्य॥ १३५२॥

वृजिनं कुटिलं यत् धराधरशिखरं तस्मात् अवरोढुं। पक्षे वृजिनं दुरितमेव धराधरशिखरं तस्मादित्यर्थः। 'वृजिनं कल्मषे क्लीवं केशे न कुटिले त्रिषु' इति मेदिनी। जिह्मगस्य कुटिलगमनस्य धराधरस्य गिरेः अञ्चलं अग्रं शेषाचलशृङ्गमिति वस्तुस्थितिः। 'अरालं वृजिनं जिह्मम्' इत्यमरः। अत्र वृजिनधराधरशिखरावरोहणलक्षणफलोद्देशेन तद्विपरीतः जिह्मगधरणीधराग्रारोहणरूपप्रयत्नः॥

यथावा—

अतिपतितुं दुर्गाणि प्रतिपदमहिशिखरिशिख-
रदुर्गगतम्। शरणं व्रजन्ति दैवं करणं विनियम्य
सकलमपि मुनयः॥ १३५३॥

दुर्गाणि शैलादिदुर्गमस्थानानि। कृच्छ्राणि नरकांश्च 'दुर्गा तु गौर्यां काल्यां च दुर्गं तु नरके पुरे। शैलादिदुर्गमस्थाने त्रिषु त्वेष दुरासदे' इति रत्नमाला। 'दुर्गं तु नरके कृच्छ्रे' इति कोशान्तरम्। 'सर्वस्तरतु दुर्गाणि, दुर्गाण्यतितरत्याशु' इत्यादयः प्रयोगाश्च। अत्र दुर्गातिपतनरूपफलमुद्दिश्य तद्विप्रतीपदुर्गगत-पुरुषशरणागतिलक्षणप्रयत्नवर्णनम्॥

यथावा—

**पापशमनावलोकनलोपकृते त्वत्कृपाव्यपाश्र-यवान्। श्रीपरिबृढ साधुजनः पापशमनमेव क-लयति विचित्रम्॥ १३५४॥**

हे श्रीपरिबृढ! त्वत्कृपाव्यपाश्रयवान् साधुजनः, पापः क्रूर-इति यावत् यः शमनः यमः 'शमनं शान्तिवधयोः क्लीबे वैवस्वते पुमान्' इति रत्नमाला। तस्य अवलोकनं तस्य लोपकृते कदाचि-दपि यमदर्शनं मा भून्ममेत्येतदर्थमिति भावः। पापशमनमेव क्रूरं यममेव कलयति सेवते इदं विचित्रम्। दुरितशान्तिमातनुतं इति तु तत्त्वम्। अत्रापि सर्वं पूर्ववदेव। विचित्रमिति पदेन प्रकृता-लंकारनाम्नोऽपि सूचनमिति वक्ष्यमाणमुद्रालंकारशिरस्कत्वं विशेषः॥

यथावा—

**अशिशिरकरकुलनायक निशिचरराज्यश्रियं स्वयं हर्तुम्। तामेव यामिनीचरकनीयसे नीति-मानहो त्वमदाः॥ १३५५॥**

हे अशिशिरकरकुलनायक! निशिचरराज्यस्य श्रियं संपदम्। पक्षे निशिचराणां राजेः पङ्क्तेः अश्रियं दशाननभुजाभिगुप्तत्वप्रयुक्ताश्लीलतां हर्तुं तामेव निशिचरराज्यश्रियमेव यामिनीचरकनीयसे विभीषणाय। श्लिष्टं स्पष्टम्। अत्र निशिचरराज्यश्रीहरणलक्षणफलमुद्दिश्य तद्विपरीतस्तद्दानरूपप्रयत्नः॥

यथावा—

**त्वदनघपुनर्भवरुचिं पुनर्भवरुचिं विहातुमतिवेलम्। मनसि सदातनवैभव कनकगिरीन्दो सदा तनवै॥ १३५६॥**

सदातनं वैभवं यस्य स तथोक्तः तस्य संबुद्धिः नित्यवैभवेत्यर्थः। हे कनकगिरीन्दो! पुनर्भवरुचिं भूयोऽपि जन्मस्पृहां विहातुं त्वदिति छेदः। हे अनघेति भगवत एव संबुद्ध्यन्तं विशेषणम्। त्वत् त्वत्तः पुनर्भवरुचिं उक्त एवार्थः। सदा मनसि तनवै करवै, इति विरोधः। त्वदनघपुनर्भवरुचिमिति समस्तं पदम्। तव अनघाः ये पुनर्भवाः नखाः 'पुनर्भवः कररुहः' इत्यमरः। तेषां रुचिं प्रभां मनसि तनवै ध्यायानीति परिहारः। अत्र पुनर्भवरुचिप्रहाणफलमुद्दिश्य पुनर्भवरुचिमनस्काररूपविपरीतप्रयत्नः। यमकसंकीर्णत्वं पूर्वेभ्यो विशेषः। श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायस्तु सर्वत्र तुल्यः॥

इत्यलंकारमणिहारे विचित्रसरो द्विचत्वारिंशः.

---

## अथाधिकालंकारसरः (४३)

### आधेयाधिक्यकथनमाधारान्महतोऽधिकम्॥

यत्र महत आधारादाधेयस्याधिक्यवर्णनं तत्र अधिकं नामालंकारः॥

यथा—

अधिकुरुसमिति समस्तो लोको यत्र व्यलोकि लोकेन। कृष्णाविपदपहरणप्रवणा करुणाऽत्र वपुषि तव न ममौ ॥ १३५७ ॥

कुरूणां समितिः सभा संगरो वा तस्यां अधिकुरुसमिति, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। कुरूणां सभायां संगरे च भगवता विश्वरूपस्य प्रकाशनात्तदुभयसंग्रहाय समितिशब्दोपादानम्। 'समितिस्सांपराये स्यात्सभायां संगरेऽपिच' इति मेदिनी। अत्र यत्र भगवद्दिव्यविग्रहे समस्तो लोको व्यलोकीत्याधारस्यातिमहत्त्वमुपदर्श्य अत्र तव दिव्यविग्रहे करुणा न ममाविल्याधेयस्याधिक्यं वर्णितम्॥

यथावा—

विश्वात्मन्यपि च त्वयि विश्वंभर नैव मान्तिसुगुणगणाः। भवति किल महदमीषां भवत्स्वरूपादपीदमानन्त्यम् ॥ १३५८ ॥

विश्वात्मनि अखिलप्रपञ्चशरीरके। अत्रापि विश्वात्मनील्याधारस्यातिमहिमानं प्रदर्श्य तत्र कल्याणगुणा न मान्तील्याधेयाधिक्यं दर्शितम्॥

यथावा—

रघुवीर तावकयशोराकाचन्द्रमसि सान्द्रतरमहसि। अभितो विजृम्भमाणे लभते द्यौर्लाञ्छनस्य संरम्भम् ॥ १३५९ ॥

यथावा—

प्रसृमरभवदीययशःप्रकाशकलशाम्बुराशिजठरान्तः। गगनाभोगो हरिसखि गरुडध्वजमूर्तिविभ्रमं धत्ते ॥ १३६० ॥

यथावा—

भवदीयकटाक्षश्रीभाजां भगवति यशस्त्रिपथगायाम्। सुरवर्त्मनाऽखिलाम्ब स्फुटतरनीलाम्बुजायितं क्वापि ॥ १३६१ ॥

यथावा—

ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहिरपि भाति भवज्जुषां यशःप्रसरः। स्फाटिकसमुद्गकान्तस्स्फुटशिखदीपप्रकाश इव भगवन् ॥ १३६२ ॥

एषूदाहरणेषु चतुर्षु आद्ये द्वे उदाहरणे रूपकोपस्कृतनिदर्शनासङ्कीर्णे। अन्तिमे द्वे उपमासंवलिते। सर्वत्र आधारापेक्षया आधेयाधिक्यवर्णनं तुल्यमेव। तत्रापि त्रिषूदाहरणेषु अधाराधेययोर्गगनयशसोरेव प्रकारान्तरेणोपमाप्रदर्शनेन वर्णनं, अन्तिमे तु आधेयं यश एव, आधारो ब्रह्माण्डमित्यपि वैलक्षण्यं द्रष्टव्यम् ॥

यथावा—

भगवन्नगणितवैभव भवदीययशश्छले सुधाजलधौ। ब्रह्माण्डमण्डलनिभाद्विभान्ति मुक्ताफलानि पृथुलानि ॥ १३६३ ॥

अगणितवैभवेति भगवतो विशेषणम्। भवदीयं यश इति कर्मधारयः। भवदीयानां भागवतानां यश इति षष्ठीतत्पुरुषो वा। अथवा अगणितवैभवेति भवदीयानां भवदीययशसो वा विशेषणम्। ब्रह्माण्डानां मण्डलं वृन्दं तन्निभात् तद्व्याजात्। स्फुटमन्यत्॥ अत्राधारेभ्यो ब्रह्माण्डमण्डलेभ्योऽप्याधेयस्य भागवतयशस आधिक्यम्। अत्राप्याधेयं यश एव। आधारोऽपि ब्रह्माण्डमण्डलमेव। कैतवापह्नुतिगर्भितत्वं विशेषः॥

## द्वितीयाधिकम्

**आधाराधिक्यकथनमाधेयाद्विपुलाच्च तत्॥**

विपुलादाधेयादप्याधारस्याधिक्यवर्णनं च तत् अधिकमेवेत्यर्थः॥

यथा—

कियदेतन्मम चेतः स्फीतं वातंधयाचलनिकेतम्। श्रीवासं सविकासं जगदावासं निवासयत्यन्तः॥ १३६४॥

स्फीतं विपुलमिति यावत्। सविकासं असंबाधं यथातथा। अत्राखिलजगदावासभूतश्रीनिवासरूपाधेयादन्याधारभूतस्य चेतस आधिक्यं निबद्धम्॥

यद्वा—

मन्ये माधव संप्रति मनो ममालं महाद्भुतविशालम्। सर्वेभ्यो ज्यायानपि लोकेभ्यो यत्र माति परमात्मा॥ १३६५॥

मम मनः महाद्भुतविशालमिति मन्ये। तत्र हेतुमभिप्रयन्नाह- सर्वेभ्य इति। यत्र यस्मिन्मनसि अणुरूपे इति भावः। सर्वेभ्यो

लोकेभ्यो ज्यायानपि 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्याः' इत्यारभ्य 'ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' इति शाण्डिल्यविद्योक्तप्रकारेण सकललोकाधिकवैपुल्यमानपीति भावः। परमात्मा माति। इदं पूर्वोदाहरणादविलक्षणार्थम्। उदाहृतश्रुतिप्रत्यभिज्ञापनं विशेषः॥

यथावा—

**अणुरात्मेति कथं वा भणति श्रुतिरत्र संशयोऽस्माकम्। अगणितमहिमास्य यतो निगदति सैवान्तरं परं ब्रह्म॥ १३६६॥**

आत्मा प्रत्यगात्मा अणुः इति श्रुतिः 'एषोऽणुरात्मा' इत्यादिश्रुतिः कथं वा भणति, यतः अगणितः गणनाया अगोचरः महिमा महत्त्वं यस्य तत् परं ब्रह्म स्वरूपतो गुणैश्च निरतिशयबृहादिति भावः। अस्य प्रत्यगात्मनः अन्तरं अन्तःस्थितम्। सैव श्रुतिरेव 'य अत्मानमन्तरः' इत्यादिरिति भावः निगदति। यद्यप्यत्रोदाहरणेषु चेतःप्रत्यगात्मनोरेवाधारभूतयोः प्रशंसा क्रियेत, तथाऽपि तनुत्वेन सिद्धयोश्चेतःप्रत्यगात्मनोः सकलजगन्निवासभूतात्सर्वलोकज्यायसो महामहिम्नः परब्रह्मणोऽप्यधिकत्वेनाधिकरणतां कल्पयित्वैव प्रशंसा क्रियत इति तत्प्रशंसा प्रस्तुतपरब्रह्मप्रशंसायामेव पर्यवस्यतीति ध्येयम्॥

इत्यलङ्कारमणिहारे अधिकालङ्कारसरस्त्रयश्चत्वारिंशः.

---

## अथाल्पालङ्कारसरः (४४)

**आधारसौक्ष्म्यमाधेयात्सूक्ष्मादल्पं तदुच्यते॥**

स्वापेक्षया सूक्ष्मादाधेयादाधारस्य सूक्ष्मत्वं यत् तदल्पं नामालङ्कारः। सूक्ष्मात् स्तोकात् सौक्ष्म्यं कार्श्यं ॥

यथा—

अधिलङ्कं निवसन्त्या मिथिलेशभुवोऽतिविरहतन्वङ्ग्याः। मौक्तिकवलयितनासामण्डनमधिकण्ठमाप हारत्वम् ॥ १३६७ ॥

मौक्तिकवलयितनासामण्डनं मौक्तिकश्रेणिग्रथितवलयाकारसौवर्णनासाभरणविशेषः। अत्र उक्तविधं नासाभरणं सूक्ष्मम्। तदपि वल्लभविश्लेषजनितवैचित्त्येन ग्रीवायामर्पितं विरहकृशया भगवत्या जनकनन्दिन्या तत्र हारतां प्रापेत्युक्त्या ततोऽपि ग्रीवायास्सौक्ष्म्यं दर्शितमित्याधेयादाधारस्य सौक्ष्म्यमनुसन्धेयम् ॥

यथावा—

त्वद्दर्शनसंभ्रमतस्त्वद्दयिताकर्णवेष्टनं मध्ये। प्रतिमुञ्चति स्म तत्र व्यतिषक्तं नाथ तद्भवति काञ्ची ॥ १३६८ ॥

अत्रापि कर्णवेष्टनं तावदतिसूक्ष्मं, तदपि त्वद्दर्शनसंभ्रमवशात्त्वद्दयितया श्रियाऽवलग्ने निबद्धं सत्तत्र काञ्चीतुल्यमभूदित्युक्त्या अवलग्नस्यातितनुत्वं दर्शितम्। अत्र विभ्रमाख्यश्शृङ्गारचेष्टाविशेषः।

'विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः'

इतिलक्षणात्। अयमलंकारो दीक्षितोपज्ञं, प्राचीनैरलक्षितत्वात् ॥

सूक्ष्मादाधारतस्सौक्ष्म्यमाधेयस्य च तद्भवेत् ॥

आधारसौक्ष्म्यादाधेयसौक्ष्म्यमप्यल्पालंकार एव भवेत् इदं च प्रथमस्याधिकस्य प्रतिद्वन्द्वि, पूर्वं तु द्वितीयस्येति ध्येयम् ॥

यद्यप्ययं प्रभेदः कुवलयानन्दकारैरलक्षितः, तथाऽप्यधिकप्रतिद्वन्द्वितयाऽवश्यमेष्टव्य इत्यस्माभिर्लक्षितः, द्वंद्विभूतस्याधिकस्यापि द्विप्रकारत्वात् ॥

यथा —

तनुतरमुदरं देवकतनुजायाः परममावसद्ब्रह्म । सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतरमिति साक्षाच्छ्रुतिमतनुतान्वर्थाम् ॥ १३६९ ॥

'सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति' इति मुण्डकश्रुतिमित्यर्थः । अन्वर्थां अनुगुणाभिधेयाम् । अत्राधारभूतस्य देवकीजठरस्याणीयस्तया आधेयस्य तद्गर्भस्थस्य परब्रह्मणस्सौक्ष्म्यं निबद्धम् ॥

यथावा —

अणुमात्रे मम हृदये प्रणतस्य विलीन एष परमात्मा । स्थानेऽयमणीयानिति जाने ज्यायस्त्वमर्थवादोऽस्य ॥ १३७० ॥

अयं परमात्मा अणीयानिति स्थाने जाने 'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा, इति श्रुतेरणुतर इति युक्तं मन्ये । तर्हि 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवः' इति श्रुतेः का गतिरिति चेत् अत्राह — ज्यायस्त्वमर्थवादोऽस्येति । अस्य परमात्मनो ज्यायस्त्वमर्थवादः प्रशंसामात्रं न तु वास्तवमिति भावः । अत्र सूक्ष्मात् हृदयरूपादाधारादाधेयस्य परमात्मनस्सूक्ष्मतरत्वम् । इदं परमात्म-

नस्सर्वज्ञायस्त्वयोगेऽपि तदयोगकथनरूपातिशयोक्तिसंकीर्णमिति विशेषः ॥

इत्यलङ्कारमणिहारे अल्पालङ्कारसरश्चतुश्चत्वारिंशः

---

## अथान्योन्यालंकारसरः (४५)

विशेषाधानमन्योन्यमन्योन्यालंकृतिं विदुः ॥

द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यं नामालङ्कारः ॥ विशेषश्च गुणक्रियादिरूपः ॥

यथा—

करपद्मरागभूम्नाऽत्यरुणतरा कटकपद्मरागश्रीः।
तत्पद्मरागधाम्नाऽत्यरुणं करपद्ममखिलजननितव ॥

करपद्मयोः रागभूम्ना आरुण्यातिशयेन । तत्पद्मरागाणां करकङ्कणकुरुविन्दानां धाम्नः महसा । अत्र करपद्मारुण्यातिशयकङ्कणकुरुविन्दारुण्ययोर्गुणयोरन्योन्यविशेषाधानम् ॥

यथावा —

उरसोऽन्तरिक्षमहसो मणेश्च फणिशयन तुलितदिवसमणेः । अन्योन्यश्रीजननात्सामान्यं भूष्यभूषणत्वमभूत् ॥ १३७२ ॥

भूष्यभूषणत्वं अलंकार्यालंकारत्वं सामान्यं उभयसाधारणं अभूत् ॥ अत्र भगवदुरसः कौस्तुभस्य च श्रीजननरूपाक्रिययोरन्योन्यं विशेषाधानम् । उपमोपस्कृतत्वं विशेषः ॥

इत्यलंकारमणिहारे अन्योन्यसरः पञ्चचत्वारिंशः.

---

## अथ विशेषालंकारसरः (४६)

**विशेषस्स्याद्विनाऽऽधाराद्‌आधेयं वर्ण्यते यदि ।**

प्रख्याताधारमन्तरेणाधेयस्य विशिष्टावस्थितिवर्णनं विशेषालंकारः। अयं च द्विविधः—आधारान्तरगतत्वेनाधेयस्य वर्णनं निराधारत्वेन च ॥

तत्राद्या यथा—

**क्षीणेऽस्तगेऽपि चन्द्रे सान्द्रा शौरे तनोति तज्ज्योत्स्ना । तव वदने दीव्यन्तीवरहितमिन्दीवरामोदम् ॥ १३७३ ॥**

वरं हितं च इन्दीवराणां आमोदं सौरभम्, पक्षे दीव्यन्तीवरहितमित्यत्र दीव्यन्ती इवरहितामिति च्छेदः । इवरहितं इन्दीवरामोदं इन्दिरामोदमित्यर्थः । इन्दीवरामोदमित्यत्र दकारोत्तरवर्तिन ईकारस्य ह्रस्वे वर्णद्वितयात्मकत्वेन उत्तरस्य इकारस्य लोपेऽपि पूर्वस्य इकारस्य सद्भावेन तथा निष्पत्तेः ॥ यद्वा ईवराहितामित्येव च्छेदः, तथाच ईवरहितं इन्दीवरामोदं इन्द्रामोदमित्यर्थः । इन्दीवरामोदशब्दे दकारोत्तरवर्तिना ईकारेण सह वकारस्य लोपे अवशिष्टदकाररेफसंयोगेन तथा निष्पत्तेरिति भावः। भगवद्दिव्यवदनज्योत्स्नायास्त्रैलोक्यैश्वर्यावितरणेनेन्द्रामोदविधानं पुराणादिषु प्रसिद्धम् । भगवद्वदनश्रियः तदीयस्मितश्रियो वा ज्योत्स्नात्वेनाध्यवसानम् । अत्र चन्द्ररूपप्रसिद्धाधारस्याभावेऽपि तज्ज्योत्स्नारूपाधेयस्य भगवद्वदनलक्षणाधारान्तरगतत्वेन विशिष्टावस्थितिः ॥

यथावा

लीनेऽपि जलधिमध्ये भानौ निखिलं तदीय-रुचिजालम् । कमलोल्लासं कलयति कमलाक्षोरस्स्थमणिगतं सततम् ॥ १३७४ ॥

कमलोल्लासं कमलानां विकासं कमलाया हर्षं च ॥ अत्रापि भानुरुचिजालस्य प्रसिद्धाधाराभावेऽपि वर्णनीये कौस्तुभे विशिष्टावस्थानमुक्तम् ॥

यद्यप्यत्रोदाहरणद्वयेऽपि ज्योत्स्नारविरुचिजालजातीये एव वर्णनीययोर्ज्योत्स्नारुचिजाले वर्ण्येते न तु ते एव । तथाऽपि भेदेऽप्यभेद इत्यतिशयोक्तिबलादेकत्वाध्यवसायाददोषः । इन्दीवरामोदकमलोल्लासयोस्तु श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूलकातिशयोक्तिबलादेकत्वाध्यवसायः । न चैवमतिशयोक्तिरेव स्यादिति वाच्यम् । तस्यास्सर्वालङ्कारप्राणप्रदतया अलङ्कारान्तरबाधनायोगात्, अन्यथा श्लिष्टपरंपरिताद्यनेकालङ्कारलोपप्रसङ्गात् । यथोक्तं भामहेन—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः कोऽलङ्कारस्तया विना ॥

इति । वक्रोक्तिः अतिशयोक्तिरित्यर्थः ॥

द्वितीयः प्रकारो यथा—

नयनरुचाऽवयवरुचाऽप्यगगनजलदाननभ्रतटितश्च । दिशिदिशि परिविकिरन्ती दिशति फणीशाद्रिमणिवधूरमृतम् ॥ १३७५ ॥

अमृतं सलिलं निश्श्रेयसं च । अत्र गगनं विना अभ्राणां अभ्राणि विना तटितां च निराधारतयैवावस्थानम् ॥

यथावा —

सह रघुवीरेण गतं तदाश्रितं यच्चराचरं निखिलम् । तत्कीर्तेर्धाष्ट्यं कियदेका लोकान्निराश्रया चरति ॥ १३७६ ॥

पूर्वं रूपकसङ्कीर्णम् । इदं शुद्धं समासोक्तिसङ्कीर्णं वा ॥

---

## द्वितीयविशेषः

यत्रैकमेव युगपदनेकाधारसंश्रयम् ।
आधेयं वर्ण्यते सोऽपि विशेषः परिकीर्तितः ॥

यत्रैकमाधेयं परिच्छिन्नयत्किञ्चिदाधारस्थितमपि युगपदनेकाधारगतत्वेन वर्ण्यते स द्वितीयो विशेषप्रकारः । वक्ष्यमाणपर्यायव्यावृत्तये युगपदिति ॥

यथा—

शिरसि दिशां तत्त्ववदृशां मनसि मुनीनां च वचसि सुकवीनाम् । त्वयि सन्त एव सुगुणाः पयसिजलोचन सदाऽपि विहरन्ते ॥ १३७७ ॥

यथावा—

श्रुतिमौळौ नतमौळौ प्रतिभाति च यद्वृषाद्रिवरमौळौ । तत्पादपद्मयुगळं मत्पापततिं जगत्पतेर्हरताम् ॥ १३७८ ॥

अत्राद्दिमे पद्ये भगवतः कल्याणगुणानां द्वितीये पादपद्मयुगळस्य च युगपदनेकाधारस्थितिः ॥

यथावा—

श्रितकनकविमानं यं वीक्षेऽहिगिरौ पुमांसममुमेव । वेद्मि विधाभेदाद्रविबिम्बे श्रितकनकधामानम् ॥ १३७९ ॥

यं अहिगिरौ श्रितकनकविमानं वीक्षे पश्यामि अमुमेव पुमांसं परमपुरुषं रविबिम्बे विधाभेदात् प्रकारभेदात् श्रितकनकधामानं 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष' इति श्रुतहिरण्यवर्णं वेद्मि अयमेक एव परमपुरुष उभयत्र स्थित इति जानामि । शेषाद्रौ जलदनीलवर्णत्वं रविबिम्बे तु सुवर्णवर्णत्वमित्ययमेव विधाभेदः । पक्षेश्रितकनकविमानशब्दमेव विधाभेदात् वि धा इति वर्णमात्रवैलक्षण्यात् श्रितकनकधामानं श्रितकनकधामशब्दं वेद्मीति चमत्कार एव पूर्वतो विशेषः ॥

---

## तृतीयविशेषः

किंचित्कार्यारम्भमात्रादन्यत्कार्यं सुदुष्करम् ।
कृतं निबध्यते यत्र विशेषस्सोऽपि सम्मतः ॥

किंचित्कार्यमारभमाणस्यासंभाविताशक्यकार्यान्तरानिर्वर्तनं तृतीयो विशेषप्रकारः । एवंच एतदन्यतमत्वं विशेषालंकारसामान्यलक्षणमिति ध्येयम् ॥

यथा—

सोपानपथे ददता गोपालेनापि पादमहिशैले ।

उदलङ्घि साऽचिरादिकपदवी सहसाऽत्र कोनु संदिग्धाम् ॥ १३८० ॥

अत्र शेषाद्रिसोपानप्रथमपर्वणि पदन्यसनरूपकिंचित्कार्यारम्भेणासंभावितादुष्करतमार्चिरादिमार्गोल्लङ्घनरूपकार्यान्तरनिर्वर्तनं निबद्धम् ॥

यथावा—

मरुदशनवरधराधरशिरो हरे त्वं वतंसयसि सततम् । जगदखिलं शेखरितं भगवन् भवतेति भवति चित्रमिदम् ॥ १३८१ ॥

अत्र शेषगिरिमात्रावतंसनलक्षणकिंचित्कार्यारम्भेण दुष्करतमाखिलजगच्छेखरत्वनिष्पादनम् ॥

यथावा—

त्वामेकं विश्वम्भर बिभ्राणो हृदि बिभर्मि विश्वमिदम् । ननु विश्वभरणनिपुणस्त्वं वाऽहं वा विमृश्य वद तावत् ॥ १३८२ ॥

अत्रैकभगवद्भरणकिंचित्कार्यारम्भेण दुष्करतमविश्वभरणकार्यान्तरकरणम् । विश्वंभरेति साभिप्रायविशेष्यविन्यासरूपपरिकराङ्कुरोदञ्चितवैभवमिति विशेषः ॥

यथावा—

अतिसुरभिगन्धमादनमतिवेलं रत्नसानुमहिशैलम् । सृजतेह चित्रकूटं बहवश्शैलाः कृताः क्षितौ विधिना ॥ १३८३ ॥

अत्यन्तं सुरभिणां चम्पककुसुमानां गन्धेन मादनं जनमानसविकारोत्पादकम्। पक्षे अतिसुरभि अतिमात्रमनोज्ञं गन्धमादनं तन्नामानं गिरिम् । रत्नानि सानुषु यस्येति तं रत्नसानुम्। पक्षे सुमेरुम। चित्राणि विस्मयावहानि कूटानि शिखराणि यस्य तत्, चित्रकूटनामगिरिं च । ईदृशमहिशैलं सृजता विधिना क्षितौ बहवश्शैलाः कृताः सृष्टाः॥

यथावा—

सुखपवनसर्वतोमुखशुचिविपुलं फणधराचलं सृजता। अन्यानि षड्जनुषा युगपद्भूतानि ससृजिरे पञ्च ॥ १३८४ ॥

खं नभः, पवनः, सर्वतोमुखं सलिलं, शुचिः अग्निः, विपुला भूश्च एतेषां समाहारः, तत् शोभनं यस्य तत् सुखपवनसर्वतोमुखशुचिविपुलम। पक्षे सुखं पान्ति रक्षन्तीति सुखपानि सुखावहानि वनानि काननानि यस्मिन् सः, सर्वतोमुखः विश्वतश्शिखरवान्, शुचिः शुद्धः, विपुलः विशालश्चेति विशेषणानां कर्मधारयः। ईदृशं फणधराचलं सृजता । अन्यत्सुगमम्॥ अत्र विलक्षणानां भूतानां युगपत्सृष्टेश्श्रौतः क्रमो न विवक्षितः॥

यथावा—

महितमहारम्भाढ्यां बहुशोभाभृत्कृतस्थलां सृजता। अहिशैलधरां धात्रा विहिताऽनेकाप्सरस्सृष्टिः॥ १६८५ ॥

महिताः महानां आरम्भाः तैः आढ्यां संपन्नाम्। पक्षे महिता पूजिता महती रम्भा तन्नामा अप्सराः तया आढ्याम्। बहुशः

भाभृन्ति कृतानि स्थलानि यस्यास्ताम्। पक्षे बहुशोभां बिभर्तीति बहुशोभाभृत् कृतस्थला नामाप्सराः यस्यां सेति। अहिशैलधरां सृजता धात्रा अनेकासां अप्सरसां स्वर्वेश्यानां सृष्टिः, पक्षे अनेकेषां अप्सरसां जलाशयानां सृष्टिः विहितेति ॥ अत्र 'अतिसुरभिगन्धमादनम्' इत्याद्युदाहरणत्रये शेषाद्रिसृष्टिरूपकिंचित्कार्यारम्भेण नानाविधशैलादिसर्जनरूपदुष्करतरकार्यान्तरनिष्पादनं श्लेषोत्तम्भितं निबद्धम् ॥ मध्यपद्ये रत्नावळी चेति विशेषः ॥

इत्यलंकारमणिहारे विशेषालंकारसरः षट्चत्वारिंशः.

---

## अथ व्याघातालंकारसरः. (४७)

---

तत्कार्यसाधनं वस्तु तद्विरुद्धस्य साधनम्।
क्रियते चेत्तदाख्यातो व्याघातोऽसावलंकृतिः॥

यद्वस्तु यत्कार्यसाधनतया जगति विज्ञातं तद्वस्तु केनचित्तद्विरुद्धकार्यसाधनं क्रियते चेत् स निष्पादितकार्यविघातकत्वाद्व्याघातो नामालंकारः ॥ यद्वा—यद्वस्तु यत्साधनतया केनचिदुपात्तं तद्वस्तु अन्येन तत्प्रतिस्पर्धिना तद्विरुद्धसाधनं क्रियते चेत् सोऽपि व्याघात इति द्विप्रकारोऽयम् ॥

तत्राद्यः प्रकारो यथा—

महतापत्प्रभवरजोविभवेनाक्षोभि येन ज-

गदेतत् । तेनैव वृषगिरीन्दो तस्मै प्रददास्यमन्दमानन्दम् ॥ १३८६ ॥

महता येन आपदां प्रभवः जन्मस्थानं यो रजोविभवः रजोगुणभूमा तेन एतत् जगत् अक्षोभि, तेनैव उक्तरजोगुणविभवेनैवेत्यर्थः । पक्षे पत्प्रभवेति छेदः प्रभवतीति प्रभवं, पदः चरणात् प्रभवं यद्रजः तद्विभवेन स्वकीयचरणपरागमहिम्नेत्यर्थः । अमन्दमानन्दं प्रददासि ॥ अत्र दुःखसाधनत्वेन प्रसिद्धस्यापत्प्रभवरजोविभवस्य श्लेषमाहिम्ना चरणरजोविभवाभेदाध्यवसितस्य भगवता आनन्दसाधनताविधानाल्लक्षणसङ्गतिः ॥

यथावा—

त्वदनभिमुखतायां प्रागमृतायन्ते स्म देव ये भोगाः । त्वदभिमुखतादशायां गरळायन्ते त एव ननु मनुजैः ॥ १३८७ ॥

अत्र सुखसाधनत्वेन प्रसिद्धानां विषयोपभोगानां दुःखसाधनतानिबन्धनं पूर्वोक्तविपरीतमाश्लिष्टमुपमासंकीर्णं चेति विशेषः ॥

द्वितीयः प्रकारो यथा—

भोगिक्ष्माभृदधीश्वरनिषेवणैर्यैर्बुधा मुमुक्षन्ते ।
तैरेव सदाऽभ्यस्तैरबुधास्सर्वेऽनिशं बुभुक्षन्ते ॥८८॥

बुधाः तत्वविदः यैः भोगिक्ष्माभृदधीश्वरस्य श्रीशेषाद्रिनेतुः भगवतः निषेवणैः मुमुक्षन्ते संसारबन्धान्मोक्तुमिच्छन्ति,

अबुधाः अतत्वविदः तैरेव भोगिक्ष्माभृदधीश्वरनिषेवणैरेव भोगैकप्रवणा ये क्ष्माभृदधीश्वराः भूपालश्रेष्ठाः तेषां निषेवणैरेवेति वस्तुस्थितिः । बुभुक्षन्ते सांसारिकभोगाननुभवितुमिच्छन्ति॥ अत्र मोक्षसाधनत्वेन बुधैरुपात्तानां भोगिक्ष्माभृदधीश्वरनिषेवणानां तत्प्रतिस्पर्धिभिरबुधैस्तद्विरुद्धभोगसाधनीकरणं भोगिक्ष्माभृदित्यादिशब्दोपात्तार्थद्वयश्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूलातिशयजीवातुकमित्यवधेयम् ॥

यथावा—

पद्माक्ष पुरमरीणां येनाधाक्षीस्सुदर्शनेन त्वम् ।
तेनैव पुरोऽरीणां संपदमावहति तव सरोजाक्षी ॥ १३८९ ॥

हे पद्माक्ष! अरीणां पौण्ड्रकादीनां वैरिणां पुरं वारणास्यादिकं नगरं येन सुदर्शनेन चक्रेण त्वं अधाक्षीः दहसि स्म, तेनैव सुदर्शनेनैव तव सरोजाक्षी लक्ष्मीः अरीणां वैरिणां पुरः पुरस्य संपदं आवहतीति विरोधः । परिहारस्तु तेन सुदर्शनेनैव शोभनेनालोकनेनैव पुरः स्वदर्शनात्पूर्वमेवेत्यतिशयोक्तिः । आश्रितानमिति शेषः । अरीणां अप्रस्रुतां अक्षीणामिति यावत् । 'रिङ् प्रस्रवण' दैवादिकादस्मात्कर्तरि क्तः । अस्य स्वादित्वेन 'स्वादय ओदितः' इत्योदित्वे 'ओदितश्च' इति निष्ठातस्य नत्वम् । 'स्यन्नं रीणं स्रुतं स्नुतम्' इत्यमरः । संपदं श्रियं आवहतीति ॥ अत्र भगवता अरिपुरदहने साधनतया स्वीकृतस्य सुदर्शनस्य एतत्प्रतिद्वन्द्विन्या श्रिया तद्विरुद्धसंपत्तिदानसाधनीकरणं श्लेषमूलातिशयेन निबद्धम् ॥

यथावा

असमविलोकनधाम्ना प्रद्युम्नं प्लुष्यति स्म पुरवैरी । तेनैव वृषाद्रिपतिः प्रद्युम्नं पुष्यतीह मुरवैरी ॥ १३९० ॥

पुरवैरी रुद्रः असमस्य विषमस्य तृतीयस्येत्यर्थः, विलोकनस्य विलोचनस्य धाम्ना तेजसा अग्निनेति यावत् । प्रद्युम्नं स्मरं प्लुष्यति स्म अधाक्षीत् । 'प्लुष दाहे' दैवादिकः । वृषाद्रिपतिः तेनैव असमविलोचनधाम्नैव असमेन असदृशेन विलोचनधाम्ना नयनत्विषा कटाक्षेणेति यावत्, इति वस्तुस्थितिः । प्रद्युम्नं स्मरं प्रकृष्टं हिरण्यं विभवमित्यर्थः । 'हिरण्यं द्रविणं द्युम्नम्' इत्यमरः । पुष्यति पुष्णाति । 'पुष पुष्टौ' दैवादिकः । आश्रितानामिति शेषः ॥ अत्र प्रद्युम्नप्लोषणे पुरवैरिणा साधनीकृतस्यासमविलोकनधाम्न एव तत्प्रतिद्वन्द्विना मुरवैरिणा तत्पोषणसाधनीकरणम् । अन्यत्प्राग्वत् ॥

---

## द्वितीयव्याघातः.

पराभिमतकार्यस्य विरुद्धा केन चित्क्रिया ।
सौकर्यतो निबद्धा चेद्व्याघातस्सोऽपि कथ्यते ॥

कार्यविशेषनिष्पादकतया केनचित्संभाव्यमानादर्थादन्येन सुकरतया कार्यविरोधिनी क्रिया समर्थ्यते चेत्सोऽपि व्याघातः । कार्यविरोधिक्रियायां सौकर्यं कारणस्य सुतरां तदानुगुण्यम् ॥

यथा—

मूढ इति यद्युपेक्षा तत एव हरेऽस्तु मय्यनु-

जिघृक्षा । हन्त स्त्रियोऽनुकम्प्या दीना मूढाश्च जन्तवो हि सताम् ॥ १३९१ ॥

हे हरे ! । अत्र भगवता उपेक्षायां यन्मूढत्वं कारणत्वेन संभावितं तत् प्रत्युत तद्विरुद्धानुजिघृक्षाया एव कारणतया 'स्त्रियोऽनुकम्प्यास्साधूनां दीना मूढाश्च जन्तवः' इति प्रमाणार्थमुपन्यस्य तद्युक्ततां स्थापयता कविना समर्थ्यत इत्ययं द्वितीयो व्याघातः ॥

यथावा –

मूर्ख इति यदि जहासि त्वं मामनुरुन्त्स्व नाथ तत एव । रक्षन्ति हि वशयन्तो मूर्खं छन्दानुरोधतः प्राज्ञाः ॥ १३९२ ॥

अत्रापि पूर्ववदेव भगवता भक्तस्य परित्यागे यन्मूर्खत्वं कारणतया संभावितं तत् प्रत्युत तद्विरुद्धानुवर्तनस्यैव कारणतया 'मूर्खं छन्दानुरोधेन' इति नीतिप्रदर्शनेन तदौचित्यं स्थापयता कविना समर्थ्यते ॥

इत्यलङ्कारमणिहारे व्याघातालङ्कारसरस्सप्तचत्वारिंशः.

---

एवं श्लेषातिशयोक्त्याद्युपायोन्मिषितेन किञ्चिदंशाभेदाध्यवसानेनामुख एव प्रादुर्भावितो यो विरोधो विच्छित्तिमात्रात्मा क्षणप्रभावदनुवर्तमानस्तन्मूलका विरोधाभासादयो व्याघातान्ता निरूपिता अलङ्काराः । ते च नानारूपं वैचित्र्यं भजन्तो विरोधाभासस्यैव प्रभेदाः, न तु ततोऽतिरिक्ताः काञ्चनस्येव कङ्कणादय इत्यके । रूपकदीपकादीनामौपम्यगर्भाणामुपमाभेदत्वापत्ते-

भूयसी स्याद्रियश्रीति परस्परच्छायामात्रानुसारिणो भिन्नविच्छित्तयो भिन्ना एवेत्यपरे ॥

## अथ शृङ्खलालंकाराः.

---

यद्युत्तरोत्तरस्य स्यात्पूर्वपूर्वानुबन्धिता ।
अर्थेषु पङ्क्तिबद्धेषु व्यत्ययो वाऽपि शृङ्खला ॥

पङ्क्तिरूपेण निबद्धेष्वर्थेषु उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वस्मिन् वा पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन् वा संसृष्टत्वं शृङ्खला । तच्च कार्यकारणत्वविशेषणविशेष्यत्वादिनानारूपम् । इयं च न स्वतन्त्रोऽलंकारः, वक्ष्यमाणप्रभेदैर्गतार्थत्वात् । न ह्यनया विना तेषां विविक्तोऽस्ति विषयः । यथाहि रूपकादिष्वनुप्राणयितृतया वर्तमानोऽप्यभेदांशस्समानधर्मांशो वा न पृथगलंकारः, एवं प्रकृतेऽपीत्याहुः । तदपरे न क्षमन्ते, सावयवादिभेदैः रूपकस्य, पूर्णालुप्तादिभेदैरुपमायाश्च गतार्थत्वात्स्वतन्त्रालंकारता न स्यात् । तस्माच्छृङ्खलाया एव कारणमालादयो भेदा इति । मतयोरनयोस्तत्त्वमुपरिष्टाद्विवेचयिष्यामः ॥

---

## अथ कारणमालासरः. (४८)

पूर्वपूर्वैर्वस्तुभिस्स्यादुत्तरोत्तरकारणैः ।
गुम्भः कारणमालैषा वैपरीत्येऽपि चेष्यते ॥

उत्तरोत्तरकारणभूतैः पूर्वपूर्वैः पूर्वपूर्वकारणभूतैरुत्तरोत्तरैर्वा वस्तुभिर्गुम्भने सैव शृङ्खलाकारणमालालंकारो भवति । तत्र

पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमिति प्राथमिकी । पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं कारणमिति द्वैतीयीकी ॥

तत्र प्राथमिकी यथा —

भक्त्या त्वद्गिरिगमनं त्वद्गिरिगमनेन तव तु निध्यानम् । त्वन्निध्यानेन विभो पूर्णानन्दार्णवान्तराप्लवनम् ॥ १३१३ ॥

निध्यानं दर्शनम् । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः ॥ अत्र भक्त्यादीनां पूर्वपूर्वेषां शेषाद्रिगमनाद्युत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वं निबद्धम् ॥

यथावा —

अन्नात्खलु भूतानां प्राणाः प्राणैर्मनोऽथ मनसश्च । विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्म भासनं दधते ॥

अन्नात् भूतानां प्राणाः भासनं प्रकाशं दधते बिभ्रति । जौहोत्यादिकस्य धाञो लट्प्रथमपुरुषबहुवचनम् । प्राणैः मनः भासनं दधते धत्ते । भौवादिकस्य दधतेर्लट्प्रथमपुरुषैकवचनम् । एवमग्रेऽपि । अत्राप्यन्नादीनां पूर्वपूर्वेषां प्राणाद्युत्तरोत्तरं प्रति कारणता गुम्भिता । इयं च 'अन्नात्प्राणा भवन्ति भूतानां प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः' इति तैत्तिरीयकश्रुत्यर्थानुसारिणीति विशेषः । अलंकाराणां श्रुतिमूलताख्यापनायेदमुदाहरणम् । अन्नात् प्राणाः इन्द्रियाणि प्राणा वा भवन्ति । श्रवणानुकूलेन्द्रियप्राणसौष्ठवं जायत इत्यर्थः । मनः मननं, विज्ञानं दर्शनसमानाकारं ज्ञानं, आनन्दः आनन्दमयं ब्रह्म परब्रह्म भवति भासते । प्राणसौष्ठवमूलकश्रवणादिपरंपरयोत्पन्नान्निदिध्यसनादानन्दरूपं परं ब्रह्म प्राप्यत इति श्रुतेरर्थः ॥

यथावा –

आहारस्य विशुद्ध्या शुद्धिस्सत्त्वस्य सत्त्वशु-
द्धौ ते। भवति ध्रुवाऽच्युत स्मृतिरखिलग्रन्थिप्रमो-
क्षणं तस्याः ॥ १३१५ ॥

अत्र 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिस्सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' इति श्रुत्यनुविधानेन पूर्वपूर्वस्याहारशुद्ध्यादेरुत्तरोत्तरसत्त्वशुद्ध्यादिकं प्रति कारणता निबद्धा पूर्ववदेव ॥ आहारशुद्धौ सात्त्विकाहारसेवायां सत्यां सत्त्वस्य अन्तःकरणस्य शुद्धिः। तस्यां च सत्यां ध्रुवा स्मृतिः दर्शनसमानाकारा स्मृतिर्भवति। तस्यां सत्यां सर्वग्रन्थीनां दुर्मोचतया ग्रन्थिशब्दवाच्यानामविद्यारागादीनां विप्रमोक्षो भवति इति श्रुतेरर्थः ॥

यथावा –

इन्द्रियविजयो मनसस्स्थेम्ना तस्माच्च कर्म-
योगगतिः। ज्ञानं तस्मात्तस्माद्भक्तिर्भवति ततो
भवेन्मुक्तिः ॥ १३१६ ॥

इयं कार्योपक्रमा। पूर्वास्तु कारणोपक्रमा इति विशेषः ॥

द्वितीया यथा –

भवविपदस्तव पदयुगनवपङ्कजशरणवरणवै-
धुर्यात्। तदनेकादविवेकात्सोऽप्यच्युत सत्समाग-
मालाभात् ॥ १३१७ ॥

अत्र भवविपदादिपूर्वपूर्वं प्रति उत्तरोत्तरशरणवरणवैधुर्यादीनां कारणत्वं ग्रथितम् ॥

यथावा—

**श्रेयोहेतुर्विभवो विभवस्य निबन्धनं रमापाङ्गः । तत्कारणं च भजनं भजननिदानं च पूर्वपुण्यश्रीः ॥ १३१८ ॥**

पूर्वोदाहरणे विभक्त्या कारणत्वबोधनं, इह तु हेत्वादिशब्दैरेवेति विशेषः ॥

यथावा—

**गुरुकृपया हरिचरणप्रपदनमेषा च सत्त्वगुणपूर्त्या । सा च भगवत्कटाक्षात्स भवति याद्दच्छिकादिसुकृतवशात् ॥ १३१९ ॥**

एषा गुरुकृपा ॥ इहादौ कारणोपक्रमः पूर्वत्र कार्योपक्रम इति वैलक्षण्यम् । इह च यद्यादौ कारणोक्तिरेव प्रस्तूयते तदा पुनः तत्कस्यचित्कारणं तदपि कस्यचिदिति, तस्य कारणं तस्यापि कारणमिति वा कारणमाला युक्ता । यदा तु कार्योक्तिरादावुपक्रम्यते तदा तत्कस्यचित्कार्यं तदपि कस्यचिदिति, तस्य कार्यं तस्यापि कार्यमिति वा युक्ता । सर्वथैव यः कार्यकारणत्वोपस्थापकश्शब्द आदौ प्रयुक्तस्स एव निर्वाह्यः । एवंक्रमेण निबन्धनमाकाङ्क्षानुरूपत्वाद्रमणीयम् । अन्यथा तु भग्नप्रक्रमं स्यादिति ध्येयम् । यथा प्राचीनानां पद्यं—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि संपदः ॥

अत्र जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं श्रुत्वा जितेन्द्रियत्वस्यापि किं कारणमिति विनयः कस्य कारणमिति वा आकाङ्क्षोदेति, कारणस्यैव स्मृतिवशात्पूर्वमुपस्थितेः । कारणं तु ज्ञातं कार्यं पुनरस्य किमिति क्वचिदाकाङ्क्षा तु कार्यत्वकारणत्वयोस्संबन्धिपदार्थत्वात्कारणश्रवणोत्तरमेकसंबन्धिज्ञानाधीनकार्यत्वोपस्थित्या संगमनीया, न त्वसौ सार्वत्रिकी, एवंच विनयः कस्य कारणमित्याकाङ्क्षायाः गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यत इति वाक्यं यद्यपि फलतः परिपूरकं भवति । तथाऽपि न साक्षादित्यहृदयङ्गममेव । तथा गुणप्रकर्षात्किमवाप्यत इत्याकाङ्क्षायां गुणाधिके पुंसीति च । अत्र च कथितपदत्वं न दोषः, प्रत्युत पदान्तरेण तस्यार्थस्योक्तौ रूपान्तरेण स्थितस्य नटस्येव प्रत्यभिज्ञाप्रतिरोधकत्वाद्विवक्षितार्थसिद्धेरकुण्ठितत्वविरहाद्दोषस्स्यात्। शब्दादुपस्थितेऽर्थे प्रवृत्तिनिमित्तमिव शब्दोऽपि विशेषणतया भासते । तथाचोक्तम्—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यश्शब्दानुगमादृते ।

इति । तत्तच्छब्दस्य विशिष्टस्यार्थस्स्वरूपेणाभिन्नोऽपि विलक्षणः प्रतीयत इति न कथितपदत्वदोष इति वदन्ति । विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ॥

इत्यलंकारमणिहारे कारणमालासरोऽष्टचत्वारिंशः

---

## अथैकावलीसरः. (४१)

उत्तरस्योत्तरस्य स्यात्पूर्वं पूर्वं विशेषणम् ।
विशेष्यं वा यदा प्राहुरिमामेकावळीं तदा ॥

उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वं प्रति विशेषणतया विशेष्यतया वा गुम्भने सैव शृङ्खलैकावळीत्युच्यते । इयमेव गृहीतमुक्तरीत्याऽर्थश्रेणिरित्युच्यते । गृहीतं च तन्मुक्तं च गृहीतमुक्तं तस्य रीतिः पङ्क्तिः तया गृहीतमुक्तरीत्या । अभेदे तृतीया । ततश्च गृहीतमुक्तपङ्क्तिरेकावळीति तदर्थः ॥

तत्राद्या यथा—

भुजगगिरिर्हरिवसतिर्हरिरम्बुधिजाविहारमाणिशिखरी । अम्बुधिजाऽऽश्रितविभवानुदश्चयति ते वतंसयन्ति भुवम् ॥ १४०० ॥

अत्रोत्तरोत्तरस्य हर्यादेः पूर्वपूर्वभुजगगिर्यादिविशेषणभावः । इयं चोत्तरोत्तरविशेषणस्य स्थापकत्वापोहकत्वाभ्यां द्विविधा । यदाहुः—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परंपरम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावळी द्विधा ॥

इति । यत्र यथापूर्वं पूर्वपूर्वस्य परं परं उत्तरोत्तरं विशेषणतया स्थाप्यते विधीयते अपोह्यते निषिध्यते वा तत्रैकावळीति तदर्थः ॥

यथा—

स बुधो यस्तु विवेकी स विवेको यस्तु तत्त्व-

संमर्शः । तत्तत्त्वं यत्परमं तत्परमं ब्रह्म भाति यत्परमम् ॥ १४०१ ॥

अत्रोत्तरोत्तरविवेकादिविशेषणानां पूर्वपूर्वबुधादिविशेष्यस्थापकत्वम् ॥

न स मनुजो योऽविद्वान्न स विद्वान्यो न वेद तद्ब्रह्म । न ब्रह्म तद्धृषाद्रौ यन्न परिस्पेन्द्रमावशोरस्कम् ॥ १४०२ ॥

अत्र पूर्वपूर्वस्य मनुजादेर्विशेष्यस्य उत्तरोत्तरमविद्वदादिविशेषणमपोहकम् । यद्यपि स्थापकेऽप्यपोहकत्वं गम्यते यो न विवेकी न स बुध इत्यादि, तथाऽपोहकेऽपि स्थापकत्वं यो विद्वान् स मनुज इत्यादि, तथाऽपि नोपात्तं तदित्यदोषः ॥

पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरं प्रति विशेषणतया गुम्भनं द्वितीय प्रकारः ।

स यथा—

त्वद्विभवज्ञो भीष्मस्तज्जननी जगदिदं पवित्रयति । तद्दयिते त्वं शयितो गुणास्तवाच्युत नृणां प्रियंकरणाः ॥ १४०३ ॥

यथावा—

लक्ष्म्या विभाति भगवांस्तेनाहिगिरिश्च भवति शेखरितः । तेन द्रामिडा रम्यास्तैरेतद्भूषितं भरतखण्डम् ॥ १४०४ ॥

द्रमिडानां निवासो जनपदः द्रामिडाः । 'सोऽस्य निवासः' इत्यणो 'जनपदे लुप्' इति लुपि युक्तवल्लिङ्गवचने ॥ अत्राद्ये पूर्वपूर्वस्य भीष्मादेरुत्तरोत्तरगङ्गादिकं प्रति विशेषणभावः । द्वितीये लक्ष्म्यादेर्भगवदादिकं प्रतीति ध्येयम् ॥

इत्यलंकारमणिहारे एकावलीसरः एकोनपञ्चाशः.

---

अत्रेदमवधेयम्—अस्मिन्नेकावल्या द्वितीयभेदे पूर्वपूर्वैः परस्य परस्योपकारः क्रियमाणो यद्येकरूपस्स्यात् तदा अयमेव मालादीपकतया व्यवह्रियते प्राचीनैः । यथाच लक्षितं तैः—

मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

इति । आद्यं दीपकमित्यर्थः । तत्र मालाशब्देन शृङ्खलोच्यते । दीपकशब्देन दीप इवेति व्युत्पत्त्या एकदेशस्थं सर्वोपकारकमुच्यते । तेनैकदेशस्थसर्वोपकारकक्रियादिशालिनी शृङ्खलेति पदद्वयार्थः । एवं च दीपकालंकारप्रकरणे प्राचीनैरस्य लक्षणाद्दीपकविशेषोऽयमिति न भ्रमितव्यं, तस्य सादृश्यगर्भतायास्सकलालंकारिकसंप्रतिपन्नत्वात् । इह च शृङ्खलावयवानां पदानां सादृश्यमेव नास्तीति कथंकारं दीपकतावाचोयुक्तिं श्रद्दधेमहि, तेषां प्रकृताप्रकृतात्मकत्वविरहाच्चेत्याहुः ॥ वस्तुतस्तु—एकस्यैव धर्मस्य वाक्यान्तरेष्वप्यन्वयमात्रेण दीपकसादृश्याद्दीपकमित्यनुपदमेव वक्ष्यमाणरीत्या विच्छित्तिविशेषसद्भावान्मालादीपकस्य पृथगलंकारतैव युक्ता । अन्यथा शृङ्खलारूपालंकारभेदानां कारणमालादीनामपि यत्किंचिद्विच्छित्तिविशेषशालितया पृथगलंकारताभ्युपगमोऽप्ययुक्त एव स्यादिति परे । अत एव सर्वस्वकृताऽप्यस्मिन्नेव प्रकरणे अयमलंकारः पृथग्लक्षितः 'पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम्' इति ।

यद्यपि प्राचीनैरेतद्दीपनमात्रानुगुण्याद्दीपकानन्तरं लक्षितम् । शृङ्खलामूलत्वेन विशिष्टस्य चारुत्वमित्यस्मिन्नेव प्रकरणे लक्षितं सर्वस्वकुवलयानन्दकारादिभिरिति ॥

---

## अथ मालादीपकसरः. (५०)

मालादीपकमेतत्स्याद्दीपकैकावळीयुतेः ॥

युतेः योगात् । एकधर्मान्वयस्य गृहीतमुक्तरीतेश्च मेळनात् मालादीपकं नामालंकारः । एकस्यैव धर्मस्य वाक्यान्तरेष्वप्यन्वयमात्रेण दीपकसादृश्याद्दीपकं, न तु प्रागुक्तदीपकालंकारः, प्रकृताप्रकृतानामौपम्यस्य गम्यतायामेव तदवतारात् ॥

यथा—

हारः कौस्तुभमणिना सोऽपि भवद्वक्षसा तदपि लक्ष्म्या । साऽपि भवता भवानपि सौशील्याद्यैर्गुणैरुपस्क्रियते ॥ १४०५ ॥

उपस्क्रियते अलंक्रियते । उपपूर्वकात्कृञः कर्मणि लट् । 'उपात्प्रतियत्न' इत्यादिना प्रतियत्नार्थे कृञस्सुट् । प्रतियत्नो गुणाधानम् । अत्र उपस्क्रियत इत्येकमेव पदं हारः कौस्तुभमणिना उपस्क्रियते सोऽपि भवद्वक्षसा उपस्क्रियत इत्येवं सर्ववाक्यान्वयीति दीपकसादृश्याद्दीपकम् । गृहीतमुक्तरीतिसद्भावादेकावळीति दीपकैकावळीयोगः ॥

यथावा—

रुद्राश्रिता दिविषदो रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितो भगवन् । ब्रह्मा त्वामाश्रित इह न त्वं श्रयसे कदाचिदपि कमपि ॥ १४०६ ॥

इदमावृत्तिदीपकैकावळीयोगलक्षणं मालादीपकमिति पूर्वोदाहरणाद्विशेषः । अत्र—

रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः ।
ब्रह्मा मामाश्रितो राजन्नाहं कंचिदुपाश्रितः ॥

इति महाभारतीयभगवद्वचनार्थोऽनुसंहितः ॥

इत्यलंकारमणिहारे मालादीपकसरः पञ्चाशः

---

श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य सिंहासन ज्ञानमंदिरम् जंगमवाडी मठ काशी

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.
Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc. No. ......1684